कविवर बिहारी

लेखक

स्वर्गीय श्री जगन्नाथ दास 'रत्नाकर'

सम्पादक

श्री रामकृष्ण एम० ए०

ग्रन्थ-कार

पुस्तक प्रकाशक और विक्रेता

शिवाला, बनारस।

[प्रथम संस्करण] [जुलाई १९५३

प्रकाशक

ग्रन्थ-कार

पुस्तक प्रकाशक और विक्रेता

शिवाला, बनारस।

मूल्य छः रुपये

अनुक्रमणिका

पहला प्रकरण

विषय-प्रवेश

दूसरा प्रकरण

भाषा का संक्षिप्त इतिहास

विषय — पृष्ठ

तीसरा प्रकरण

साहित्यिक ब्रजभाषा और विहारी की भाषा

चौथा प्रकरण

बिहारी का काव्यत्व

पाँचवाँ प्रकरण

सतसई के क्रम

छठा प्रकरण

विहारी सतसई की टीकाएँ

विषय | पृष्ठ

सातवाँ प्रकरण

बिहारी की जीवनी

दो शब्द

रत्नाकर जी की इच्छा थी कि बिहारी के भाषा-परिमार्जन एवं काव्यत्व-गुण की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए एक सम्यक् समालोचना प्रस्तुत की जाय। सतसई के दोहों के पाठ, बोधव्य, अर्थ इत्यादि के सम्बन्ध में विद्वानों में इतना अधिक मतभेद था कि बिहारी के वास्तविक गुणों का ठीक ठीक परिचय पाना कठिन हो गया था। जिन सिद्धान्तों के आधार पर रत्नाकर जी ने बिहारी-सतसई की टीका लिखी थी उन्हें भी सतर्क स्पष्ट करना आवश्यक था। 'बिहारी-रत्नाकर' का प्रणयन कर लेने के अनन्तर वे इस ओर प्रवृत्त भी हुए। करीब करीब पूरा ग्रन्थ उन्होंने लिख भी लिया था, परन्तु इसके जिस स्वरूप की कल्पना उनके मन में थी उसे वे, अचानक स्वर्गवास हो जाने के कारण, पूरी न कर सके। पहले तो उनका विचार था कि 'बिहारी-रत्नाकर की भूमिका' के रूप में इस प्रबन्ध को उक्त ग्रन्थ के साथ ही प्रकाशित कर दिया जाय, परन्तु लेख का विस्तार अधिक हो जाने के कारण इसे स्वतन्त्र पुस्तक के रूप में ही प्रकाशित करने का निश्चय किया। किसी पूर्वनियोजित क्रम के बिना ही रत्नाकर जी ने इसका लिखना आरम्भ किया और समय समय पर विषय के विभिन्न अंगों पर लिखते रहे। इसके कुछ अंश नागरी प्रचारिणी-पत्रिका के विभिन्न अंकों में प्रकाशित भी हो चुके हैं। खेद है, इस समस्त ग्रन्थ को उनके जीवन काल में प्रकाशित होने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हो सका।

प्रायः तीन वर्ष हुए, मुझे अपने घर के पुस्तकालय में यह सारी सामग्री विभिन्न रजिस्टरों में लिखी हुई मिली। इसके प्रकरणों के भेद तथा शीर्षकों आदि के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट निर्देश नहीं था। छकों के प्रमाद से कहीं कहीं कुछ वाक्य छूट गए थे या उनका विन्यास ही अशुद्ध था। रत्नाकर जी को इन सबको एक नज़र देखने और उनका सुधार करने का

अवसर ही नहीं मिला। यह कार्य मुझे ही करना पड़ा। समस्त प्रबन्ध में सुसम्बद्धता ले आने के निमित्त कहीं कहीं मुझे कई पंक्तियाँ अथवा छोटे छोटे पैराग्राफ भी अपनी ओर से जोड़ने पड़े हैं। परन्तु इसका पूरा ध्यान रक्खा गया है कि रत्नाकर जी की भाषा और शैली का स्वरूप सुरक्षित रहे। प्रकरणों के शीर्षक एवं उपशीर्षक लगाने की धृष्टता भी मैंने की है।

विषय के अनुरोध से समस्त प्रबन्ध को सात प्रकरणों में विभक्त किया है। पहले प्रकरण में बिहारी की लोकप्रियता, तत्कालीन भारत की राजनीतिक परिस्थिति, लोक-रुचि आदि विषय एवं दोहा छंद का विस्तृत विवेचन है। दूसरे प्रकरण में भाषा का संक्षिप्त इतिहास एवं उसके विकास की अवस्थाओं का वर्णन करके ब्रजभाषा का उद्भव दिखलाया गया है। तीसरा प्रकरण ब्रज-भाषा का व्याकरण है। चौथे प्रकरण में 'काव्य' की सामान्य विवेचना करके बिहारी के काव्यत्व-गुण पर प्रकाश डाला गया है। पाँचवें प्रकरण में बिहारी-सतसई के क्रम का विवरण है। छठा प्रकरण बिहारी-सतसई पर आज तक हुई समस्त टीकाओं का विस्तृत इतिहास है। सातवें प्रकरण में बिहारी की जीवनी है।

यदि रत्नाकर जी जीवित होते तो अपनी इस पुस्तक का क्या नामकरण करते यह कहना तो कठिन है. कारण, उन्हों ने इसे 'बिहारी-रत्नाकर की भूमिका' शीर्षक से लिखना प्रारम्भ किया था, किन्तु मैंने यथा बुद्धि, इसे 'कविवर बिहारी' की संज्ञा दी है। प्रसन्नता का विषय है कि इक्कीस बाइस वर्षों तक अप्रकाशित पड़ा रहने के बाद यह ग्रन्थ अब प्रकाश में आ रहा है।

आचार्य डाक्टर हजारीप्रसाद जी द्विवेदी का मैं बड़ा कृतज्ञ हूँ। अत्य-धिक कार्य व्यस्त रहने पर भी, मेरा अनुरोध रख कर, आपने इस ग्रन्थ की भूमिका लिखी है।

रत्नाकर-भवन,
शिवाला, बनारस।
१५ जुलाई १९५२

रामकृष्ण

भूमिका

स्वर्गीय रत्नाकर जी ने बिहारी की सतसई की टीका लिखते समय कई दृष्टियों से इस ग्रंथ के अध्ययन का प्रयत्न किया था। सच बात तो यह है कि उन्होंने बिहारी सतसई को मथ डाला था। उनके उस परिश्रम का फल कई महत्वपूर्ण निबंधों में प्रकट हुआ है। उन्हीं निबंधों का संग्रह 'कविवर बिहारी' नाम से प्रकाशित हो रहा है। यह एक प्रकार से बिहारी-रत्नाकर की भूमिका है।

रत्नाकर जी ब्रजभाषा के अन्तिम श्रेष्ठ कवि थे। रीतिकाल के शृंगारी कवियों के बारे में यह धारणा बना ली गई है कि ये लोग दरबारी कवि थे और इसीलिये उनकी विद्या-बुद्धि आश्रयदाताओं को प्रसन्न रखने तक ही सीमित थी। परन्तु यह धारणा सर्वथा सही नहीं है। रीतिकाल के अच्छे कवियों का अध्ययन पर्याप्त रूप में गंभीर और व्यापक हुआ करता था। तत्काल प्रचलित काव्यशास्त्रीय परंपरा से वे पूर्णरूप से परिचित थे। यद्यपि उन्होंने यह मान-सा लिया था कि शास्त्रीय ज्ञान पहले से ही चरम परिणति तक पहुँच चुका है इसलिये निष्ठापूर्वक उसका अनुगमन और यथाशक्ति उसका प्रचार करना ही उनका कर्तव्य है तथापि वे यदा कदा बँधे बँधाए मार्ग से थोड़ा अलग हटने का साहस भी रखते थे। यद्यपि बहुत कम कवियों में स्वतंत्र उद्भावना शक्ति का पता लगता है तथापि उनके पिंगल, अलंकार, रस, आदि के गंभीर अध्ययन की बात अस्वीकार नहीं की जा सकती। 'रत्नाकर' जी इन्हीं श्रेष्ठ कवियों की परंपरा के अन्तिम रत्न थे। परन्तु जब हम कहते हैं कि रत्नाकर जी ब्रजभाषा के श्रेष्ठ कवियों की परंपरा में पड़ते हैं तो हमारा मतलब केवल यही नहीं होता कि वे उन कवियों के समान सरस काव्य रचना कर सकते थे बल्कि यह भी होता है कि उनका अध्ययन उसी प्रकार व्यापक और गंभीर था। उन्होंने काव्यशास्त्र का सभी

दृष्टियों से मंथन किया था, उनका पिंगल और व्याकरण शास्त्र पर पूर्ण अधिकार था और वे भाषा की सुकुमारता का पूर्ण विवेक रखते थे। इसके अतिरिक्त वे आधुनिक ऐतिहासिक पद्धति और नवीन भाषा-विज्ञान के नियमों के भी ज्ञाता थे। इस बात ने उन्हें अन्य ब्रजभाषा कवियों से विशिष्ट बना दिया है। 'कविवर बिहारी' में रत्नाकर जी का प्राचीन काव्य-शास्त्रीय ज्ञान ही नहीं प्रकट हुआ है, आधुनिक पद्धतियों पर अधिकार भी स्पष्ट हुआ है।

बिहारी अपने काल के असाधारण कवि थे। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती मुक्तक काव्य का गंभीर अध्ययन किया था। मैंने अन्यत्र दिखाया है कि बिहारी दीर्घकालसे चली आती हुई एक विशाल साहित्यिक परंपरा के लगभग अन्तिम छोर पर पड़ते हैं। तीन पुराने ग्रंथ उन्हें बहुत प्रिय जान पड़ते हैं—हाल की गाथा सप्तशती, अमरुक का शतक और गोवर्धन की आर्या सप्तशती। इनके अतिरिक्त भी संस्कृत-प्राकृत के अनेक मुक्तक-कोशों का बिहारी ने अध्ययन किया था। परंपरा की इतनी बड़ी विरासत पाने के कारण बिहारी की उक्तियों में वैदग्ध्य की मात्रा अधिक है और सहजभाव कम। वे पुरानी उक्तियों को अधिक परिमार्जित, अधिक वक्र और अधिक व्यंग्यात्मक बनाने का प्रयास करते थे। इस 'प्रयास' के कारण उसमें सहजभाव कम हो गया है और वक्रिमत्वव्यापिनी मादक भंगिमा अधिक। उनकी कविता उस नायिका की भाँति ही हो गई है जो शोभा के भार से सीधे पैर नहीं रख सकती थी—'सूधो पाँय न धर परत शोभा ही के भार!' ऐसे कवि के अध्ययन के लिये परंपरा का व्यापक ज्ञान और भाषा की वक्रिमत्वव्यापिनी शक्ति का निपुण विवेक आवश्यक है। जो प्राचीन साहित्य की खबर नहीं रखता और काव्यशास्त्र की तत्काल प्रचलित मान्यताओं को नहीं जानता वह बिहारी सतसई का अच्छा विद्यार्थी नहीं हो सकता। रत्नाकर जी ने बड़ी योग्यता के साथ इस कर्तव्य को निभाया है। उन्होंने पुराने काव्यशास्त्र का, और मध्यकालीन काव्य परंपरा का भी, अच्छा अध्ययन किया था। बिहारी सतसई को उस परंपरा और शास्त्रीय मान्यता के भीतर

से उन्होंने परखने का प्रयत्न किया है। छंदों की दृष्टि से, व्याकरण की दृष्टि से, काव्यशास्त्र की दृष्टि से और पाठशोधन की नवीन पद्धति की दृष्टि से उनका अध्ययन बहुत ही महत्त्वपूर्ण हुआ है। उनकी पांडित्यपूर्ण विवेचना-शक्ति और युक्तिसंगत पाठ निर्णय के विवेक को देखकर चकित होना पड़ता है। सब जगह उनसे सहमत होना कठिन होता है परन्तु उनकी धीर विवेचन शैली और निस्संग आलोचना पद्धति से कोई असहमत नहीं हो सकता। विवेचना-प्रसंग में उनमें कहीं भी न तो किसी प्रकार की वैयक्तिक-आसक्ति और भावावेश दिखाई देता है न तरलमति आलोचक की उतावली। अपने निष्कर्षों को वे सावधानी से उपस्थित करते हैं और यदि कहीं परपक्ष की संभावना बनी रह जाती है तो निस्संकोच उसका संकेत कर देते हैं।

रत्नाकर जी ने इस पुस्तक में भाषा की विवेचना करते समय एक महत्त्वपूर्ण बात यह कही है कि पृथ्वीराज रासो की भाषा 'षड्भाषा' है। "जिस भाषा को चंद ने राष्ट्रीय साहित्यिक भाषा कहलाने का गौरव प्रदान किया वह छ भाषाओं—संस्कृत, प्राकृत, राष्ट्रीय, अपभ्रंश तथा तीनों प्रदेशों (पिशाच, शूरसेन, मगध) की तत्सामयिक प्रचलित भाषाओं—के मेल से बनी थी। अतः षड्भाषा कहलाती थी।" इस शब्द का प्रयोग उन्होंने चंद की उस प्रसिद्ध उक्ति के आधार पर किया है जिसमें कहा गया है कि 'षड्भाषा पुराणं च कुरानं कथितं मया।' आगे चलकर उन्होंने बताया है कि "उक्त षड्भाषा में मेल तो यद्यपि छओ भाषाओं के शब्दों का होता था तथापि क्रियाओं के रूप राष्ट्रीय अपभ्रंश की भाँति शौरसेनी भाषा ही के रखे जाते थे।" षड्भाषा शब्द का यह नया अर्थ थोड़ा-बहुत त्रिविक्रम और लक्ष्मीधर के अर्थ से मेल खाता है परन्तु परवर्ती भाषा शास्त्रियों के मत से विशिष्ट है। यह संभवतः रत्नाकरजी की अपनी उद्भावना है। यद्यपि संपूर्ण विवेचन में बहुत कुछ ऐसी बातें हैं जिनका इन दिनों विशेष महत्त्व नहीं रह गया है तथापि इसमें ऐसी बातें अनेक हैं जो आज भी सोचने की प्रेरणा देती हैं। रत्नाकर जी का यह नाम करण (षड्भाषा) भी काफी महत्त्वपूर्ण

है। यह ध्यान देने की बात है कि रत्नाकर जी ने बहुत पहले इस भाषा के क्रियापदों के शौरसेनी होने की बात कही थी। आज भी कुछ लोग इस भ्रान्त धारणा के शिकार हैं कि रासो की भाषा डिंगल है।

इस पुस्तक में रत्नाकर जी ने ब्रजभाषा के व्याकरण का बड़ा सुन्दर विवेचन किया है। प्रधान रूप से साहित्यिक ग्रन्थों के प्रयोगों को उन्होंने अपने विश्लेषण का विषय बनाया है, और उन रूपों को खोज निकालने का प्रयत्न किया है, जिन्हें बिहारी ने परिनिष्ठित रूप देने का प्रयत्न किया था। यद्यपि बिहारी ने कहीं स्पष्ट रूप से इन परिनिष्ठित रूपों के संबन्ध में कोई बात नही कही; तथापि रत्नाकर जी ने इन्हें दृढ़ता के साथ बिहारी सम्मत प्रयोग मानकर पाठ संशोधन किया है। उन्होंने लिखा है कि "खेद का विषय है कि उन्होंने (बिहारी ने) अपनी स्वीकृत भाषा के निमित्त जो नियमावलियाँ अपने हृदय में निर्धारित की थीं, उनका उल्लेख नहीं कर दिया। यदि वे ऐसा कर जाते तो साहित्यिक-ब्रजभाषा का एक बड़ा सुन्दर और उपयोगी व्याकरण उपस्थित हो जाता।" अस्तु, जो बात बिहारी के मन में थी, उसे रत्नाकरजी ने बड़े परिश्रम के साथ खोज निकालने का प्रयत्न किया है और इस प्रयत्न पर दृढ़ आस्था रखकर बिहारी-सतसई के पाठों का संशोधन किया है। उन्होंने इस प्रसंग में अपने पाठकों को आश्वासन दिया था कि साहित्यिक ब्रजभाषा का स्वतंत्र व्याकरण प्रस्तुत करेंगे। यह कार्य हिन्दी-साहित्य के दुर्भाग्य वश नहीं हो सका, परन्तु इस पुस्तक में इसकी जो रूप-रेखा प्रस्तुत की गई है, वह निरसंदेह भावी व्याकरण लेखक को प्रेरणा और सहायता देगी।

जहाँ तक बिहारी द्वारा निर्धारित परिनिष्ठित रूपों का प्रश्न है रत्नाकर जी का मत अधिकांश में ग्रहणीय है परन्तु कुछ स्थलों में उसमें और अधिक खोज की आवश्यकता बनी हुई है।

रत्नाकर जी ने बिहारी सतसई की टीकाओं का बहुत विस्तृत और क्रम-बद्ध परिचय दिया है। इन टीकाओं से बिहारी की लोक-प्रियता का पता

चलता है। निस्सन्देह बिहारी रीति काल के सर्वाधिक लोक प्रिय कवि थे, आधुनिक काल में भी, जब कि रीति परम्परा अंतिम साँस ले रही थी, बिहारी के दोहे सहृदय साहित्यिकों के आकर्षण-केन्द्र बने रहे। आधुनिक काल के अनेक समालोचकों ने सतसई की टीका और भाष्य लिखकर बिहारी सम्बन्धी चर्चा को अग्रसर किया है।

वस्तुतः ही बिहारी के दोहों में इतना सुन्दर वाग्वैदग्ध्य है कि सहृदय आलोचक उसपर मुग्ध हुए बिना नहीं रह सकता। मैंने दिखाया है कि बिहारी सचेत कलाकार थे, जो शब्द और उनके अर्थों पर विचार करते रहने वाले और प्रयुक्त शब्द बाह्य जगत में जिस रूप को अभिव्यक्त करते हैं, उसे मन ही मन समझते और तोलते रहने वाले कवियों की श्रेणी में पड़ते हैं। शृंगार-रस की अभिव्यञ्जना के समय ऐसे कवि रसोद्दीपन-परक चेष्टाओं की पूरी मूर्ति ध्यान में रखते हैं। वे प्रिया की शोभा, दीप्ति और कान्ति के साथ-साथ माधुर्य, औदार्य आदि मानस गुणों को भी जब व्यक्त करना चाहते हैं, तो उन आंगिक और वाचिक चेष्टाओं का चित्र खींचते हैं, जो तत्तद् मानसिक गुणों की व्यंजना करने में समर्थ होती हैं। वे अनेक प्रकार के हावों, हेलाओं, कुट्टमित-मोट्टायित-बिब्बोकों और अनुभावों की योजना का आयोजन करते हैं। बिहारी इस कला में अत्यंत पटु हैं। रीतिकाल के कवियों में सौंदर्य को मादक बनाकर उपभोग्य बनाने की प्रवृत्ति बलवती है। छन्द, अलंकार, लय और झंकार के सहारे ये कवि सहज सौंदर्य को भी मादक बना देते हैं। बिहारी इस दिशा में भी सबसे आगे हैं। इसलिये ऐसे कवि का अध्ययन बहुत कठिन हो जाता है। जो शोभा और सौंदर्य को मादक बनाने वाली काव्य-पद्धति का निपुण विवेचक नहीं है, और शब्द और अर्थ के विविध सुकुमार संबन्धों का जानकार नहीं है वह बिहारी जैसे सजग कलाकार कवि के काव्य-गुणों से बहुत कुछ वंचित रह जाता है। रत्नाकर जी ने इस पुस्तक में काव्य-गुणों की और शब्द और अर्थों की बहुत संक्षिप्त विवेचना कर दी है।

इस प्रकार यह पुस्तक बिहारी के अध्ययन के लिये अत्यन्त उपयोगी सामग्री से परिपूर्ण है। स्व० रत्नाकरजी के सुयोग्य पौत्र श्री रामकृष्णजी ने इस पुस्तक का संपादन और प्रकाशन करके हिंदी-साहित्य को एक अमूल्य ग्रंथ भेंट किया है। वे सभी सहृदयों के बधाई के पात्र हैं।

हजारी प्रसाद द्विवेदी

काशी विश्वविद्यालय
रथयात्रा, २०१० वि०

कविवर-बिहारी

पहला प्रकरण

विषय-प्रवेश

ब्रजभाषा के कवियों तथा प्रेमियों में ऐसा कोई विरला ही व्यक्ति होगा, जो बिहारी की सतसई से परिचित न हो, या जिसने उसके दो-चार दोहे भी सादर और सप्रेम पढ़-सुन कर हृदय से प्रशंसा न की हो। आज सतसई को बने प्रायः २७५ वर्ष होता आता है तो भी अभी वह परम सन्मान की दृष्टि से देखी जाती है। प्रत्युत इधर कुछ दिनों से खड़ी बोली के प्रेमियों द्वारा भी उसका विशेष आदर होने लगा है। उसके सौष्ठव से सम्मोहित होकर अनेक पंडितों तथा सुकवियों ने कदाचित् बिहारी के समय में ही उस पर अनेक टीका-टिप्पणियों का करना आरम्भ कर दिया था, जो अब तक होती ही जाती हैं। उसके अर्थ-गाम्भीर्य तथा भाव-भव्यता का इतना ही प्रमाण पर्याप्त है कि आज तक जितनी टीकाएँ उस पर हो चुकी हैं उतनी कदाचित् श्री तुलसीदास जी के रामचरित-मानस को छोड़कर भाषा के अन्य किसी ग्रन्थ पर नहीं हुई हैं। प्रत्युत संस्कृत के भी दो-चार ही ग्रंथों को इतनी टीकाओं से विभूषित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ होगा।

वास्तव में बिहारी के दोहे ऐसे ही श्रेष्ठ तथा काव्य-गुण-गण सम्पन्न हैं कि उनकी जहाँ तक प्रशंसा की जाय, अत्युक्ति न होगी और लोग उन पर

जहाँ तक रीझें, थोड़ा है। उनकी भाषा भव्य, भाव अनूठे तथा रचना-प्रणाली निराली है। कितने ही लोगों ने वैसे ही दोहे बनाने तथा सतसई के दोहों में जोड़ लगाने का प्रयत्न किया पर उनके बाँटे न तो वह ख्याति ही आई और न आदर ही।

बिहारी-सतसई के इतने आदर तथा ख्याति का कारण कोई कोई उस समय के राजाओं महाराजाओं तथा अन्य कमला-कृपापात्रों की रुचि के ढलाव का भोग-विलास तथा शृंगार रस की ओर होना समझते हैं। पर यह उनकी कल्पना मात्र है, समयानुसार रुचिरंजिनी कविता को स्थायी सुयश नहीं प्राप्त होता। उस समय भी सुन्दर, सेनापति इत्यादि अनेक उच्च श्रेणी के शृंगारी कवि विद्यमान थे, पर यह आदर उनमें से किसी के ग्रन्थ को प्राप्त नहीं हुआ और बिहारी की सतसई इस समय भी, जब कि शिक्षित-समाज शृंगार की कविता को घृणास्पद समझता है, अपना गौरव बढ़ाती ही जाती है। मतिराम का यह वाक्य बिहारी के दोहों पर पूर्णतया घटता है—

ज्यौं ज्यौं निहारिये नेरे ह्वै नैननि,
त्यौं त्यौं खरी निखरै सी निकाई।

अभिप्राय यह कि शृंगार रस अथवा अन्य किसी रस तथा भाव से स्वतन्त्र ही सतसई में कुछ ऐसे गुण हैं जो अपनी प्रशंसा आप ही करा लेते, और विद्युत्प्रभा की भाँति अपना प्रकाश आप ही फैला देते हैं। ये गुण क्या हैं यह बात विचारणीय है। इस बात की जाँच के निमित्त पहले यह समझ लेना चाहिए कि कविता क्या पदार्थ है और उसमें ऐसा कौन गुण मुख्य है जो उसको अपनी जाति के अन्य पदार्थों से भिन्न कर देता है, तथा जिसका न्यूनाधिक्य उसके उत्कर्ष में तारतम्य का कारण होता है, अर्थात् काव्य का लक्षण क्या है? इस बात के निर्धारण के पश्चात् यह विचारना चाहिए कि यह निर्धारित गुण बिहारी की कविता में किस श्रेणी तक उपलब्ध है जिसके कारण वह ऐसी लोकप्रिय तथा अमरकीर्तिकारिणी हो रही है।

यह बात तो सर्वमान्य तथा युक्तियुक्त है कि काव्य एक प्रकार का वाक्य ही है। अतः इस विषय में विशेष लिखना अनावश्यक है। अब 'सामान्य वाक्य' तथा काव्य में जो मुख्य भेद है वह हम अपने मतानुसार संक्षेपतः निवेदित करते हैं। सामान्य अर्थात् काव्यातिरिक्त वाक्यों का उद्देश्य श्रोता को किसी वस्तु, घटना अथवा वृत्तान्त आदि का बोध करा देना मात्र होता है। उस वाक्य से यदि श्रोता को किसी प्रकार का हर्ष अथवा विषाद उत्पन्न होता है तो उस वर्ण्य विषय के उसके निमित्त प्रिय अथवा अप्रिय होने के कारण वह हर्ष अथवा विषाद लौकिक मात्र होता है, अर्थात् श्रोता अथवा उसके पक्ष के लोगों के उससे लौकिक तथा व्यक्तिगत-इष्टानिष्ट सम्बन्ध के कारण होता है, जैसे—'रावण मारा गया' इस वाक्य से राम के पक्षवालों को हर्ष तथा मंदोदरी आदि को विषाद सम्भावित है। काव्य वाक्य का उद्देश्य, वर्णन-वैदग्ध्य तथा वाक्पटुतादि के द्वारा श्रोताओं के हृदय में एक विशेष प्रकार का आनन्दोत्पादन होता है। वह आनन्द वर्णित विषय-जनित हर्ष विषाद से कुछ पृथक् ही होता है। उसको साहित्यकारों ने 'अलौकिक' माना है, अर्थात् वह वर्णित विषय से श्रोता के इष्टानिष्ट सम्बन्ध के कारण नहीं होता। वह कवि के द्वारा किसी विषय को एक विशेष प्रकार से वर्णित करने के कारण सहृदय श्रोता के हृदय में उत्पन्न होता है। इसी अलौकिक आह्लाद-जनक-ज्ञानगोचरता को पंडितराज जगन्नाथ ने 'रमणीयता' कहा है। वाक्य में उक्त रमणीयता के लाने के भिन्न भिन्न साधन तथा भिन्न भिन्न लक्षण स्वीकृत किये गए हैं। किसी आचार्य ने अलंकार, किसी ने रीति, किसी ने रस, किसी ने वक्रोक्ति तथा किसी ने ध्वनि को काव्य के मुख्य लक्षण में परिगणित किया है। हमारी समझ में ये सब अलग अलग अथवा मिल जुल कर रमणीयता लाने की मुख्य निर्दिष्ट सामग्री मात्र हैं। वाक्य को रमणीय बनाने का मुख्य कारण कवि की प्रतिभा होती है, जिसके द्वारा वह इन अथवा इनके अतिरिक्त अन्य किसी अनिर्दिष्ट सामग्री का सदुपयोग करके

काव्य क्या है

वाक्य को रमणीय अर्थात् काव्य बना देता है। यदि कोई रचयिता प्रतिभा-शून्य हो तो सम्भव है कि इन सब सामग्रियों के उपस्थित होते भी उसके वाक्य में रमणीयता न आवे। इसी प्रकार यह भी सम्भव है कि इन सब सामग्रियों की अनुपस्थिति में भी कोई प्रतिभाशाली कवि अपने वर्णन-वैचित्र्य से किसी अन्य ही ढंग की रमणीयता वाक्य में उत्पन्न करके उसको काव्यत्व-पदवी का अधिकारी बना दे। काव्यत्व के विषय में वस्तुतः उसकी सामग्रियों का निश्चित रूप से निर्दिष्ट कर देना बड़ा ही दुःसाध्य कार्य है और न यही दृढ़तापूर्वक कहा जा सकता है कि अमुक सामग्री के बिना काव्य सर्वथा असम्भव ही है। अतः काव्य के लक्षण में किसी सामग्री अथवा सामग्रियों का कथन न करके उसको केवल रमणीयतावच्छिन्न वाक्य मानना समीचीन प्रतीत होता है, और अलंकार, रीति इत्यादि को रमणीयता उत्पादन की निर्दिष्ट सामग्री विशेष मानना युक्तियुक्त है, जिनका अपनी प्रतिभा द्वारा कवि काव्य में सदुपयोग करता है।

उपर्युक्त कथन का यह निष्कर्ष है कि काव्य के निमित्त तीन बातें आवश्यक हैं। एक तो उसका वाक्य होना और दूसरे उसका रमणीयता-गुण से सम्पन्न होना। इनके अतिरिक्त कवि को अपनी रचना आरम्भ करने के पूर्व किसी विषय को भी चुन लेना पड़ता है, क्योंकि चाहे काव्यातिरिक्त वाक्य हो अथवा काव्य-वाक्य उसमें किसी न किसी विषय का कथन अवश्य होता है। अब (बिहारी की सतसई के सम्बन्ध में भी) इन तीनों बातों—१.विषय, २. वाक्य तथा ३. रमणीयता के सौष्ठव का पृथक् पृथक् विचार किया जाता है।

वर्णनीय विषय का चुनाव

यद्यपि काव्य-वाक्य की रमणीयता वर्णित विषय की रोचकता से भिन्न तथा स्वतन्त्र ही पदार्थ है, तथापि विषय की रोचकता से भी पाठकों का मनोरंजन अवश्य होता है, जिसके कारण वर्णित विषय के रुचि-अनुकूल होने से पाठकों को उस काव्य में कुछ विशेष आनन्द सम्भावित है, अर्थात् विषय की रोचकता काव्य की रमणीयता की

सखी की भाँति सहायक होती है। अतः कवि को अपने काव्य में वर्णन करने के निमित्त मानव-प्रकृति तथा समाज-रुचि के अनुसार विषय चुन लेना होता है। जो कवि जितनी चातुरी तथा सूक्ष्म दृष्टि से अपना वर्णनीय विषय चुनता है उसके काव्य में उतनी ही विषय-रोचकता आती है।

कोई कोई विषय ऐसे होते हैं जो मानव-प्रकृति के अनुकूल होने के कारण सर्व काल में तथा अखिल मानव-जाति के निमित्त रोचक होते हैं, और कोई कोई ऐसे जिनकी रोचकता देश, काल अथवा सामाजिकों की मनोवृत्ति की विशेषता पर निर्भर होती है। जिस विषय की रोचकता देश, काल तथा समाज के सम्बन्ध से जितनी अधिक व्याप्त होती है उसका वर्णन उतना ही अधिक प्रचलित तथा स्थायी होता है।

शृंगार रस, भगवद्भक्ति, सच्चाप्रेम तथा सदुपदेश इत्यादि विषयों की रोचकता सब प्रकार से परम व्याप्त है, अर्थात् ये विषय सदैव तथा सब समाज में रुचिकर होते हैं। अतः हिन्दी साहित्य के मध्यकाल में कवियों ने अपनी कविता के निमित्त प्रायः इन्हीं को चुन लिया था। इनमें से भी अधिकांश कविताएँ (बिहारी के दोहे भी) शृंगार रस विषयक ही हैं। इसका कारण यह है कि शृंगार रस की रोचकता के सामान्यतः व्याप्त होने के अतिरिक्त उस (बिहारी के) समय में कदाचित् उसका वर्णन समाज की रुचि के भी विशेष अनुकूल था।

इस रुच्यनुकूलता का कारण कितने ही लेखकों ने उस समय के धनाढ्यों तथा राजाओं का विषयानुरक्त तथा लम्पट होना निर्धारित किया है। पर हमारी समझ में इसका कारण उनके निर्धारण के विरुद्ध प्रतीत होता है। कैसा ही रुचिकर पदार्थ क्यों न हो पर यदि कोई व्यक्ति उसमें निरन्तर लीन रहे, अथवा वह उसको अति सुलभ हो, तो उसकी ओर उक्त व्यक्ति की उतनी रुचि नहीं रह जाती, प्रत्युत कभी कभी तो उससे अरुचि तक हो जाती है। इसी प्रकार जो लोग बहुत विषयानुरक्त होते हैं उन पर शृंगार रस की कविता का उतना प्रभाव नहीं पड़ता, जितना ऐसे मनुष्य पर जो

चिरकाल तक स्त्री से वंचित रहा हो। यह बहुधा देखने में आता है कि किसी गोष्ठी में सुन्दर स्त्री का वर्णन होने पर सामान्य जन उसको उतने चाव से नहीं सुनते, जितने चाव से, यदि कोई सैनिक वहाँ उपस्थित होता है तो, वह सुनता है। कभी कभी सैनिकों को स्त्री-सम्बन्धी बातें सुनकर कुछ ऐसा आनन्द प्राप्त होता है कि उनके मुख का कुछ रँग-ढँग ही और हो जाता है। इसी प्रकार जो मनुष्य सदा उत्तमोत्तम भोज्यपदार्थों का भोग करता है उसके निमित्त भोजन-सामग्री का वर्णन विशेष रोचक नहीं होता। पर जो मनुष्य भूखा अथवा स्वादिष्ट पदार्थों को तरसा हुआ होता है वह उत्तम भोज्य-सामग्री का वर्णन बड़े चाव से सुनता है, और कभी कभी ऐसे वर्णन से उसके मुँह से लार टपकने लगती है।

अब यह विचारणीय है कि मध्यकाल में राजाओं, महाराजाओं तथा अन्य धनियों की स्थिति कैसी थी। उस समय ये लोग दो प्रकार के थे। एक तो वे जो यवन-सम्राट् (शाहजहाँ) के पक्ष में थे और उनके अधीन हो गए थे—जैसे मिर्ज़ा राजा जयशाह, यशवन्त सिंह आदि—और दूसरे वे जो यवन-साम्राज्य के विरुद्ध थे—जैसे चम्पतिराय बुँदेला, महाराणा उदयपुर आदि। जो लोग (शाहजहाँ के) पक्ष में थे उनको बादशाही सेना के साथ अनेक लड़ाइयों पर जाना पड़ता था, और जो विरुद्ध थे उनको सदैव अपने धर्म, प्राण तथा राज्य बचाने के निमित्त सनद्ध रहना, लड़ना-भिड़ना एवं भागे भागे फिरना पड़ता था। ऐसी दशा में दोनों ही प्रकार के लोगों को सुख चैन की प्राप्ति असम्भव थी। मनुष्य के विषयानुरक्त होने के निमित्त उसका चिन्ता-रहित तथा सुख चैन के अवसरों एवं सामग्रियों से सम्पन्न होना आवश्यक है। अतः उस समय के राजा तथा सामंत विषयासक्त नहीं कहे जा सकते। प्रत्युत उनके विषय में तो यही अनुमान करना समीचीन प्रतीत होता है कि वे शारीरिक तथा मानसिक सुख से विशेषतः वंचित ही रहते थे, और यही कारण था कि उनको शृंगार रस की कविता विशेष रोचक होती थी।

श्रृंगार रस के अतिरिक्त उस समय के हिन्दू समाज की रुचि भगवद्भक्ति तथा नीति की ओर भी कुछ अधिक थी, क्योंकि उस समय उक्त समाज मुसलमानों के अत्याचार तथा आपस की फूट के कारण नैराश्य-दशा में निमग्न हो रहा था, और ऐसी दशा में मनुष्य को ईश्वरावलम्ब तथा नीति-विचार से बड़ा सन्तोष प्राप्त होता है। कारण जो हो, पर यह निश्चित प्रतीत होता है कि श्रृंगार, भगवद्भक्ति तथा नीति की कविता सामान्यतः प्रभावशालिनी होने के अतिरिक्त उस समय के समाज की रुचि के कुछ विशेष अनुकूल भी थी। इसी कारण कवियों ने उक्त विषयों ही पर कविता करना निर्धारित किया।

वर्णनीय विषय का निर्धारण करने के पश्चात् कवि को उक्त विषय को वाक्य में लाना पड़ता है। वाक्य के सम्बन्ध में उसको मुख्यतः तीन बातों पर विचार करना आवश्यक होता है। प्रथम तो यह कि उसका वर्णनीय विषय निबन्ध रूप से कहे जाने के योग्य है अथवा मुक्तक रूप से; दूसरे यह कि उसके निर्धारित विषय का वर्णन गद्य में अच्छा होगा अथवा पद्य में; और तीसरे उसको अपने वाक्य-सौष्ठव पर ध्यान रखना होता है। जो कवि जितनी चातुरी से इन विषयों का निर्धारण तथा निर्वाह कर पाता है उसकी कविता की रमणीयता में उतनी ही अधिक सहायता पहुँचती है। इन तीनों बातों की उत्तमता में बिहारी की सफलता का कुछ विवरण आगे दिया जाता है।

प्रबन्ध अथवा मुक्तक का चुनाव

विषय के विस्तार तथा लाघव के अनुसार वाक्य दो प्रकार के होते हैं—एक निबंध तथा दूसरा मुक्तक। निबन्ध-वाक्य वे कहलाते हैं जिनमें किसी कथा या विषय का श्रृंखलाबद्ध वर्णन होता है, जैसे—रघुवंश, कादम्बरी, रासपञ्चाध्यायी, अमरकोष आदि। ऐसे वाक्यों में अनेक वाक्य सम्मिलित होते हैं और वे परस्पर सम्बन्ध रखते हैं, ऐसे वाक्य काव्य-गुणान्वित होने पर अपने परिमाण तथा वर्णित घटनाओं के अनुसार खण्डकाव्य (मेघदूत),

महाकाव्य (रघुवंश), इत्यादि कहलाते हैं। जब किसी विषय या विषयांश का वर्णन एक ही वाक्य में समाप्त किया जाता है, और उक्त वाक्य के अर्थ अथवा पूर्ति के निमित्त अन्य किसी वाक्य अथवा वाक्यांश की आवश्यकता नहीं रहती तो वह वाक्य, मुक्तक-वाक्य कहलाता है, और ऐसा ही वाक्य काव्यगुण सम्पन्न होने पर मुक्तक-काव्य कहलाता है। जैसे, हाल की गाथाएँ, गोवर्धनाचार्य की आर्याएँ, अमरु तथा भर्तृहरि के श्लोक, बिहारी, वृन्द, खानखाना प्रभृति जनों के दोहे, गिरधर की कुंडलियाँ तथा अनेक कवियों के स्फुट घनाक्षरी, सवैया, छप्पय इत्यादि। जब ऐसे अनेक मुक्तक-काव्य एकत्र करके एक संग्रह बना लिया जाता है तो वह 'कोष-काव्य' कहलाता है, जैसे—गाथासप्तशती, आर्यासप्तशती, अमरु-शतक, भर्तृहरि-शतक त्रय, बिहारी-सतसई, वृन्द-सतसई, रहिमन-शतक, रत्नहजारा, गिरिधर की कुंडलियाँ तथा अन्य अनेक कवित्त, सवैयों आदि के संग्रह।

उपर्युक्त भेद के अनुसार बिहारी के दोहों की गिनती मुक्तक-काव्य में होती है और सतसई 'कोष-काव्य' ठहरती है। बिहारी ने अपनी कविता के निमित्त, जैसा कि ऊपर कहा है, शृंगार रस, भगवद्भक्ति आदि जो विषय चुन लिए थे उनका वर्णन उन्होंने निबन्धों में नहीं किया, प्रत्युत उनकी विशिष्ट घटनाओं अथवा कथनों का सूक्तियों के रूप में कहना उन्होंने अपनी प्रकृति तथा समय के अनुकूल समझा। उनकी प्रकृति किसी घटना अथवा सत्ता का निरीक्षण अथवा अनुभव कर के उसका सूक्ति रूप में चटपट कथन कर देने के विशेष अनुकूल थी। एक ही विषय पर अधिक समय तक चित्त को जमाकर उसको निबन्ध रूप में वर्णन करना उनको सात्म्य न था। इसके अतिरिक्त जयशाह को युद्ध आदि से कदाचित् इतना अवकाश भी न रहा होगा कि किसी बृहद् निबन्ध के सुनने तथा सराहने का अवसर पावें। उस समय के राजाओं का निबन्ध-काव्यों के सुनने का बहुत कम अवसर पाना, कुलपति मिश्र के 'संग्रामसार' के इस दोहे से भी, जो रामसिंह का कथन है, विदित होता है—

'हनि दुरजन निहचिंत हम भए जीति सब देस।
अब कहिये भारत कथा कुलपति भाषा भेस ॥'

इसी कारण उस समय के दरबारी कवि विशेषतः अपनी रचना मुक्तक रूप ही में करते थे, जिसमें उनको वे किंचित् अवकाश में भी एक-एक, दो-दो सुनाकर राजाओं का मनोरंजन कर सकें। बस फिर बिहारी ने भी अपनी कविता के लिए मुक्तक पद्य ही चुना, और हमारी समझ में अपने स्वभाव, समय तथा निर्धारित विषय की दृष्टि से बहुत अच्छा और परम अनुकूल चुनाव किया।

गद्य अथवा पद्य का चुनाव

गति के अनुरोध से वाक्य दो प्रकार के होते हैं, अर्थात् गद्य तथा पद्य, और काव्य के भी ये ही दो भेद होते हैं। गद्य-वाक्य उसको कहते हैं जिसमें मात्रा अथवा वर्ण की संख्या आदि का कोई नियम न हो। इसके चार भेद होते हैं—मुक्तक, वृत्तगन्धि, उत्कलिका-प्राय तथा चूर्णक। इनके लक्षण तथा उदाहरण साहित्य-दर्पण आदि ग्रन्थों में द्रष्टव्य हैं। पद्य-वाक्य उसको कहते हैं जो छन्दोबद्ध होता है। छन्द दो प्रकार के होते हैं—वर्णिक तथा मात्रिक। वर्णिक छन्द वे हैं जिनमें वर्णों का एक परिमित संख्या तथा प्रकार से आने का नियम होता है, जैसे—घनाक्षरी, सवैया, भुजंग-प्रयात, अनुष्टुप, शिखरिणी इत्यादि। मात्रिक छन्द वे हैं जिनका निरूपण मात्राओं की संख्या के द्वारा होता है। उनमें प्रायः स्थान विशेषों पर लघु-गुरु का नियम नहीं होता, जैसे—चौपाई, दोहा, हरिगीतिका, कुण्डलिया, छप्पै इत्यादि। किसी-किसी ऐसे छन्द में भी स्थान विशेषों पर लघु तथा गुरु के आने का नियम होता है, जैसे दोहे के द्वितीय तथा चतुर्थ चरणों के अन्त में 'ताल' अर्थात् एक गुरु तथा एक लघु के आने का नियम माना जाता है। छन्दों का विशेष निरूपण किसी अच्छे पिंगल में द्रष्टव्य है। गद्य तथा पद्य के अतिरिक्त एक प्रकार का काव्य 'चम्पू' भी कहलाता है। इसमें गद्य तथा पद्य दोनों का मिश्रण रहता है। गद्य काव्य की अपेक्षा पद्य काव्य में अन्य

काव्यसामग्री के समान होने पर भी कुछ रोचकता विशेष होती है। जिन लोगों का यह मत है कि छन्दों में स्वयं कोई रोचकता नहीं होती, उनके उत्तर में इतना ही निवेदन है कि लय की रोचकता की साक्षी संगीत से भलीभाँति मिलती है।

गद्य तथा चम्पू वाक्य विशेषतः कथा, आख्यायिका अथवा किसी बड़े विषय के विवरण के अनुकूल होते हैं। पर जिन विषयों को अधिकांश कवियों ने अपने काव्य के निमित्त चुन लिया था, उनके कथन के निमित्त पद्य ही विशेष उपयोगी होता है। अतः उन्होंने अपनी रचना छन्दोबद्ध ही की, और छन्दों में भी कुछ विशिष्ट कवियों ने (विहारी ने) अपने वर्णनीय विषय तथा स्वभाव के अनुकूल दोहा छन्द को समझकर उसी को आदर दिया। यद्यपि विहारी की सतसई में कुछ सोरठे भी सन्निविष्ट हैं तथापि वह दोहों की ही सतसई कहलाती है। कारण, प्रथम तो ७१३ छन्दों में सोरठा केवल आठ ही है, और दूसरे दोहा तथा सोरठा छन्दों में सम तथा विषम चरणों के व्यत्यय मात्र का भेद है। अब हम दोहा तथा सोरठा छन्दों के विषय में कुछ आवश्यक बातें लिखते हैं।

दोहा-लक्षण-विचार

ऊपर जो दो प्रकार के छन्द—वर्णिक तथा मात्रिक—बतलाए गए हैं उनमें से दोहा मात्रिक छन्दों के अन्तर्गत है। मात्रिक छन्द दो प्रकार के होते हैं—समपाद तथा असमपाद। समपाद छन्द वे हैं जिनके चारो चरण एक ही से होते हैं जैसे, बरवै, दोहा, गाहिनी, लक्ष्मी इत्यादि। असमपाद छन्दों में भी दो भेद होते हैं। एक तो वे जिनके दो चरण एक से होते हैं, और दो चरण एक से, जैसे बरवै, दोहा इत्यादि; और दूसरे वे जिनके चारो चरणों की लय तथा मात्रा-संख्या भिन्न भिन्न होती है, जैसे लक्ष्मी, गाहिनी इत्यादि। प्रचलित अर्धसम छन्दों में प्रायः छन्द ऐसे होते हैं जिनके प्रथम तथा द्वितीय चरण मिलकर एक ही से हो जाते हैं, और यही दशा उनके तीसरे तथा चौथे चरणों की भी होती है। ऐसे छन्दों के प्रथम तथा द्वितीय चरण मिलकर

प्रथम 'दल' कहलाते हैं, और तृतीय तथा चतुर्थ चरण मिलकर द्वितीय 'दल' जैसे बरवै, दोहा, सोरठा इत्यादि छन्दों में। उपर्युक्त बातों के अनुसार दोहा मात्रिक छन्दों के भेद में अर्धसम छन्द ठहरता है, जिसके प्रथम दो चरण मिलकर प्रथम 'दल' कहलाते हैं और शेष दो चरण मिलकर द्वितीय 'दल'।

दोहा छन्द के लक्षण जो अब तक के बने ग्रन्थों में मिलते हैं, उनमें से, सूक्ष्म विचार करने पर, कोई भी सम्यक् नहीं ठहरता। किसी में अति व्याप्ति किसी में अव्याप्ति दोष दृष्टिगोचर होता है, तथा किसी में दोनों, जैसे—

आठ तीन द्वै विषम पद बसु बल कल तजि आदि।
इमि सम पद दल दुहुन में दस गन गनत अनादि॥

इस लक्षण में अतिव्याप्ति दोष पड़ता है क्योंकि—

'आज देख्यौ न कान्ह कौं'—

इस वाक्य में यद्यपि १३ मात्राएँ इस लक्षण के अनुसार आई हैं तथापि यह दोहे का विषम चरण नहीं हो सकता फिर—

छक्कल चौकल तीनि कल छक्कल द्वैकल ताल।
षट षट गन यौं दुहुँनि दल दोहा रचत सुढाल॥

इस लक्षण में अव्याप्ति दोष है, क्योंकि—

'आवन कह्यौ न भावतो'

यह वाक्य यद्यपि दोहे के विषम पादों में पूर्णतया खप सकता है तथापि इसमें इस लक्षण के अनुसार ६ मात्राएँ पृथक् नहीं की जा सकतीं क्योंकि ६ ठीं तथा ७ वीं मात्राएँ मिलकर गुरु रूप में आई हैं।

छन्द-प्रभाकर में दोहे के सम्यक् लक्षण कहने का बड़ा प्रयत्न किया गया है तथा उसका लक्षण अन्य लक्षणों से अच्छा भी है, पर उसमें भी कुछ त्रुटियाँ रह गई हैं। प्रथम तो वह लक्षण बहुत घुमा फिरा कर, बड़े बखेड़े के साथ दोहे तथा गद्य में लिखा गया है जिसका स्मरण रखना कठिन है। दूसरे

उसमें अव्याप्तियाँ भी विद्यमान हैं। दोहे में जो बातें कही गई हैं उनसे ग्रन्थकार का अभिप्राय विदित होता है कि दोहे के विषम चरणों के अन्त में स गण (।।ऽ), र गण (ऽ।ऽ), अथवा न गण (।।।) का होना आवश्यक है। पर ऐसे दोहे भी देखने में आते हैं जिन के विषम चरणों के अन्त में इन तीनों गणों में से कोई गण नहीं होता, जैसे—

प्रीति रीति रघुनाथ हीं करि जानीं जग माँह।
सीता बस ह्वै लखी नहिँ सीताहू की छाँह॥
(युक्तितरंगिणी)

इस दोहे के तृतीय चरण के अन्त में ऊपर कहे हुए तीनों गणों में से कोई गण न हो कर भ गण (ऽ।।) पड़ा है। ऐसे विषम चरण के दोहे यद्यपि बहुत नहीं देखने में आते तथा उनकी लय भी विशेष रोचक नहीं होती फिर भी होते अवश्य हैं। उक्त ग्रन्थ में जो नियम गद्य में लिखे हैं उनमें से पहले नियम से निर्धारित होता है कि जिस दोहे, के आदि में (।ऽ), (ऽ।) अथवा (।।।) पड़ें उनके प्रथम चरण की मात्राओं की बाँट इस प्रकार होनी चाहिए, ३ + ३ + २ + ३ + २। पर

'बारन बन्यौं बनाव तन सुबरन बलौ बिसाल।
चढ़ियै राज मँगाइ कैं मानौं राजत काल॥'
(कविप्रिया)

ऐसे दोहे में उक्त नियम की अव्याप्ति दिखाई देती है, क्योंकि यद्यपि इसके आदि में (ऽ।) आया है तथापि इसके प्रथम चरण की १३ मात्राओं की बाँट ३ + ३ + २ + ३ + २ इस प्रकार नहीं होती, क्योंकि 'बन्यौं' शब्द के 'न्यौ' में ६ ठी तथा ७ वी मात्राएँ मिलकर गुरु हो जाती हैं।

ऐसी ही ऐसी बातों पर विचार करके हमने सन् १८९४ ईस्वी में

'साहित्य-सुधानिधि' नामक मासिक पत्र में दोहे का एक सम्यक् लक्षण प्रकाशित किया था।[1] जो इस प्रकार है—

आठ तीन द्वै प्रथम पद दूजैं पद वसु ताल।
वसु मैं त्रय पर द्वै न गुरु यह दोहा की चाल॥

यह दोहे के एक 'दल' का लक्षण हुआ। दूसरे 'दल' का भी यही लक्षण समझना चाहिए। इस लक्षण के अनुसार दोहे में सब मिलाकर ४८

---

१. उस लक्षण को डाक्टर सर जी० ए० ग्रियरसन ने भी बहुत अच्छा समझा था। अपनी 'लालचन्द्रिका' की भूमिका में उसको उद्धृत करते हुए लिखा था—
None of these (rules referred to above) will meet all cases. It is admitted that the rule must follow the custom of good poets, and not poets the rule, and hence the question of the correct scheme of the Doha has formed the subject of much discussion. Kavi Ratnakar in the Hindi magazine entitled the Sahitya-Sudhanidhi for 1894, has lately proposed the following scheme, based on the comparison of a number of verses.

(5) 8+3+2, 8+3

In the first group of eight, in each carana, the fourth and fifth, and the sixth and seventh instants, can not be both combined at the same time into two long syllables...
I may say that I have tested the rule on several occasions, and have not found any instance in which it does not apply.

मात्राएँ होती हैं, जिनमें से विषम अर्थात् पहले तथा तीसरे चरणों में तेरह तेरह एवं सम अर्थात् दूसरे तथा चौथे चरणों में ग्यारह ग्यारह। विषम चरणों की १३ मात्राओं की बाँट दो गणों में होती है, जिन में से प्रथम गण आठ मात्राओं का और द्वितीय तीन मात्राओं का ताल, अर्थात् ऽ। रूप वाला होता है। विषम तथा सम चरणों में जो आठ मात्राओं के गण होते हैं, उनके निमित्त यह नियम है, कि उनकी आदि की तीन मात्राओं के पश्चात् दो गुरु नहीं आ सकते जैसे—'राम देख्यौ न,' इस प्रकार की मात्राओं की संस्थिति उनमें नहीं हो सकती।

ऊपर के दोहे में जो लक्षण कहा गया है वह मात्राओं की संख्या तथा उनकी लघु-गुरु की स्थिति के विषय में है। विषम तथा सम चरणों में जो १२ तथा ११ मात्राएँ इकट्ठी न कह कर ८,३,२ तथा ८, ताल (ऽ।) कहा गया है, उसका अभिप्राय यह है कि ८,३, इत्यादि संख्याओं पर मात्राएँ अलग हो जानी चाहिएँ, अर्थात् ८ वीं ९ वीं से अथवा ११ वीं १२ वीं से मिल कर गुरु न हो जायँ। पर ८,३ इत्यादि पर शब्दों का भी पृथक् हो जाना आवश्यक नहीं है, जैसे—'मेरी भव बाधा हरौ' में 'बा' तथा 'ह' पर ८ तथा ८ के पश्चात ३ मात्राएँ तो पूरी हो गईं पर शब्द पूरे नहीं हुए।

मात्राओं की संख्या तथा लघु-गुरु के स्थानों का निर्धारण ही पिंगलशास्त्र में विशेषतः कहा जाता है। हमारा दोहे का लक्षण भी ऐसा ही है। पर किसी प्रकार-विशेष के पद में किसी छन्द के किसी स्थान-विशेष पर पड़ सकने की योग्यता अथवा अयोग्यता का सम्बन्ध छन्दों की पद योजना से है। यह विषय प्रायः पिंगल ग्रन्थों में नहीं दिया रहता। किसी किसी ग्रन्थ में किसी किसी छन्द के विषय में कुछ पद-योजना के नियम मिलते हैं पर वे भी प्रायः सम्यक् नहीं होते। दोहे की पद योजना के विषय में यह नियम कहीं कहीं प्राप्त होता है कि उसके चारो चरणों के आदि में जगणात्मक पद जो पूरा एक जगण (।ऽ।) से बना हो, न आवे, जैसे—मनोज, सरोज, अनूप, रमाहिं आदि। पर यह नियम अपूर्ण है क्योंकि और भी कई प्रकार

के पद दोहे के चरणों के आदि में नहीं खपते, जैसे—य गणात्मक (कलापी; ।ऽऽ), र गणात्मक (जानकी; ऽ।ऽ), त गणात्मक (आकाश; ऽऽ।) पद। इसके अतिरिक्त प्रत्येक चरण में चार मात्राओं के पश्चात् भी ऐसे पद नहीं आते, अतः दोहे की पद-योजना के विषय में यह नियम उचित प्रतीत होता है—

'चरन आदि कल चारि पर पद न जगन को होइ।
सर निधि पर पूरन न पद जिहिँ दोहा सुभ सोइ॥'

इस दोहे का यह अर्थ होता है कि जिसमें प्रत्येक चरण के आदि से चार मात्राओं के पश्चात् जगणात्मक (।ऽ।) पद न हो और आदि से पाँचवीं तथा नवीं मात्रा पर कोई पद पूर्ण न हो वह दोहा शुभ अर्थात् अच्छी लय वाला है।

हमने जो मात्राओं की बाँट का नियम दोहे के प्रत्येक दल के निमित्त बतलाया है अर्थात् ८+३+२,८ + ऽ। उस पर यह आक्षेप किया गया है कि "यदि यह ठीक माना जाय तो 'मुरारि मुरारि गावहीं' अथवा 'गोविंद नाम जाहि मैं' इन पदों में भी तो ८+३+२ का क्रम मिलता है। फिर लय क्यों बिगड़ी है? अतः यह नियम भी पूर्ण नहीं है।'

इस आक्षेप के विषय में यह वक्तव्य है कि उक्त दोनों पदों में ८+३ + २ का क्रम अवश्य मिलता है, तथा उनमें आठ मात्राओं वाले गण में तीन मात्राओं के पश्चात् दो गुरु भी नहीं आए हैं, पर तो भी उनकी लय अवश्य बिगड़ गई है। पर उनकी लय में बिगाड़ मात्राओं की बाँट अथवा लघु-गुरु के कारण नहीं पड़ा है। उनमें बिगाड़ का कारण पदों का अनुचित विन्यास मात्र है जिसका कथन ऊपर किया जा चुका है। हमारे 'आठ तीन द्वै' इत्यादि दोहे में केवल मात्राओं की संख्या, बाँट तथा लघु गुरु का विन्यास मात्र कहा गया है। उसमें पद-विन्यास का विषय छुआ भी नहीं गया है। लघु गुरु मात्राओं के पूर्वापर क्रम जो उक्त पदों में हैं, उन्हीं क्रमों से यदि दूसरे पद, पद-विन्यास के नियमानुसार बैठा दिए जायँ तो वे क्रम निर्दोष हो जायँगे। ऐसी दशा में हमारा दोहे की मात्राओं की बाँट तथा लघु-गुरु-

विन्यास का नियम अपूर्ण नहीं कहा जा सकता। उक्त नियम उसी दशा में दूषित माना जा सकता है जब उसके निर्दिष्ट लघु-गुरु-क्रम से दोहे में कोई शब्द समूह भी न बैठ सके। उक्त दोनों पदों के अन्त की पाँच-पाँच मात्राओं की गुरु लघु की संस्थितियाँ तो एक ही तथा सर्वथा निर्दोष हैं। अब रह गई दोनों पदों की प्रथम आठ-आठ मात्राएँ, जिनके लघु गुरु क्रम उक्त पदों में ये हैं—। ऽ । । ऽ । तथा ऽ ऽ । ऽ । अब जाँच इस बात की करनी है कि इन्हीं क्रमों से यदि अन्य पद बैठाए जाएँ तो आठ मात्रा वाले गण की लय ठीक हो सकती है या नहीं। प्रथम क्रम तो बिहारी के ३८३ वें दोहे के द्वितीय चरण (कहे जु गहे सयानु) में दृष्टिगोचर होता है, और इसी चरण के अन्त में दो मात्राएँ बढ़ा देने से यह दोहे का विषम चरण बन सकता है, जैसे—'कहे जु गहे सयानु तैं'। दूसरा क्रम भी बिहारी के ४२१ वें दोहे के तृतीय चरण (दीने दई गुलाब की) में आया है, और यह चरण अन्त्य 'की' को निकाल देने पर निर्दोष रूप से दोहे का सम चरण हो सकता है।

इस विवेचना के अनुसार आक्षेप में दिए हुए उदाहरणों से हमारा मात्रा की गणना, बाँट तथा लघु-गुरु की संस्थिति का नियम अपूर्ण नहीं सिद्ध होता। उक्त उदाहरणों में से पहले में तो लय के बिगाड़ के दो कारण हैं—एक तो आरम्भ में जगणात्मक 'मुरारि' शब्द का पड़ना और दूसरा चार मात्राओं के पश्चात् फिर जगणात्मक 'मुरारि' शब्द का आना, तथा द्वितीय उदाहरण के चरणादि में 'गोविन्द' शब्द के पाँचवीं मात्रा पर समाप्त होने के कारण लय बिगड़ी है।

दोहे का जो लक्षण ऊपर बतलाया गया है, उसके अनुसार उसके एक दल के रूपों की संख्या ५७६६ होती है, और इतनी ही दूसरे 'दल' की भी। अतः पूरे दोहे के रूपों की संख्या ५७६६ × ५७६६=३३२४६७५६ निकलती है। इन रूपों में से पहले रूप में इस प्रकार मात्राएँ पड़ती हैं—

ऽ ऽ ऽ ऽ । ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ।
ऽ ऽ ऽ ऽ । ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ।

और अन्तिम रूप में इस प्रकार—

। ऽ ।

। ऽ ।

दोहे के जो ३३२४६७५६ रूप बतलाए गए हैं, उनकी लयों में, लघु-गुरु मात्राओं की भिन्न भिन्न स्थितियों के कारण कुछ भेद तथा रोचकता-तारतम्य तो अवश्य ही होता है तथापि कुछ साम्य भी ऐसा होता है जिसके कारण वे सब उक्त छंद में आ सकते हैं। दोहा के निमित्त आठ मात्राओं के समूहों का वह रूप, जिसके आदि में ।ऽगण तथा पाँच मात्राओं के पश्चात् गुरु पड़ता है कुछ मध्यम होता है। ऐसे रूप के त्यक्त कर देने से आठ मात्रा वाले गण के ३० ही रूप ग्राह्य रह जाते हैं। अतः दोहा के एक दल की संख्या ५४०० रह जाती है, और पूरे दोहे की संख्या ५४००×५४००= २९१६०००० ।

इसी प्रकार दोहे के प्रथम तथा तृतीय चरणों में जो दूसरा गण तीन मात्राओं का होता है, उसके इस रूप (।ऽ) की लय भी अच्छी नहीं होती। बिहारी ने अपने दोहों में इस रूप का ग्रहण नहीं किया है। इस रूप को छोड़ देने से दोहे के एक दल की संख्या ३८४४ निकलती है, और पूरे दोहे की संख्या ३८४४×३८४४=१४७७६३३६ होती है। इन रूपों में से प्रथम रूप यह होता है—

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ । ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ।

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ । ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ।

जैसे—

मोहँ हूँ हेर्‍यौं न तैं, केती द्याई सौंह।
एहो क्यौं बैठी किए ऐंठी ग्वैंठी भौंह॥

('विहारी-रत्नाकर' ५०९)

अंतिम रूप इस मत से भी वही होता है जो पूर्वोक्त मत से, जैसे—

फिरत जु अटकत कटनि-विनु, रसिक, सु रस न, खियाल।
अनत अनत नित नित हितनु चित सकुचत कत, लाल॥

(विहारी-रत्नाकर ५२८)

दोनो प्रकारों के मध्यम रूपों के निकाल देने पर दोहा के एक दल की रूप संख्या ३६०० रह जाती है और पूरे दोहा की ३६०० × ३६०० = १२९६०००० ।

दोहे के समपादों के अंत में अंत्यानुप्रास रक्खे जाते हैं। जब कुछ वर्णों का एक समूह दूसरे समूह से इस प्रकार मिलता है कि दोनों समूहों के एक एक दो दो अथवा अधिक अधिक वर्ण तो सर्वथा तुल्य ही होते हैं, और इन तुल्याक्षरों के पूर्व व्यंजन होते तो भिन्न हैं पर उनकी मात्राएँ समान होती हैं, तो ऐसे समूह एक दूसरे के अंत्यानुप्रास कहलाते हैं, जैसे 'भूप' तथा 'रूप' वर्ण-समूह एक दूसरे के अंत्यानुप्रास हैं, क्योंकि इन दोनों में 'प' वर्ण यथा-वस्थित एक ही है, और 'प' के पूर्व के वर्ण 'भू' तथा 'रू' के व्यंजन 'भ्' तथा 'र्' भिन्न हैं, पर उनका स्वर, अर्थात् 'ऊ' कार एक ही है। जिस वर्ण अथवा जिन वर्णों की आवृत्ति ज्यौं की त्यौं होती है उनको 'आवृत्त वर्ण' कहना चाहिए। ऐसी आवृत्ति को अरवी में 'रदीफ़' कहते हैं। जिन वर्णों में व्यंजन-भिन्नता पर स्वर-समानता होती है, उनको 'समान स्वर वर्ण' कहना उचित है। 'भूप' तथा 'रूप' वर्ण समूहों में 'प' को 'आवृत्त वर्ण' तथा 'भू' एवं 'रू' को 'समान स्वर वर्ण' कहना उचित है। 'समान स्वर वर्ण' को अरवी में 'क़ाफ़िया' कहते हैं। यद्यपि अंत्यानुप्रास में सामान्यतः

समान स्वर वर्ण के व्यंजन भिन्न होते हैं तथापि यदि दोनोंवर्ण समूहों के अर्थ में भेद हो तो समान स्वर वर्ण के व्यंजन भी एक ही हो सकते हैं, जैसे हस्ति वाचक 'बारन' तथा निषेध वाचक 'बारन' एक दूसरे के अंत्यानुप्रास हो सकते हैं, यद्यपि दोनों में समान स्वर वर्ण के व्यंजन भी एक ही हैं, अर्थात् 'ब'।

यदि दोनों ही वर्ण समूह निरर्थक हों तो वे एकार्थक ही माने जायँगे, जैसे 'उधारन' तथा 'सिधारन' इन दोनों शब्दों में 'धारन' शब्द समूह निरर्थक है। अतः दोनों शब्दों के 'धारन' परस्पर अंत्यानुप्रास नहीं हो सकते। पर 'धारन' तथा 'सिधारन' शब्दों के 'धारन' वर्ण समूह अंत्यानुप्रास हो सकते हैं, क्योंकि 'धारन' शब्द सार्थक है और 'सिधारन' शब्द का 'धारन' वर्ण समूह निरर्थक। अतः ये दोनों 'धारन' वर्ण समूह भिन्नार्थक ही माने जाएँगे।

कभी कभी कोई कवि तुकान्तों में बिना वर्ण अथवा वर्णों की आवृत्ति किए ही केवल समान स्वरवर्ण ही से अंत्यानुप्रास का काम ले लेते हैं। इस प्रकार के प्रयोग उर्दू में अधिक दृष्टिगोचर होते हैं, जैसे—

कलम् फिर् शहादत् की उँग्ली उठा।
हुआ हफ़्ज़न् यों की रब्बुल् अला॥

भाषा काव्यों में भी ऐसा प्रयोग कभी दृष्टिगोचर होता है, जैसे—

कोदंड कठिन चढ़ाइ सिर जट जूट बाँधत सोह क्यौं।
मरकत-सयल पर लसत दामिनि कोटि स्यौं जुग भुजग ज्यौं॥
(राम चरित मानस)

परन्तु इस प्रकार का प्रयोग दीर्घ वर्णों ही का देखने में आता है।

अपनी वर्ण संख्याओं के अनुरोध से दोहा २१ प्रकार का होता है।

उपर्युक्त बातों से पाठकों को विदित हो गया होगा कि दोहा के प्रथम तथा तृतीय चरणों में १३-१३ मात्राएँ होती हैं, अतः उनमें एक एक लघु का होना आवश्यक है। इसी प्रकार द्वितीय तथा चतुर्थ चरणों में भी जिनमें ११-११ मात्राएँ होती हैं, एक एक लघु अवश्य होता है। अतः दोहा में चारों चरण मिलकर चार मात्राएँ अवश्य लघु होती हैं और शेष ४४ मात्राएँ सब गुरु रूपों अर्थात् २२ दीर्घ वर्णों के रूप में आ सकती हैं। इस गणना से पूरे दोहे में कम से कम २६ वर्ण होते हैं। द्वितीय तथा चतुर्थ चरणों में १-१ ताल (ऽ।) के होने का नियम है। पर प्रथम तथा तृतीय चरणों में किसी गुरु के कहीं आने का नियम नहीं है। अतः दोहे के दोनों दलों में दो वर्णों को छोड़कर, जिनका गुरु होना नियत है, शेष ४४ मात्राएँ लघु रूप से आ सकती हैं। इस गणना से पूरे दोहे में अधिक से अधिक ४६ वर्ण आ सकते हैं।

जिस दोहे में २६ वर्ण होते हैं उसमें २२ गुरु तथा ४ लघु पड़ते हैं। इन २२ गुरु वर्णों में से यदि किसी एक गुरु के स्थान पर दो लघु कर दिये जायँ तो उनमें से २६ के स्थान पर २७ वर्ण, अर्थात् २१ गुरु तथा ५ लघु हो जाते हैं। तथा दो गुरु के तोड़ने से २८ वर्ण अर्थात् २० गुरु तथा८ लघु होते हैं। इसी प्रकार १-१ गुरु के तोड़ने से उसके स्थान पर २-२ लघु होकर १-१ वर्ण बढ़ता जाता है, यहाँ तक कि २० गुरु के तोड़ने से ४६ वर्ण अर्थात् २ गुरु तथा ४४ लघु दोहे में हो जाते हैं। ये दो गुरु नहीं टूट सकते क्योंकि इनका होना दोहे में नियत है। इस प्रकार दोहे में २२ गुरु तथा ४ लघु अर्थात् २६ वर्णों से लेकर, २ गुरु तथा ४४ लघु अर्थात् ४६ वर्णों तक आ सकते हैं, अर्थात् वर्ण गणना के अनुसार दोहे २१ प्रकार के होते हैं। ग्रन्थकारों ने इन २१ प्रकारों के २१ नाम कल्पित किए हैं। प्राकृत पिंगल के अनुसार इनके नाम नीचे के कोष्टक से ज्ञात हो सकते हैं। ये ही नाम कुछ सामान्य भेद से कृष्णदत्त कवि ने भी अपनी सतसई-टीका में लिखे हैं। पर किसी किसी ग्रन्थकार ने इनके भिन्न भिन्न नाम वतलाए हैं।

दोहों का जातिप्रदर्शक चक्र

क्रम संख्या	दोहे के प्रकारों के नाम		सर्व वर्ण संख्या	गुरु संख्या	लघु संख्या	बिहारी-रत्ना० में उदाहरण के दोहों का अंक
	प्राकृत पिंगलानुसार	गण प्रस्तार प्रकाशानुसार				
१	भ्रमर	हंस	२६	२२	४	५०६
२	भ्रामर	मयूर	२७	२१	६	०
३	शरभ	पिक	२८	२०	८	०
४	श्येन	कीर	२९	१९	१०	६२६
५	मंडूक	कलहंस	३०	१८	१२	४९
६	मर्कट	कपोत	३१	१७	१४	६१
७	करभ	चातक	३२	१६	१६	१
८	नर	चक्रवाक	३३	१५	१८	७०३
९	मराल	चकोर	३४	१४	२०	५२९
१०	मदकल	गरुड़	३५	१३	२२	४०८
११	पयोधर	गिद्ध	३६	१२	२४	६४९
१२	चल	राजहंस	३७	११	२६	२०३
१३	वानर (वारण)	कलकंठ	३८	१०	२८	२८५
१४	त्रिकल	चटक	३९	९	३०	२९८
१५	कच्छ	श्येन	४०	८	३२	७४
१६	मच्छ	क्रौंच	४१	७	३४	६५९
१७	शार्दूल	लवा	४२	६	३६	३३१
१८	अहिवर	टिट्टिभ	४३	५	३८	१७९
१९	व्याघ्र	रायमुनी	४४	४	४०	५४१
२०	बिड़ाल	हारिल	४५	३	४२	५२७
२१	श्वान	खंजन	४६	२	४४	५२८

इन २१ भेदों में से भ्रामर तथा शरभ को छोड़कर शेष १९ भेदों के दोहे बिहारी की सतसई में मिलते हैं।

दोहा के लक्षण कथन करने के बाद, सोरठा के लक्षण के विषय में कुछ विशेष कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती। दोहा और सोरठा में केवल इतना ही भेद है कि दोहा के द्वितीय तथा चतुर्थ चरण, सोरठा के प्रथम तथा तृतीय चरण होते हैं, दोहा के प्रथम तथा तृतीय चरण, सोरठा के द्वितीय तथा चतुर्थ चरण, जैसे—

मंगलु बिंदु सुरंगु, मुखु ससि, केसरि-आड़ गुरु।
इक नारी लहि संगु, रसमय किय लोचन-जगत ॥४२॥

सोरठा के रूपों की संख्या दोहा के रूपों की संख्या के तुल्य ही होती है। सोरठा में अंत्यानुप्रास प्रथम तथा तृतीय चरणों के अन्त में होते हैं, जिस प्रकार ऊपर के सोरठे में आए हैं। वर्णों की संख्या के अनुसार भ्रमर, भ्रामर इत्यादि जो २१ भेद दोहा के होते हैं, वे ही सोरठा के भी।

एक प्रकार के सोरठा में जिसको 'चरण' कहते हैं, द्वितीय तथा चतुर्थ चरणों में भी अंत्यानुप्रास रक्खे जाते हैं, जैसे—

जेहिं सुमिरत सिधि होइ, गननायक करिवर-बदन।
करौ अनुग्रह सोइ, बुद्धि-रासि सुभ-गुन-सदन ॥
(रामचरित मानस)

वाक्य-सौष्ठव

सौष्ठव का ध्यान तो सामान्यतः सभी प्रकार के वाक्यों में रखना उचित है पर काव्य वाक्य में उसकी आवश्यकता अनिवार्य है, क्योंकि काव्य का उद्देश्य वाक्य में रमणीयता उत्पादन है। वाक्य के सुष्ठु न होने से, प्रथम तो उसके अर्थ बोध में कठिनता पड़ती है तथा दूसरे कभी-कभी वह अरोचक भी हो जाता है। ये दोनों ही बातें काव्यानन्द में बाधक होती हैं। अतः कवि के निमित्त उक्त बाधाओं का निवारण विशेष आवश्यक है।

वाक्य-सौष्ठव के निमित्त तीन बातों पर ध्यान रखना उचित होता है, (१) शब्दों का चुनाव, (२) पद वाक्य शुद्धि, तथा (३) पदों का पूर्वापर विन्यास। अपनी वाक्य रचना के निमित्त कवि को शब्दों के चुनाव में मुख्यतः दो बातों पर विचार करना होता है। एक तो शब्दों के सुप्रयुक्त होने पर तथा दूसरे उनके विषयानुकूल होने पर।

शब्दों की सुप्रयुक्तता

सुप्रयुक्त शब्दों से ऐसे शब्द अभिप्रेत हैं, जिनका प्रयोग अधिकांश कवियों ने अथवा मान्य कवियों ने अपनी रचना में किया हो, अथवा वे सभ्य समाज के लिखने पढ़ने एवं बोल चाल में व्यवहृत होते हों। बिहारी सतसई में जो शब्द प्रयुक्त हुए हैं उनमें से अधिकांश तो सामान्यतः साहित्यिक ब्रजभाषा की रचनाओं में मिलते हैं और कुछ ऐसे हैं जो सब कवियों की रचनाओं में अनुसन्धान करने पर मिल जाते हैं, जैसे 'त्यौं' (ओर), 'स्यौं' (सहित), 'नीठि' (कठिनता से) इत्यादि। इसके अतिरिक्त किसी-किसी शब्द का प्रचार बोल चाल में पाया जाता है, जैसे 'हई' (मय), बुरे (समाप्त होकर) इत्यादि। ऐसी दशा में बिहारी के शब्दों के चुनाव के विषय में यही व्यवस्था समुचित ठहरती है कि वे परम सुप्रयुक्त हैं। यदि सतसई के कतिपय शब्द हम लोगों को साहित्यिक ब्रजभाषा अथवा लोक-व्यवहार में न भी मिलें तो उसका कारण अपनी जानकारी का संकोच मात्र मानना चाहिए, अथवा यह कि बिहारी के समय में उनका व्यवहार बोल चाल में था, पर अब नहीं है। किन्तु कई महाशयों ने बिहारी के कितने ही शब्दों के प्रयोग में कुछ अनौचित्य बतलाया है।

बिहारी पर जिस जिस प्रकार के तथा जिन जिन शब्दों पर समालोचकों ने आक्षेप किए हैं, उन सभों के समाधान करने के लिए तो एक बृहत् स्वतंत्र ग्रन्थ की आवश्यकता है, अतः संक्षेप से मुख्य मुख्य आक्षेपों के विषय में यहाँ तथा अन्य उचित स्थानों पर, स्थालीपुलाक न्याय से कुछ कहा जायगा।

बिहारी की गढ़ंत

बिहारी के शब्द गढ़ लेने के विषय में जो दो उदाहरण 'छौंकु' तथा 'उड़ायक' 'हिन्दी नवरत्न' में बतलाए गए हैं, उनमें से 'छौंकु' शब्द का अर्धानुस्वार तो बलात् बिहारी के सिर मढ़ा गया है। कारण, उसके तुकान्त 'कुवाकु' शब्द में भी वह नहीं है, और न प्रभुदयाल पाँड़े की टीका ही में, जिससे उक्त ग्रन्थ में दोहे उद्धृत किए गए हैं, इसका दर्शन मिलता है। अब रह गया 'छाकु' शब्द का उकारान्त प्रयोग। इसके विषय में यह वक्तव्य है कि अकारान्त पुंलिंग शब्द के एक वचन के कर्त्ता तथा कर्म कारक प्राचीन ब्रजभाषा में उकारान्त होते थे, इसका विशेष कथन भाषा विवेचना के अन्तर्गत किया जायगा। बिहारी ने वही रूप ग्रहण किया। इस शब्द का अर्थ टीका में कहा गया है।[1] 'उड़ायक' शब्द में बिहारी की गढ़न्त क्यों मानी गई है, यह समझ में नहीं आता। यह शब्द संस्कृत 'उड्डायक' का विकृत रूप मात्र है।

बिहारी का असमर्थ शब्दों का प्रयोग

'दीजतु' शब्द का अर्थ 'हिन्दी नवरत्न' में 'देंगी' या 'देती हैं' मानकर उसमें असमर्थता बतलाई गई है। इसके विषय में यह वक्तव्य है कि 'दीजतु' शब्द का अर्थ न तो 'देंगी' या 'देती हैं' होता है, और न इसको इस अर्थ में बिहारी ने प्रयुक्त ही किया है। यह पद 'डुदाञ् दाने' धातु की कर्मवाच्य की वर्तमानकालिक क्रिया है, जिसका अर्थ 'दिया जाता है' होता है। प्रभुदयाल पाँड़े की टीका में भी इसका जो अर्थ लिखा है उससे भी इसका कर्मवाच्य प्रयोग होना विदित होता है। पर पाँड़े जी ने इसका अर्थ वर्तमानकालिक न लिखकर भविष्यकालिक लिख दिया है। हिन्दी नवरत्न में न जाने क्यों इसके सिर असमर्थता मढ़ दी गई है। इसी प्रकार केवल पाँड़े जी की टीका में 'ज्यौं' शब्द का मन-

---

१ देखिये 'बिहारी-रत्नाकर', दोहा संख्या २१८

माना अर्थ देखकर, और लालचन्द्रिका, हरिप्रकाशादि के देखने का कष्ट उठाए बिना ही उसपर असमर्थ होने का लांछन लगा दिया गया है।

बिहारी पर जो अनेक शब्दों के तोड़ मरोड़ का धप्पा 'हिन्दी नवरत्न' में धरा गया है उसके मुख्यतः चार कारण प्रतीत होते हैं—

बिहारी द्वारा शब्दों की तोड़-मरोड़

(१) शब्दार्थों को भली भाँति समझने का प्रयत्न न करना।

(२) ब्रजभाषा के अन्य कवियों के काव्यों में ऐसे शब्दों के यथार्थ रूप का अनुसन्धान न करना।

(३) दोहे में मनमाना पदच्छेद कर लेना। तथा

(४) प्रभुदयाल पाँड़े के पाठ को बिना जाँचे स्वीकृत कर लेना।

जिन शब्दों—'हुई' 'आव' 'चाड़' 'लखि' इत्यादि—में अर्थ भ्रम से तोड़ मरोड़ बतलाई गई है, उनके अर्थ 'बिहारी-रत्नाकर' में देखने से उक्त दोषारोप का परिहार हो जायगा।

शब्दों के यथार्थ रूपों की खोज न करने का प्रमाण 'तूठ्यौ' 'हरा' 'मोष' इत्यादि शब्दों में तोड़-मरोड़ बतलाना है। ब्रजभाषा के प्रायः सभी कवियों ने इन रूपों का प्रयोग किया है, जैसा कि अध्यापक लाला भगवानदीन जी तथा हिन्दी कोविद मो० जहूरबख्श ने 'हरा' 'डाढी' इत्यादि शब्दों के विषय में 'श्री शारदा' तथा 'मनोरमा' में लिखा है।

मनमाने पदच्छेद का उदाहरण 'हराहरु' 'कुवत' इत्यादि हैं, जिनके विषय में भी लालाजी 'श्री शारदा' में लिख चुके हैं।

अशुद्ध पाठ के उदाहरण 'ऊलि' 'जनकु' इत्यादि हैं जिनके शुद्ध पाठ 'बिहारी-रत्नाकर' अथवा 'लालचन्द्रिका' 'हरिप्रकाश' आदि किसी अच्छी टीका से ज्ञात हो सकते हैं।

ऐसे ही और भी कुछ दोष बिहारी के शब्दों पर लगाए जाते हैं। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना उचित है कि किसी ढाई तीन सौ वर्ष पूर्व के

कवि की रचना पर इस प्रकार के दोषारोपों के करने का अधिकार किसी समालोचक को उसी समय प्राप्त हो सकता है, जब वह उस कवि के पूर्ववर्ती अथवा समकालीन प्रतिष्ठित तथा मान्य कवियों की सब रचनाओं को भली-भाँति पढ़ एवं गुन चुना हो। और यह निश्चयपूर्वक कह सकता हो कि अमुक शब्द का अमुक रूप, अर्थ अथवा भाव उक्त कवियों की अथवा उक्त कवियों में से अधिकांश की रचनाओं में सर्वथा अप्राप्य है। एवं यह भी किसी अलौकिक साधन के द्वारा समझ सके कि अमुक शब्द का प्रचार अमुक रूप, अर्थ तथा भाव में उस समय सर्व साधारण में भी नहीं था।

शब्दों का विषयानुकूलत्व

शब्दों के विषयानुकूल होने से उनका वर्णित विषय के सात्म्य होना, अर्थात् कर्णेन्द्रिय पर उनके द्वारा जो प्रभाव पड़े, उसका वर्णनीय विषय के मानसिक प्रभाव के अनुकूल होना, अभिप्रेत है। यह विषय यद्यपि वाक्य साधारण से भी सामान्य सम्बन्ध रखता है तथापि इसका विशेष सम्बन्ध काव्यत्व ही से माना जाता है। अतः इसका विवरण आगे किया जायगा।

पद वाक्य-शुद्धि

वाक्य-शुद्धि से वाक्य का व्याकरणानुसार शुद्ध होना अभिप्रेत है। संस्कृत के साहित्यकारों ने इस विषय पर स्वतंत्र रूप से विशेष नहीं लिखा है, क्योंकि वाक्य का व्याकरणानुयायी होना उसके लक्षण ही में अन्तर्भूत है। पर तो भी साहित्य-ग्रन्थों के दोष प्रकरण में जो 'च्युत-संस्कृत' दोष बतलाया गया है उसमें काव्य-वाक्य के व्याकरण के नियमों से पूर्णतया बद्ध होने की आवश्यकता जता दी गई है। व्रजभाषा के विषय में वाक्य-शुद्धि पर स्वतंत्र रूप से कुछ विशेष लिखने की आवश्यकता है। कारण, बहुत लोगों की धारणा है कि व्रजभाषा व्याकरणिक नियमों से सर्वथा मुक्त प्राय है। वे समझते हैं कि व्रजभाषा के वाक्यों में संज्ञा, क्रिया तथा अव्यय

लेखक की इच्छा एवं छन्द की आवश्यकता के अनुसार तोड़ मरोड़ कर रख दिये जाते हैं। यह सचमुच खेद का विषय है कि ब्रजभाषा के अधिकांश कवियों ने वाक्य-शुद्धि पर पूरा ध्यान नहीं दिया है। प्रयोग-साम्य का तो, जो व्याकरण का एक बड़ा आवश्यक नियम है, बिरले ही किसी ने निर्वाह किया है। प्रायः कवियों ने अपनी रचनाओं में छन्दों तथा अनुप्रासों की आवश्यकता से, अथवा स्वेच्छानुसार, एक ही प्रकार के पदों के कई कई रूप प्रयुक्त कर लिए हैं। जैसे, 'दृगन' 'दृगनि' 'दृगनु' अथवा भूतकालिक कृदंत रूप 'देख' 'देखि', आज्ञार्थक रूप 'देख' 'देखि' तथा एक वचन कर्त्ता एवं कर्म के रूप 'राम' 'रामु' इत्यादि। ऐसे ही अनेक प्रकारों के प्रयोग-वैषम्य तथा शुद्ध ब्रजभाषा के नियमों के विरुद्ध कितने ही प्रयोगों को अच्छे-अच्छे कवियों के काव्यों में पाकर ऊपर कही हुई धारणा लोगों के हृदय में बस गई है। ऐसे उच्छृङ्खल तथा विषम प्रयोगों के प्रचार के कई कारण उपस्थित हो गए थे। उनमें से मुख्य मुख्य पर भाषा-विचार प्रकरण में प्रकाश डाला जायगा।

दूसरा प्रकरण

भाषा का संक्षिप्त इतिहास

जब आर्य जाति की बस्ती तथा सभ्यता उत्तरी भारत में एक सिरे से दूसरे सिरे तक फैल गई तो भिन्न-भिन्न प्रान्तों के लोगों की बोलियों में भेद पड़ने लगा। इतने लम्बे चौड़े तथा भिन्न-भिन्न प्रान्तिक प्रकृति रखने वाले देश में एक ही प्रकार की बोली का होना भाषा के प्राकृत नियमों के विरुद्ध है। विशेषतः समाज की ऐसी दशा में जब उसमें लिखने पढ़ने का प्रचार बहुत सामान्य हो और छापे का प्रचार सर्वथा न हो। भाषा के सामान्य नियमों, अर्थात् सुखोच्चारण, शीघ्रता और असावधानी इत्यादि एवं प्रान्तिक प्रभावों के कारण भाषा में शनैः शनै कुछ न कुछ परिवर्तन होता रहता है। पर प्रत्येक प्रांत की जनता की बोली में ठीक एक ही सा हेर फेर नहीं होता, जिसके कारण भिन्न भिन्न प्रान्तों की बोलियां में कुछ कुछ भेद पड़ने लगता है। यह भेद आरम्भ में तो बहुत सूक्ष्म रहता है परन्तु शनैः शनैः बढ़कर भिन्न भिन्न प्रान्तों की बोलियों को भिन्न भिन्न कर देता है। यह भिन्नता पड़ोसी प्रांतों की बोलियों में इतनी नहीं होती जितनी दो दूरस्थ प्रांतों की बोलियों में। इसी कारण किसी एक केन्द्र के चारों ओर कुछ दूर तक की बोलियों में एक प्रकार का साम्य होता है। जब उस केन्द्र से किसी प्रांत का अन्तर अधिक हो जाता है तो उस दूरस्थ प्रांत की बोली का प्रकार किसी अन्य केन्द्र की बोली के मेल का हो जाता है। इस रीति पर विस्तृत देशों में बोलियां के कई केन्द्र अर्थात् प्रकार स्थापित हो जाते हैं। एक एक प्रकार की बोलियों में कुछ ऐसी विशेषता रहती है, जिनसे आपस में तो वे मिलती हैं, पर अन्य प्रकार की बोलियों से भिन्न हो जाती हैं।

उक्त स्वाभाविक सिद्धांतों के अनुसार उत्तरी भारत में बोलियों के तीन प्रादेशिक समूह हो गए थे—शौरसेनी, मागधी तथा पैशाची, जो अपने अपने क्षेत्रों में बोले जाते और प्राकृत कहलाते थे।

प्राकृत भाषाएँ

शौरसेनी तथा मागधी बोलियों के प्रचार-क्षेत्र के विषय में तो विशेष मतभेद नहीं है, पर पैशाची के क्षेत्र के विषय में अभी विद्वानों के भिन्न भिन्न मत हैं। स्थूल रूप से शौरसेनी बोलियों के प्रचार-क्षेत्र की पूर्वी सीमा प्रयाग के आस पास तक, पश्चिमी सीमा दिल्ली के आस पास तक, उत्तरी सीमा हिमालय की तराई तक तथा दक्षिणी सीमा मध्य प्रदेश के एक बड़े भाग तक कही जा सकती है। पर यह स्मरण रखना चाहिए कि उक्त क्षेत्र की पूर्वी तथा पश्चिमी सीमा-रेखाएँ प्रयाग तथा दिल्ली से ठीक उत्तर-दक्षिण नहीं जातीं। प्रत्युत प्रयाग तथा दिल्ली से दक्षिण जाने में वे पश्चिम की ओर, और दिल्ली से उत्तर जाने में कुछ पूर्व की ओर झुकती हुई जाती हैं। इसी शौरसेनी क्षेत्र के पूर्व मागधी का क्षेत्र समझना चाहिए। पैशाची बोलियों के क्षेत्र के विषय में यद्यपि अभी एक मत नहीं है तथापि पैशाची भाषा के रूप से, जो व्याकरणों द्वारा लक्षित होता है तथा अन्य कई कारणों से, उसका क्षेत्र शौरसेनी क्षेत्र के पश्चिम तथा पश्चिमोत्तर मानना समीचीन प्रतीत होता है।

ये तीनों क्षेत्र स्वयं भी ऐसे विस्तृत थे कि इनके भी भिन्न भिन्न प्रान्तों की बोलियाँ एक ही सी न रह सकीं। उनमें भी पारस्परिक कुछ प्रभेद पड़ गए। यद्यपि उनमें वे मुख्य अवच्छेदक बने रहे जो उनको अन्य क्षेत्र की बोलियों से अलग करते थे। अब प्रत्येक क्षेत्र में इस बात को आवश्यकता पड़ी कि उसके सब प्रान्तों के निवासी आपस में सुगमता पूर्वक वाग्व्यवहार कर तथा चिट्ठी पत्री लिख सकें। इसके अतिरिक्त पढ़े-लिखे लोगों के हृदय में यह अभिलाषा भी उमगने लगी कि उनकी कविता का प्रचार दूर तक हो। इन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए लोग कुछ ऐसी भाषा लिखने पढ़ने लगे जो यथा संभव अनेक प्रांतों के लोगों की समझ में आ सकती थी। ऐसी

भाषा के प्रयोग में उन्हें ऐसे शब्दों तथा रूपों का व्यवहार करना पड़ता था जिनका प्रचार ज्यों का त्यों अथवा किंचित् रूपान्तर से, कुछ न्यूनाधिकता के साथ अनेक प्रान्तों में पाया जाता था। ऐसे रूपों तथा शब्दों का परित्याग करना पड़ा जो सर्वथा एक-प्रांतीय थे। इसप्रकार होते होते, प्रत्येक क्षेत्र में, लिखने पढ़ने के निमित्त एक ऐसी भाषा बन गई जिसे अनेक प्रान्तों के लोग सहज ही समझने तथा प्रयुक्त करने में समर्थ थे, तथा उसी में सामान्यतः लिखने पढ़ने का काम होने लगा। पहले तो प्रत्येक क्षेत्र के कुछ विशेष प्रांतों ही के लोग उसका व्यवहार करते रहे होंगे, पर उक्त प्रांतों के कुछ विशेष गौरवान्वित तथा उक्त नवीन भाषा के अधिक प्रचलित होने के कारण, अन्य प्रान्तों के लोग भी उसी को सीखकर काम में लाने लगे होंगे। बस फिर, इसी रीति पर प्रत्येक क्षेत्र में एक एक लिखने पढ़ने की भाषा, उस क्षेत्र के कई प्रांतों की बोलियों से न्यूनाधिक मिलती जुलती, तथा सबसे पृथक्, तैयार हो गई। इसे शनैः शनैः कवियों, लेखकों आदि ने परिमार्जित करके उस उस क्षेत्र की साहित्यिक भाषा बना लिया। ये भाषाएँ अपने अपने क्षेत्रों के नामों से विशिष्ट होकर शौरसेनी, मागधी तथा पैशाची प्राकृत कहलाने लगीं।

अब एक एक क्षेत्र में दो दो प्राकृत भाषाएँ, अर्थात् एक एक बोली, जो कि कुछ रूपान्तर से भिन्न भिन्न प्रान्तों में बोली जाती थी, और एक एक लिखने पढ़ने की भाषा, जो कि क्षेत्रभर में प्रायः एक ही सी होती थी, प्रयुक्त होने लगी। पर कवियों तथा अन्य ग्रन्थकारों को केवल एक प्रदेश में अपनी रचना के प्रचार से संतोष न हुआ। उनके हृदय में यह लालसा तरंगित होने लगी कि उनके ग्रंथ उत्तरी राष्ट्रभर में प्रचलित हों। इसके अतिरिक्त उपयोगी तथा धार्मिक ग्रंथों का देशभर में प्रचार होना आवश्यक भी था। इन बातों के निमित्त एक ऐसी भाषा की आवश्यकता हुई जो तीनों क्षेत्रों की लिखने-पढ़ने की भाषा से कुछ-कुछ मिलती-जुलती हो,

राष्ट्रीय साहित्यक भाषा, 'महाराष्ट्री'

जिसमें सब क्षेत्रों के शिक्षित लोग उसको सहज ही सीख और समझ सकें। बस फिर, जिस प्रकार भिन्न भिन्न प्रान्तों की बोलियों से लिखने-पढ़ने की भाषाएँ बनीं, उसी प्रकार सब क्षेत्रों की लिखने-पढ़ने की भाषाओं से एक राष्ट्रीय साहित्यिक प्राकृत बनकर काम में आने लगी। यह राष्ट्रीय प्राकृत 'महाराष्ट्री' कहलायी, और संस्कृत की भाँति उच्चश्रेणी की कविता तथा अन्य उपयोगी ग्रंथों में प्रयुक्त होने लगी। सभ्य समाज के भद्र लोग उसको बोलने के काम में भी लाते थे।

इस साहित्यक भाषा का ढाँचा मुख्यतः शौरसेनी प्राकृत के ढंग का था। पर इसमें मागधी तथा पैशाची के भी अनेक रंग ढंग मिश्रित थे। ऐसी राष्ट्रीय भाषा में शौरसेनी को प्रधान स्थान मिलने का एक कारण तो यह था कि शौरसेन प्रदेश महाभारत के समय से ही उत्तरी भारत देश में सबसे अग्रगण्य, पुनीत तथा श्रद्धेय समझा जाता था। दूसरा तथा स्वाभाविक कारण उसकी स्थानिक स्थिति थी। वह मागधी तथा पैशाची क्षेत्रों के बीच में पड़ता था, जिसके कारण उक्त दोनों क्षेत्रों के लोग उसकी भाषा कुछ कुछ समझ लेते थे। क्योंकि किसी पंजाबी को बंगला भाषा समझने में अथवा किसी बंगाली को पंजाबी भाषा समझने में जितनी कठिनाई पड़ती है उतनी कठिनाई पश्चिमोत्तर प्रादेशिक भाषा के समझने में, न तो पंजाबी को पड़ती है और न बंगाली को।

महाराष्ट्री भाषा की उत्पत्ति के विषय में जो बातें ऊपर कही गई हैं, उनसे हमारा अभिप्राय यह नहीं है कि शौरसेनी, मागधी तथा पैशाची भाषाओं के बन जाने के पश्चात ही उसका बनाना सोचा तथा आरम्भ किया गया। बहुत सम्भव है शौरसेन प्रदेश में उक्त भाषा उसी रूप में अथवा किंचित् रूपांतर से, उक्त तीनों प्रादेशिक भाषाओं के तैयार होने के पूर्व ही, लिखने पढ़ने में काम आती रही हो, तथा उसी से क्रमशः परिवर्तन होते होते तीनों भाषाएँ निज निज प्रादेशिक विशेषताओं के संमिश्रण से बनी हों, और फिर आवश्यकता पड़ने पर वही राष्ट्रीय भाषा बना ली गई हो, क्योंकि सबकी

जननी होने के कारण उसका स्वरूप कुछ कुछ सबसे मिलता जुलता था। इन बातों पर गूढ़ मीमांसा करके यहाँ विषय बढ़ाने की आवश्यकता नहीं है। हमारे वर्णनीय विषय के निमित्त इतना ही कहना पर्याप्त है कि प्राचीन काल में तीन प्रदेशों में तीन प्रकार की बोलियों के समूह और तीन प्रकार की लिखने पढ़ने की भाषाएँ, अर्थात् शौरसेनी, मागधी तथा पैशाची प्रचलित थीं। इनके अतिरिक्त एक साहित्यिक राष्ट्रीय भाषा भी उच्च श्रेणी के काव्य अथवा अन्य उपयोगी ग्रन्थों की रचना के काम में आती थी। यह भाषा 'महाराष्ट्री' कहलाती और तीनों ही प्रदेशों के सुशिक्षित लोगों के द्वारा व्यवहृत होती थी।

उपर्युक्त शौरसेनी, मागधी, पैशाची तथा महाराष्ट्री भाषाओं द्वारा बहुत दिनों तक सामान्य लिखने पढ़ने तथा काव्य रचना आदि का कार्य सुगमता-पूर्वक चलता रहा। पर शनैः शनैः उनमें तथा बोलियों में अन्तर पड़ने लगा। कारण, बोलियों में तो परिवर्तन के नियमानुसार निरंतर हेर फेर होता रहा, पर उक्त भाषाओं में, उनके लिखने पढ़ने की भाषा होने के कारण, कुछ स्थायित्व आ गया। यद्यपि बोलियों का प्रभाव इनपर भी कुछ अवश्य पड़ता था तथापि उनमें उतने शीघ्र तथा उतने अधिक परिवर्तन नहीं होते थे। ऐसे अनेक कारणों से बोलियों तथा भाषाओं में क्रमशः अधिकाधिक भेद बढ़ते बढ़ते ऐसा अंतर पड़ गया कि सामान्य जनता को उक्त भाषाओं का समझना तथा लिखना कठिन हो गया। उनको काम में लाने के निमित्त लोगों को विशेष रूप से श्रमपूर्वक उनका अध्ययन करने की आवश्यकता पड़ने लगी। प्राचीन समय की बोलियों तथा समय समय पर उनके परिवर्तनों का पता लगना तो इस समय बड़ा दुःसाध्य प्रत्युत् असम्भव ही है, क्योंकि उक्त बोलियों के रूपों का लिखित प्रमाण नहीं मिल सकता। अशोक के शिलालेखों की भाषा से उस समय की बोलियों का रूप कुछ लक्षित होता है, पर वे भी एक-सामयिक ही हैं। परन्तु शौरसेनी, मागधी, पैशाची तथा

अपभ्रंश का विकास

महाराष्ट्री प्राकृतों का स्वरूप तथा उनके क्रमशः परिवर्तनों का क्रम चण्ड, वररुचि, हेमचन्द्र, त्रिविक्रम आदि के प्राकृत व्याकरणों तथा भिन्न भिन्न समय के नाटकों एवं अन्य ग्रन्थों से ज्ञात हो सकता है।

जब बोलियों तथा भाषाओं का अन्तर उक्त श्रेणी तक पहुँचने लगा, तो साधारण जनता ने शनैः शनैः अपनी अपनी बोली में लिखना पढ़ना आरम्भ कर दिया, और जिस प्रकार क्रमशः तीन प्राकृत भाषाएँ बन गई थीं, उसी प्रकार धीरे धीरे अन्य तीन नई प्रादेशिक भाषाएँ बन गईं, अर्थात्, शौरसेनी, मागधी तथा पैशाची, जिनको पंडित समाज ने प्राकृत व्याकरणों से च्युत देखकर 'अपभ्रंश' की संज्ञा दे दी। इन तीनों अपभ्रंशों में अपनी अपनी जननी प्राकृतों के अनुसार कतिपय वर्णों तथा स्वरों में विशेषता होती थी। जैसे शौरसेनी में संस्कृत शब्दों के 'त' 'थ' के स्थानों पर 'द' 'ध' हो जाना अथवा मागधी में 'ष' तथा 'स' के स्थानों पर 'श' का प्रयोग। तथा पैशाची में वर्गों के तृतीय, चतुर्थ वर्णों का प्रथम तथा द्वितीय वर्ण हो जाना एवं 'ण' कार के स्थान पर 'न' कार का प्रयोग, आदि। इसी प्रकार स्वरों में भी कुछ प्रादेशिक विशेषताएँ आ गईं थीं। इन विपर्य्ययों का विषय प्राकृत व्याकरणों में लिखा है। पर प्रतीत होता है कि अपभ्रंशों में आकर इन निर्दिष्ट विपर्य्ययों में भी कुछ हेर फेर पड़ गया था।

यहाँ किसी ऐसे स्थूल भेद का विवरण उचित प्रतीत होता है जिससे तीनों क्षेत्रों की बोलियाँ तथा भाषाएँ सुगमता से पहचानी जा सकें। हमारी समझ में कई प्रकार के अकारान्त पुलिंग शब्दों के कर्ता तथा कर्म कारकों के एक वचन रूपों में तीनों क्षेत्रों की भाषाओं में कुछ स्थूल भेद होता है, जिससे वे बिना प्रयास ही पहचानी जा सकती हैं।

उक्त भेद को सुगमता से समझाने के निमित्त यहाँ एक बात कह देना आवश्यक है। अपभ्रंशों के बनने तथा प्रयुक्त होने के समय संज्ञा तथा विशेषण वाचक अकारान्त पुलिंग शब्द दो प्रकार के हो गए थे। एक प्रकार के तो वे जिनके कर्ता तथा कर्म कारकों के एक वचन रूप, उ कारांत,

इ कारांत तथा आ कारांत होते थे। इस भेद के कारण के विषय में अनेक मत हो सकते हैं जिनकी आलोचना की इस लेख में आवश्यकता नहीं है। इन दोनों प्रकार के शब्दों के रूपों में से उ कारान्त तथा ओकारान्त रूप शौरसेनी क्षेत्र में वरते जाते थे। इ कारान्त तथा ए कारांत रूप मागधी क्षेत्र में तथा अकारांत एवं आकारान्त रूप शौरसेन क्षेत्र के पश्चिमोत्तर प्रदेशों अर्थात् पंजाब तथा कावुली सीमस्थ प्रांतों में। संज्ञाओं और विशेषणों के अतिरिक्त वर्तमान कालिक तथा भूत कालिक कृदन्तों (जो विशेषणवत् प्रयुक्त होते थे) के रूपों की भिन्नता से भी भाषाओं के क्षेत्रों की भिन्नता ज्ञात हो सकती थी। वर्तमान कालिक कृदन्तों के रूप प्रथम प्रकार के शब्दों के समान होते थे, और भूतकालिक कृदन्तों के रूप द्वितीय प्रकार के शब्दों के समान। अतः पुंलिंग संज्ञाओं विशेषणों तथा कृदन्तों के कर्ता तथा कर्म कारकों के एक वचन रूपों का उकारांत होना शौरसेनी क्षेत्र की भाषाओं की मुख्य पहचान थी, उनका इकारांत अथवा एकारांत होना पंजाब प्रांतीय भाषाओं की।

इन तीनों अपभ्रंशों के अतिरिक्त एक राष्ट्रीय साहित्यिक अपभ्रंश भाषा भी शनैः शनैः तैयार हो गई। यह महाराष्ट्री प्राकृत के ढंग पर वनी थी और तीनों प्रदेशों में उसी स्थान पर, अर्थात् काव्य तथा उच्च श्रेणी के ग्रन्थों में, प्रयुक्त होती थी। हेमचन्द्र, त्रिविक्रम, लक्ष्मीधर आदि के प्राकृत व्याकरणों में जिस अपभ्रंश के लक्षण कहे गए हैं वह यही अपभ्रंश है। इसका भी मुख्य ढंग शौरसेनी ही था। इसके राष्ट्रीय साहित्यिक भाषा होने के प्रमाण में यह कहा जा सकता है कि गुजरात प्रांत की निर्मित की हुई 'भविसयत्त कहा' आदि तथा बंगाल प्रांत के बौद्ध गान की भाषा के ढंग उज्जैन के महाराज मुंज के दोहों की भाषा से वहुत मिलते हैं। जो भेद उनमें दिखलाई देते हैं, वे कवियों के भिन्न भिन्न प्रदेशों के होने के कारण प्रतीत होते हैं, जैसे यदि पंजाब, विहार तथा आगरा प्रांत के निवासी व्रजभाषा ही में कविता करें तो भी उनकी भाषा में कुछ न कुछ भेद अवश्य

लक्षित होगा। इसके अतिरिक्त समय के अंतर से भी भाषा में अंतर पड़ना संभावित है। इसकी नीव विक्रमाब्द की तीसरी अथवा चौथी शताब्दी में पड़ गई थी और सातवीं, आठवीं शताब्दी तक यह पूर्णतया प्रचलित तथा परिपक्व हो गई थी।

कुछ दिनों तक शौरसेनी, मागधी तथा पैशाची तथा राष्ट्रीय अपभ्रंशों से भी उसी प्रकार काम चला, जिस प्रकार चारों प्राकृतों से चला था।

'रासे' की भाषा, अथवा षड्भाषा का उदय

किन्तु फिर हेमचन्द्र से सैकड़ों वर्ष पूर्व ही वे भी उन्हीं कारणों से, जो चारों प्राकृतों के संबंध में कहे गए हैं, जनता के समझने के लिए कठिन हो गईं, और प्रत्येक क्षेत्र में बोली तथा अपभ्रंश को मिलाकर अन्य ही प्रकार की एक राष्ट्रीय साहित्यिक भाषा तथा प्रादेशिक भाषाएँ बनने लगीं। 'सिद्ध हेमचन्द्र' में अपभ्रंश के जो उदाहरण उद्धृत हुए हैं वे प्रायः हेमचन्द्र से दो तीन सौ वर्ष पूर्व के हैं। तथा जो हेमचन्द्र के स्वयं रचित हैं वे उन्हीं के ढंग पर बने हैं। अब जो नई साहित्यिक भाषा बनी, उसमें संभवतः हेमचन्द्र के पूर्व भी कुछ कवि हुए होंगे। नंद, मसऊद आदि प्राचीन कवियों के नाम भी सुनने में आते हैं। 'खुमान-रासा' का रचना काल कोई कोई संवत् ८९० के आस पास अनुमान करते हैं, पर उसकी भाषा इतनी प्राचीन नहीं प्रतीत होती। इस भाषा का 'पृथ्वीराजरासा' नामक एक वृहदाकार ग्रंथ हेमचन्द्र के समसामयिक कवि चंद बरदायी ने बनाया। उसी ग्रंथ को उक्त भाषा का प्रथम तथा मान्य ग्रंथ मानकर उसके स्वरूप के विषय में कुछ आवश्यक बातें लिखी जाती हैं।

पृथ्वीराज-रासे के चंद बरदायी कृत होने में रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने कई अनुमान-प्रमाणों से बड़ा संशय डाल दिया है। उसकी जो छपी हुई प्रति प्राप्य है,[1] उससे उसका चंद ही क्या प्रत्युत किसी भी

---

१ रत्नाकर जी ने 'पृथ्वीराज-रासे' के नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित संस्करण को माना है, उस समय वही उपलब्ध भी था। (सं०)

एक कवि द्वारा बनाया जाना प्रतीत नहीं होता। तो भी कई कारणों से जिनके उल्लेख को इस पुस्तक में समाई नहीं, हम उसका सर्वथा अन्यान्य कवियों द्वारा रची जाना मानने को तैयार नहीं हैं। हमारी समझ में उसका एक बड़ा भाग अवश्य चंद का रचा हुआ है। हाँ, बीच बीच में अनेक स्थानों पर अन्य कवियों की रचनाएँ चंद की निजी रचनाएँ निकालकर मिला दी गई हैं।

अपने महाकाव्य में प्रतिष्ठित करके जिस भाषा को चंद ने राष्ट्रीय साहित्यिक भाषा कहलाने का गौरव प्रदान किया वह छ भाषाओं—संस्कृत, प्राकृत, राष्ट्रीय अपभ्रंश तथा तीनों प्रदेशों की तत्सामयिक प्रचलित भाषाओं—के मेल से बनी थी। अतः वह षड्भाषा कहलाती थी, जैसा कि स्वयं चंद के इस दोहे से विदित होता है—

उक्ति धर्म विशालस्य राजनीति नवं रसं।
षड्भाषा पुराणं च कुरानं कथितं मया॥ १। ३९॥

इस छंद का अर्थ यद्यपि कुछ लोग घुमा फिरा कर कई प्रकार से करते हैं, पर वास्तविक अर्थ इसका यह ज्ञात होता है—'विशाल (उदार) धर्म की उक्ति, राजनीति तथा नव रस का षड्भाषा में पुरान तथा कुरान (स्वरूप) मैंने (यह ग्रन्थ) कहा, अर्थात् मेरा यह ग्रन्थ, उदार-धर्म के कथन, राजनीति तथा नव रस का पुरान तथा कुरान है। पर पुरान तथा कुरान, संस्कृत तथा अरबी भाषाओं में पृथक् पृथक् हैं, और यह ग्रन्थ षड्भाषा में दोनों के तुल्य है।

उक्त षड्भाषा में मेल तो यद्यपि छओं भाषाओं के शब्दों का होता था, पर कारकों तथा क्रियाओं के रूप, राष्ट्रीय अपभ्रंश की भाँति, शौरसेनी भाषा ही के रक्खे जाते थे, जैसा रासे की भाषा से विदित होता है, यद्यपि चंद के लाहौर निवासी होने के कारण उनकी भाषा में पंजाबीपन की झलक भी कहीं कहीं आ गई है। नीचे लिखे हुए छंद से षड्भाषा में छओं प्रकारों की भाषाओं का मेल तथा कारकों एवं क्रियाओं का शौरसेनी ढंग होना लक्षित होता है,

अति ढंक्यौ न उघार सलिल जिमि सिष्टि सिवालह।
बरन बरन सोभंत हार चउरंग विसालह ॥
विमल अमल बानी विसाल (वयन) बानी बार ब्रन्नन।
उक्तिन वयन विनोद मोद श्रोतन मन हन्नन ॥
युत अयुत विचार विधि वयन छंद छन्यौ न कह;
घटि बढ़ि मत्ति कोई पढ़इ (तौ) चंद दोस दिज्जीन वह ॥
॥ १ ॥ ३८ ॥

महाराष्ट्री प्राकृत से लेकर राष्ट्रीय अपभ्रंश तक जो परिवर्तन शनैः शनैः हुए वे भाषा परिवर्तन के केवल सामान्य नियम सम्बन्धी वर्णों तथा स्वरों इत्यादि के विपर्यय, आगम, लोप इत्यादि थे। पर षड्भाषा में इतना ही परिवर्तन न होकर एक और भी बड़े महत्व का परिवर्तन हुआ, जिसने उसको एक भिन्न ही अवस्था की भाषा बना दिया।[1]

धातुओं के समूह से उत्पत्ति करके जब भाषा बनने लगती है तो उसकी कई अवस्थाएँ होती हैं। उसकी आद्यावस्था विच्छेदावस्था कहलाती है।

भाषा के विकास की अवस्थाएँ

उसमें भिन्न भिन्न कारकों तथा लकारों इत्यादि के भाव जताने के लिये मुख्य शब्दों में, उनके सहायक रूप से, अन्य शब्द ज्यों के त्यों जोड़ दिए जाते हैं, जैसे 'घर' शब्द के अधिकरण कारक का भाव प्रकट करने के निमित्त उसमें 'मध्य' शब्द को जोड़कर 'घरमध्य' संयुक्त शब्द से 'घर में' का अर्थ समझना। इस अवस्था में मुख्य शब्द तथा उसके सहायक दोनों ज्यों के त्यों अपने अपने रूपों में बने रहते हैं। केवल उनके पूर्वापर स्थानों के भेद से अभिप्रेत भाव विदित होता है। कुछ दिनों में प्रयुक्त होते होते उच्चारण—शीघ्रतादि भाषा के सामान्य नियमों के अनुसार, सहायक शब्दों के रूपों में विकार पड़ने लगता है। होते होते वे निरर्थक

१—इस अवस्था भेद को समझने के लिये हिंदी पाठकों को श्री श्याम-सुन्दर दास जी के 'भाषा-विज्ञान' का तृतीय प्रकरण देखना चाहिए।

अक्षर अथवा अक्षरों के समूह मात्र रह जाते हैं। इस दशा में उनके पृथक् रूपों का कार्य, मुख्य शब्दों के भाव विशेषों का जताना मात्र रह जाता है; स्वयं उनका न तो कुछ अर्थ ही रह जाता है और न वे मुख्य शब्दों से अलग प्रयुक्त ही हो सकते हैं। ऐसी दशा में वे विभक्ति, प्रत्यय इत्यादि कहलाने लगते हैं। जब मुख्य शब्दों तथा ऐसे विभक्ति, प्रत्यय इत्यादिकों के संयोग से, भिन्न भिन्न कारकों, लकारों इत्यादि के भाव प्रकट करने का काम लिया जाने लगता है, तो भाषा संयोगावस्था में पहुँचती है। इस अवस्था में मुख्य शब्दों के रूप ज्यों के त्यों अथवा बहुत ही न्यून परिवर्तन के साथ बने रहते हैं। केवल उनके सहायक शब्द विकृत होकर विभक्ति, प्रत्यय आदि के रूपों में उनमें जोड़े जाते हैं। जैसे 'घर' शब्द के अधिकरण कारक का भाव प्रकट करने निमित्त उसमें 'मध्य' के स्थान पर 'में' का जोड़ा जाना। ऊपर कहे हुए दोनों भेद विश्लेषावस्था के अन्तर्गत माने गए हैं, क्योंकि उन दोनों भेदों में मुख्य शब्द तथा उनके भिन्न भिन्न भाव बतलाने वाले साधनों का अस्तित्व अलग अलग बना रहता है। जब संयोगावस्था में भाषा कुछ दिन रह चुकती है, और उसके संयोगात्मक शब्दों से उसके बोलने तथा सुनने वाले भली भाँति परिचित हो जाते हैं एवं शब्दों के विशेष संभाल कर बोलने की आवश्यकता नहीं रह जाती, तब उनके रूपों में शनैः शनैः विकार आने लगता है, और मुख्य शब्द तथा उनके सहायक विभक्ति, प्रत्यय आदि मिलकर कुछ दिनों में ऐसे रूप धारण कर लेते हैं कि मुख्य शब्दों तथा उनके सहायकों का अस्तित्व पृथक् नहीं रह जाता; वे दोनों मिलकर एक शब्द हो जाते हैं, जिससे वे संयुक्त शब्द के विकृत रूप से जान पड़ने लगते हैं। जैसे 'गृह' शब्द के संस्कृत के अधिकरण कारक का रूप 'गृहे'। भाषा की यह अवस्था विकृतावस्था कहलाती है। इस विकृतावस्था से भी भाषा फिर आगे बढ़ने लगती है, और उसके एक ही शब्द के विकृत रूप से कर्ता, क्रिया तथा उनके वचन, काल इत्यादि का बोध होने लगता है। जैसे संस्कृत के एक ही 'करोमि' शब्द से उत्तम पुरुष करना क्रिया, एक वचन तथा वर्तमान

काल का बोध हो जाता है। यह अवस्था भाषा की सम्मिश्रणावस्था कहलाती है तथा भाषा-विकास की पराकाष्ठा समझी जाती है। ये दोनों अवस्थाएँ अर्थात् विकृतावस्था तथा सम्मिश्रणावस्था संश्लेषावस्था के अन्तर्भूत मानी जाती हैं, क्योंकि इन दोनों में मुख्य शब्द तथा उनके सहायक एक जीव हो जाते हैं। इनमें शब्दों तथा विभक्ति, प्रत्ययों आदि के मिश्रण में केवल मात्रा के परिमाण में भेद है।[1]

उपर्युक्त अवस्थाओं में से संस्कृत चरमावस्था अर्थात् सम्मिश्रणावस्था तक पहुँची हुई भाषा थी। इस अवस्था में उसका रूप व्याकरण के नियम-निगड़ों में ऐसा जकड़ दिया गया कि उसे उससे आगे बढ़ने अथवा पीछे हटने का किंचिन्मात्र भी अवकाश न रह गया। अतः वह केवल लिखने-पढ़ने की भाषा होकर अब तक उसी रूप में चली आती है। जब कोई भाषा उक्त चरमावस्था तक पहुँच जाती है, तो उसके नियमों में ऐसी क्लिष्टता तथा जटिलता आ जाती है कि साधारण जन-समूह को उसका पालन तथा उस अवस्था के पदों का यथार्थ भाव समझना दुस्तर हो जाता है। फलतः वे लोग फिर मनमाने शब्द जोड़कर अपने भाव प्रकट करने लगते हैं। पर उनकी भाषा में कुछ रूप सम्मिश्रणावस्था के भी मिले रहते हैं, जो धीरे धीरे कम होते जाते हैं। यह बात यहाँ ध्यान में रखनी चाहिए कि फिर से शब्द जोड़ना आरम्भ करने में लोग पूरे ही पूरे शब्द जोड़ते हैं। अतः उनकी भाषा सम्मिश्रणावस्था तथा विकृतावस्था, अथवा सम्मिश्रणावस्था तथा संयोगावस्था की मिश्रितावस्था की भाषा क्रमशः न होकर, एक ही छलाँग में सम्मिश्रणावस्था तथा विच्छेदावस्था की मिश्रितावस्था की होने लगती है। इस प्रकार जब सम्मिश्रणावस्था में विच्छेदावस्था मिलने लगती है, तो क्रमशः

---

१ यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि ऊपर लिखा हुआ अवस्था-विवरण श्री श्यामसुन्दर दास जी के 'भाषा-विज्ञान' ही के आधार पर बतलाया गया है। अतः उसमें अवस्थाओं के नाम भी वही रक्खे गए हैं जो उक्त ग्रन्थ में कल्पित किए गए हैं। यद्यपि प्रभेदों के ये नाम कुछ चिंतनीय हैं।

उसका मेल अधिक हो जाता है, और वह विच्छेदावस्था का भाग शनैः शनैः संयोगावस्था की ओर, और फिर सम्मिश्रणावस्था की ओर, बढ़ने लगता है, जिसका परिणाम यह होता है कि एक नई ही सम्मिश्रणावस्था की भाषा बन जाती है। क्योंकि जिस सम्मिश्रणावस्था की भाषा से अलग होकर यह नई सम्मिश्रणावस्था की भाषा बनती है, उसी के तुल्य इसका रूप नहीं होता। इस भिन्नता का यह कारण होता है कि इन दोनों भाषाओं की आदि अवस्था में जोड़े जाने वाले शब्द प्रायः एक ही नहीं होते और न उनके शनैः शनैः विकृत होने के कारण क्रम तथा रूप ही एक होते हैं। पर फिर भी इन दोनों भाषाओं के मुख्य शब्दों में कुछ साम्य बना रहता है। जिससे एक भाषा के अनेक शब्दों की धातुएँ अन्य भाषा के उन अर्थों के शब्दों की धातुओं से ज्यों की त्यों अथवा कुछ वर्णों के हेर फेर से मिलती हैं। जो भाषा किसी मूल भाषा से इस प्रकार सीधी निकलती है, उसकी धातुओं के रूप मूल भाषा की धातुओं से उतने नहीं मिलते फिर मूल भाषा से इस प्रकार निकली हुई कई भाषाओं के धातुओं के रूपों में भी परस्पर उतना साम्य नहीं होता। इस प्रकार अनेक भाषाओं में साम्य के न्यूनाधिक्य का परिमाण भिन्न हो जाता है। यह विषय भाषा-विज्ञान का है, हमारे वर्णनीय विषय से इसका विशेष सम्बन्ध नहीं; केवल प्रसंगवशात् इतना लिख दिया गया है।

जिस समय शाकल्य, शाकटायन आदि व्याकरणियों, अंततोगत्वा पाणिनी जी के परिश्रम से संस्कृत भाषा परिमार्जित होकर शनैः शनैः अपनी चरमावस्था को पहुँची और साहित्यिक भाषा के गौरव से गरिष्ट हुई, उस समय उसका जो सामान्य रूप जनता में प्रचलित था, उसमें प्रतीत होता है कि कुछ विश्लेषावस्था की विभक्तियाँ भी प्रयुक्त होती थीं। ये विभक्तियाँ संस्कृत में तो लुप्तप्राय हो गईं, पर प्राकृत में, पैतृक संपत्ति की भाँति उनमें से अनेक बनी रह गईं, जैसा भास, शूद्रक आदि प्राचीन नाटककारों के प्राकृत अंश में 'केरो' 'केरक' आदि के प्रयोग से जाना जाता है। ज्यों ज्यों

प्राकृत भाषाएँ, धीरे धीरे बोलियों से पृथक् होकर, लिखने-पढ़ने तथा साहित्य की भाषाएँ होती गईं त्यों त्यों संस्कृत व्याकरणियों के हस्तक्षेप से उनमें विश्लेषावस्था की विभक्तियों का न्यास होता गया। पर बोल चाल की भाषा में वे अपना रूप परिवर्तन करती, अथवा एक शब्द के स्थान पर दूसरा शब्द ही होकर प्रयुक्त होती चली आईं। अतः षड्भाषा बनने के समय जो विश्लिष्ट विभक्तियाँ बोल चाल में प्रचलित थीं, वे उसमें भी प्रयुक्त हुईं, और राष्ट्रीय अपभ्रंश की संश्लिष्ट विभक्तियाँ भी काम में लाई गईं, जिससे उक्त भाषा विश्लेषावस्था तथा संश्लेषावस्था दोनों से मिश्रितावस्था की भाषा हो गई।

चंद की षड्भाषा में निम्न-लिखित विश्लिष्ट विभक्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं—करण कारक—सम, सों, तें, ते, त। सम्प्रदान कारक—सम, सों, प्रति।

चंद की षड्भाषा का स्वरूप

अपादान कारक—पास, कहँ, कों। संबंध कारक—कत, को, के, की, कैं, केरो, केरौ। अधिकरण कारक—मद्धि, मधि, मझि, माहिं, माहि, महिं, महि, में, मे, मं, पर।[1]

यहाँ इस बात पर ध्यान दिला देना भी आवश्यक है कि यद्यपि षड्भाषा में तृतीयांत कर्ता का प्रयोग बहुतायत से होने लगा था, तथापि उक्त कारक में 'ने' विभक्ति उस समय तक नहीं लगती थी। यह बात प्राचीन साहित्यिक ब्रजभाषा में भी देखने में आती है। नवाब आसफुद्दौला के समय तक की पुरानी उर्दू में भी यह कभी कभी नहीं लगाई जाती थी,—

'न मिलने के दुख उसके सब मैं सहे।
भला अपने जी से व' जीता रहे॥'

---

१ यहाँ निःसंकोच भाव से यह कह देना उचित है कि इन विभक्तियों के अतिरिक्त, सम्भव है, और भी कुछ विभक्तियाँ रासे में निकल आवें क्योंकि इतने बड़े ग्रन्थ के विषय में हम यह निश्चय पूर्वक नहीं कह सकते कि उसमें इतनी ही विभक्तियों का प्रयोग हुआ है।

रासे की भाषा के निदर्शनार्थ उसका १४ वाँ रूपक नीचे उद्धृत किया जाता है—

॥ चन्द अष्टादश पुराणों की अनुक्रमणिका का कथन करता है ॥

ब्रह्मन्य देव सम व्यासुदेव । अठ दस पुरान तिन कहि सुभेव ॥
तिन कहौं नाम परिमान ब्रम्न । जिन सुनत सुद्ध भव होत बम्न ॥
ब्रह्मह पुरान दस सहस जुट्टि । जिहि पढ़त सुनत तन तप्प छुट्टि ॥
पंचास पंच हज्जार गन्नि । पद्मह पुरान तिन कह्यौ बन्नि ॥
तेतीस सहस सैं चारि जानि । विष्णु पुरान विष्णु समानि ॥
चौबीस सहस कहि शिव पुरान । तिहि पढ़त सुनत सम अमिय पान ॥
अट्ठारह सहस भागवत भेव । करि पार परिक्खित सुक्कदेव ॥
नारद पुरान कहि पाव लाख । तहँ मुक्ति मोद आनंद भाख ॥
मारकंड नाम तेइस हजार । पौरान पवित्र सो दुःख जार ॥
पंद्रह हजार संख्या सपूर । अग्नी पुरान पढ़ि पाप दूर ॥
चौदै हजार सै पाँच पट्ठि । भवपित पुरान सो पाप जट्ठि ॥
ब्रह्म वैव्रत सहसं अठार । केवल गिनान कवि भक्ति सार ॥
रुद्रह हजार लिंगह पुरान । आनन्द अर्थ आगम गुरान ॥
चौबीस सहस बाराह भक्ति । पौरव पुरान तिन आंसत सक्ति ॥
हज्जार इक्यासी कहि विवेक । स्कंदह पुरान भंव भक्ति एक्क ॥
ग्यारह सहस्स वामन सुअच्छ । पौरान सुनत सुधि अग्ग पच्छ ॥
सत्रह हजार कूरम पुरान । भाषा विनोद प्राक्रम पुरान ॥
चिद्या हजार मित मच्छ देव । विधि संत उद्धरे सेव भेव ॥
उनईस सहस गरुड़ह पुरान । श्रोतान वक्त भक्ती उरान ॥
ब्रह्मांड पुरान बारह सहस्स । करि व्यास भक्ति प्रभु कंस नस्स ॥
पन्द्रह हजार अरु चार लाख । सम ब्रह्म व्यास कहि चंद भाख ॥

(रासा १ रू० १४॥)

चंद के पश्चात् का कोई ग्रंथ नहीं मिलता। एशियाटिक सोसाइटी के कार्यक्रम वर्णन के प्रथम भाग के १४३ वें पृष्ठ पर चंद के किसी पौत्र द्वारा एक 'कार्य' नामक हम्मीर विषयक ग्रंथ का रचा जाना बतलाया गया है। उसके कुछ छंद 'प्राकृत-पिंगल-सूत्र' नामक ग्रंथ में कई छंदों के उदाहरण में दिए हुए हैं। इनमें से दो छंद निदर्शनार्थ नीचे दिए जाते हैं—

पअभर दर मरु धरनितर निरह धुल्लिअ झंपिअ।
कमठ पिट्ठटर परिअ मेरु मंदरसिर कंपिअ॥
कोहेँ चलिअ हम्मीर वीर गअजुह संजुत्ते।
कियउ कट्ठ हाकंद मुच्छि मेच्छिअ के पुत्ते॥१॥
पिन्धउ दिढ़ संणाह वाह उप्पइ पक्खर दइ।
वन्धु समदि रण धसउ साहि हम्मीर वअण लइ॥
उड्डउ णह पह भमउ खग्ग रिपु सीसहि झल्लउ।
पक्खर-पक्खर ठल्लि पेल्लि पव्वअ अप्फालउ॥
हम्मीर कज्ज जज्जल भणइ कोहाणल महँ मइ जलउ।
सुलितान सीस करवाल दइ तज्जि कलेवर दिअ चलउ॥२॥

उपर्युक्त छंदों में प्राकृत मिश्रित अपभ्रंश है, पर तत्सामयिक देश भाषा का प्रभाव भी उसमें प्रकट है। पहले छंद के चतुर्थ पद में 'के' तथा दूसरे छंद के पाँचवें पद में 'मह' विश्लेषावस्था की विभक्तियाँ प्रयुक्त हुई हैं।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है षड्भाषा में यद्यपि तीनों क्षेत्रों की बोलियाँ मिश्रित थीं, तथापि उसका मुख्य ढाँचा शौरसेनी ढंग का था; अतः उसको शौरसेनी साहित्यक भाषा कहना समुचित है।

शौरसेनी

जिस प्रकार 'महाराष्ट्री प्राकृत' तथा 'राष्ट्री अपभ्रंश' शौरसेनी ढंग की होने पर भी, राष्ट्रीय साहित्यिक भाषा मानी जाती थीं, उसी प्रकार तथा उन्हीं कारणों से 'षड्भाषा' भी साहित्यिक भाषा हो गई। इसका आधिपत्य यद्यपि उतना विस्तृत तो नहीं हुआ तथापि मगध तथा पंजाब प्रदेशों के एक बड़े भाग में इसका प्रचार

अवश्य था। दूर दूर के लोगों की कविता में भी यह अपना प्रभाव कुछ न कुछ झलका देती थी, जैसे विद्यापति ठाकुर तथा श्री गुरु नानक जी के पद्यों में। इसके इतनी व्याप्त भाषा हो जाने पर भी इसका कोई व्याकरण नहीं बना। अतः परम स्वतन्त्र होने के कारण उसने बहुत शीघ्र शीघ्र रूप बदलना आरंभ किया। जो लोग अपनी रचना कुछ बँधी हुई रीति पर करना चाहते थे, वे तो प्राकृत तथा अपभ्रंश का सहारा लेते थे, जैसा कि ऊपर उद्धृत दोनों छन्दों से प्रकट है। पर जो लोग अपनी रचना के प्रचाराधिक्य तथा लोकप्रियता के अभिलाषी थे, वे पद्भाषा ही के किसी रूप में अपने ग्रंथ बनाते थे। ऐसे रचयिता जिस प्रांत के निवासी होते थे, उस प्रांत की भाषा तथा बोलियों का रंग-ढंग उनकी रचना में अधिक झलकता था। शौरसेन प्रदेश में इस प्रकार की पद्य रचनाएँ बहुत अधिकता से हुईं। अतः पद्भाषा ने शनैः शनैः साहित्यिक शौरसेनी का रूप धारण कर लिया। उक्त भाषा में अनेक शौरसेन प्रदेशों की बोलियों के शब्द तथा रूप अधिकता से बढ़ते जाते थे। पर कितने ही शब्द अन्य प्रदेश की बोलियों के भी मिश्रित हो गए थे।

शौरसेनी क्षेत्र में यद्यपि अनेक रूपों की प्रांतीय भाषाएँ तथा बोलियाँ प्रचलित थीं, तथापि वे निम्नलिखित भेदों में विभक्त हो सकती हैं --

(१) राजपूतानी—मारवाड़ी, मेवाड़ी, जयपुरी आदि।

(२) मध्यभारती—ग्वालियरी, बुंदेलखंडी आदि।

(३) अंतर्वेद प्रांतीय—पश्चिम प्रांतीय, अर्थात् व्रजभाषा, पूर्व प्रांतीय अर्थात् कन्नौजी, बैसवाड़ी, अवधी आदि।

(४) हिमालयी—गढ़वाली, कमाऊनी, नेपाली।

यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि अंतर्वेद प्रांतीय से केवल उतने ही भाग की भाषा अभिप्रेत नहीं है, जो गंगा तथा यमुना के बीच में पड़ता है, प्रत्युत गंगा के उत्तर तथा यमुना के दक्षिण के कुछ प्रदेशों का भी, भाषा के निमित्त, अंतर्वेद के अंतर्गत समझना चाहिए। शौरसेनी क्षेत्र की भिन्न भिन्न

प्रांतीय बोलियों के पुराने रूप तो ज्ञात नहीं हैं। पर उनके लिखने पढ़ने की भाषाओं के पुराने रूप तत्प्रान्तीय उपलब्ध ग्रन्थों से लक्षित हो सकते हैं, जैसे रामायण तथा पद्मावत इत्यादि से।

कुछ काल के अनन्तर शौरसेनी प्रांतों से भी कहीं अधिक व्रजप्रांत में कविता का प्रचार हुआ। अतः उक्त भाषा में व्रजप्रांतीय शब्दों तथा रूपों का प्रयोग बहुत अधिकता से होने लगा, यद्यपि अन्य प्रांतीय शब्द भी कुछ कुछ उसमें मिश्रित रहे। अब यह साहित्यिक भाषा ही, जिसको साहित्यिक व्रजभाषा कहना चाहिए, मुख्य साहित्यिक शौरसेनी भाषा हो गई, और उसका संबंध अन्य प्रांतीय साहित्यिक भाषाओं से, जो कि तत्प्रान्तों में बन गई थीं, वही हो गया, जो राष्ट्रीय प्राकृत का शौरसेनी, मागधी तथा पैशाची से था। अन्य प्रांतों के लोग भी प्रायः अपने ग्रन्थ उसी भाषा में रचते थे। वह भाषा उस समय की प्रचलित पश्चिमी तथा पूर्वी अंतर्वेदी भाषाओं के रूपों से कुछ अधिक मिलती थी, पर कुछ प्राचीनतर रूप की थी, और उसमें कुछ ऐसे शब्द तथा रूप भी प्रयुक्त होते थे, जो उस समय के थे जब उक्त प्रान्तीय भाषाओं में विशेष अंतर नहीं पड़ा था। अतः वे दोनों प्रांतीय भाषाओं के प्राचीन रूप कहलाने के अधिकारी थे। इसी प्रकार की प्रायः अन्य साहित्यिक भाषाएँ भी होती हैं।

वैक्रमी १६वीं शताब्दी के मध्य भाग से सौ वर्ष का समय साहित्यिक व्रजभाषा की परम उन्नति तथा सौभाग्य का था। पुष्टिमार्ग के परमाचार्य श्री वल्लभाचार्यजी उस समय व्रज में विराजमान थे। उनके मत में श्रीकृष्णचन्द्र आनंदकंद की सगुण उपासना ही मान्य थी। उनके चार शिष्य—सूरदास जी, कुंभनदास जी, परमानंद दास जी तथा कृष्णदास जी—व्रजभाषा के बड़े-बड़े धुरंधर कवि हुए। उक्त आचार्यजी के पुत्र श्री विट्ठलनाथ जी गोस्वामी के भी चार शिष्य—चतुर्भुजदास जी,

अष्ट छाप के कवि, और व्रजभाषा की आरम्भिक अवस्था

छीत स्वामी जी, नंददासजी तथा गोविंद स्वामी जी—परमोत्तम कवि हुए। ये ही आठों महाकवि ब्रजभाषा के अष्टछाप के कवि कहलाते हैं। इनके अतिरिक्त श्री स्वामी हितहरिवंश जी एवं श्री स्वामी हरिदास जी तथा इन महानुभावों के सम्प्रदाय के अनेक वैष्णव, जैसे श्री व्यास जी, श्री भगवत-रसिक जी तथा श्री बिहारिनिदास जी इत्यादि बड़े सरस तथा महान कवि हुए। ये सब महानुभाव भिन्न भिन्न प्रान्तों के निवासी श्री कृष्ण भक्त थे, और भगवत-लीला-रस का आस्वादन करते हुए ब्रज सेवन करते थे। इनके सत्संग तथा पारस्परिक भगवद्गुण-कीर्तन से ब्रजभाषा की स्वाभाविक सरसता एवं मधुरता में एक विलक्षण ही स्वाद उत्पन्न हो गया। उसमें जो अन्य प्रांतीय शब्द तथा रूप पहले ही से साहित्यिक नियमों के अनुसार बर्ते जाते थे, उनके अतिरिक्त और भी कितने ही अन्य प्रांतीय शब्द तथा रूप सम्मिलित हो गए, और वह एक बड़ी ललित तथा व्यापक भाषा बन गई। यद्यपि ब्रजप्रांत की बोल चाल की भाषा की अपेक्षा उसका रूप कुछ विलक्षण तथा उसका शब्द-कोष विशेष विस्तृत था, तथापि उसका अवतार ब्रजभूमि ही में होने के कारण, उसके रूपों तथा उच्चारणों में प्रचलित ब्रज-भाषा ही की प्रधानता थी। इसके अतिरिक्त उसका मुख्य आधार भी प्राचीन साहित्यिक शौरसेनी तथा ब्रजभाषा ही था, अतः वह ब्रजभाषा ही के नाम से प्रतिष्ठित हुई, और अब तक उसके अनुयायी कवियों की कविता ब्रजभाषा ही की कविता कहलाती है।

यद्यपि सूरदास जी के समय में तथा उनके पूर्व भी ब्रजभाषा के अनेक उत्तमोत्तम कवि हुए, तथापि जितनी रचना सूरदास जी ने की एवं जो श्रेष्ठता, माधुर्य, लोकप्रियता उनकी कविता को प्राप्त हुई, वह अन्य किसी की कविता के बाँटे नहीं आई। अतः उक्त साहित्यिक ब्रजभाषा को सूरदास जी की भाषा कहना अनुचित न होगा। सूरदास जी के समय में उक्त भाषा निरी बाल्यावस्था में थी। जब कोई साहित्यिक भाषा अपनी बाल्यावस्था में रहती है, तब उसके लिखने पढ़ने वालों का ध्यान विशेषतः इस बात पर

रहता है कि किसी प्रकार अपने भाव उसमें प्रकाशित कर दें। उस समय प्रयोगसाम्य अथवा भाषा के अन्य आवश्यक गुण दोषों पर विचार नहीं किया जाता। उसमें अनेक प्रांतों के पदों तथा प्रयोगों के मिश्रित होने के कारण लोग मनमाने शब्दों तथा रूपों का प्रयोग करने लगते हैं। ऐसी दशा में छंदों तथा अंत्यानुप्रासों इत्यादि की आवश्यकताएँ भी प्रयोग-वैषम्य की बड़ी कारण हो जाती हैं। इसके अतिरिक्त, उक्त भाषा के प्रयोक्ताओं में से अधिकांश लोग विशेष पंडित नहीं होते। बहुत लोग तो उसमें ऐसे होते हैं, जो कर्ता, कर्म, क्रिया इत्यादि का भेद भी नहीं जानते। वे इधर उधर सुन सुनाकर उक्त भाषा का ज्ञान संचित कर लेते हैं, और कुछ स्वाभाविक शक्ति संपन्न होने के कारण कविता करने लगते हैं। बस फिर लिखे पढ़े लोग भी उनके प्रयोगों के औचित्यानौचित्य पर बिना विशेष विचार किए ही कहीं कहीं उनका अनुकरण करने लगते हैं। जैसे आजकल के कोई कोई हिन्दी-लेखक वंग भाषा से प्रभावित होकर कोई कोई प्रयोग तदनुसार कर लेते हैं, और फिर अन्य लेखक भी उनकी देखादेखी उनको बरतने लगते हैं। इस प्रकार के विषम तथा व्याकरण-च्युत प्रयोगों के उदाहरण सूरदास जी के समय की कविता में भी बहुतायत से मिलते हैं। जैसे—

प्रथम प्रकार के अकारांत पुलिंग शब्द 'राम' इत्यादि के कर्ता तथा कर्म कारकों के एकवचन रूप का उकारांत तथा अकारांत दोनों प्रयोग। जैसे—रामु, श्यामु तथा राम, श्याम।

कारण-सूचक कृदंतों का कई रूपों से प्रयोग। जैसे—चले, चलें तथा चलै, चलैं।

सामान्य कारक के एकवचन के 'हि' का निरनुनासिक तथा सानुनासिक दोनों प्रयोग। जैसे—रामहि, तोहि तथा रामहिं, तोहिं।

सामान्य कारक के बहुवचन के अकारांत, इकारांत तथा उकारांत तीनों प्रयोग। जैसे—रामन, दगन, रामनि, दगनि तथा रामनु, दगनु।

तिङंत क्रिया के बहुवचन का अंत्यानुप्रास के अनुरोध से निरनुनासिक प्रयोग। जैसे—चलैं, करैं, देखैं इत्यादि के स्थानों पर चलै, करै, देखै इत्यादि।

वर्तमानकालिक कृदंत क्रिया के स्त्रीलिंग का अकारान्त प्रयोग। जैसे—चलति, होति, कहति इत्यादि के स्थानों पर चलत, होत, कहत इत्यादि।

भूतकालिक कृदंत क्रिया के एकवचन के दो रूपों का प्रयोग। जैसे—करयौ, चल्यौ, देख्यौ इत्यादि तथा करौ, चलौ, देखौ इत्यादि; एवं उक्त क्रिया के एकवचन तथा बहुवचन में पंजाबी रूपों—हुआ, गया इत्यादि तथा 'हुए'—का प्रयोग।

तुकांत की आवश्यकता से 'तेरो' के स्थान पर 'तोरौ' का प्रयोग।

पूर्वकालिक कृदंत का इकारांत तथा अकारांत दोनों प्रयोग। जैसे—देखि, बैठि, चलि, इत्यादि तथा देख, बैठ, चल इत्यादि।

प्रयोग-वैषम्य इत्यादि के कुछ प्रकार ऊपर निदर्शनार्थ लिखे गए हैं, क्योंकि सब प्रकारों को छाँटकर लिखना बड़ा दुस्तर कार्य है। इनसे विदित होता है कि उस समय साहित्यिक ब्रजभाषा एक बड़ी अव्यवस्थित दशा में थी। प्राकृत तथा अपभ्रंश के रूपों को तो व्याकरणियों ने शनैः शनैः सुश्रृंखल तथा व्यवस्थित बना दिया था, यद्यपि उसमें भी कभी कभी उच्छृंखल प्रयोग कोई कोई कर लेते थे। षड्भाषा के सश्रृंखल होने के पूर्व ही उसका स्थान साहित्यिक ब्रजभाषा ने ले लिया अतः उसका कोई व्याकरण न बन सका। क्योंकि किसी भाषा के सुव्यवस्थित होने तथा व्याकरण इत्यादि बनने में बहुत समय लगता है। अतः उक्त ब्रजभाषा को अपनी पूर्ववर्तिनी भाषा का सहारा भी अपनी सुव्यवस्था के निमित्त न प्राप्त हो सका। तो फिर उसमें आरंभ काल में अनेक प्रकार के प्रयोग-वैषम्यों तथा अव्यवस्थित रूपों का होना कोई आश्चर्य की बात नहीं।

आरम्भ में प्रत्येक भाषा की यही दशा होती है। फिर शनैः शनैः उसके प्रयोक्ताओं में से शक्तिशाली तथा विचारशील लोगों को उसकी उच्छृङ्खलता तथा विषमता खटकने लगती है, और वे क्रमशः उसके उच्छृङ्खल प्रयोगों का त्याग तथा सुप्रयोगों का ग्रहण करने लगते हैं, जिससे क्रमशः वह भाषा परिमार्जित तथा सुश्रृंखल होने लगती है।

भाषा का नियमन और उसके युक्त साधन

अन्ततोगत्वा कुछ अन्वेषण-शक्ति-सम्पन्न तथा अधिक विचारवान व्यक्ति उसको पूर्णतया नियमबद्ध करने पर उद्यत हो जाते हैं और उसका व्याकरण बना डालते हैं। यहाँ यह आशंका उपस्थित हो सकती है कि जब किसी भाषा के आदि प्रयोक्ताओं में से अच्छे अच्छे कवियों आदि ने एक ही शब्द अथवा पद का कई प्रकार से प्रयोग किया है, तब फिर पीछे के संशोधकों को इनमें से किसी को उच्छृङ्खल तथा किसी को शुद्ध समझने अथवा ठहराने का क्या अधिकार है? किसी रूप का त्याग तथा किसी का ग्रहण केवल उनकी रुचि, अभ्यास तथा संस्कार पर निर्भर है, अथवा उक्त चुनाव के निमित्त कुछ युक्त साधन भी हैं? इसके उत्तर में यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि सुप्रयोग-निर्धारण केवल रुचि, अभ्यास तथा संस्कार पर निर्भर नहीं होता, प्रत्युत् उसके लिए अनुसन्धान करने से अनेक युक्तियाँ भाषा ही में प्राप्त हो जाती हैं, जिनका अन्वेषण तथा उपयोग सुधारक एवं वैयाकरण को बड़े श्रम, सूक्ष्म विचार और सावधानी से करना पड़ता है। प्रत्येक भाषा के भिन्न भिन्न देश, काल तथा प्रयोक्ताओं के व्यवहार, स्वभाव इत्यादि एवं अन्य अनेक व्यवस्थाओं के कारण ये युक्तियाँ भिन्न प्रकारों की होती हैं। उनमें से कुछ, जो साहित्यिक व्रजभाषा के अनुकूल हैं, निदर्शनार्थ नीचे लिखी जाती हैं—

(१) प्रयोग-बाहुल्य-ग्रहण—प्रायः ऐसा होता है कि किसी पद के दो रूपों में से एक का प्रयोग बहुतायत से तथा बहुत लोगों के द्वारा होता है, और अन्य का न्यून तथा अल्प लोगों के द्वारा। ऐसे पदों के रूपों में से

संशोधकों को अन्वेषण करके प्रायः बहुप्रयुक्त रूपों को ग्रहण करना पड़ता है।

(२) शिष्ट-प्रयोग-ग्रहण—कितने ही पदों के दो रूपों में से एक रूप तो विशेषतः श्रेष्ठ कवियों की रचनाओं में दिखाई देता है, और अन्य रूप सामान्य जनों की। ऐसे पदों के रूपों में से संशोधक को शिष्ट जनों के प्रयोग ग्राह्य होते हैं।

(३) लोक-व्यवहार-ग्रहण—जब प्रयोग-बाहुल्य तथा शिष्ट प्रयोग से किसी पद के दो रूपों में से ग्राह्य रूप का निर्णय संदिग्ध रह जाता है, तब संशोधक को लोक व्यवहार का विचार करना पड़ता है, और वह तदनुसार रूप का ग्रहण करता है। प्रत्युत् कभी कभी प्रयोग-बाहुल्य तथा शिष्ट प्रयोग के निर्णय के विरुद्ध भी लोक व्यवहार का अनुसरण उचित होता है।

(४) पूर्वरूप—कभी कभी किसी पद के ग्राह्य रूप का निर्धारण करने के निमित्त निर्दिष्ट भाषा के पहले की भाषा में उक्त पद के स्वरूप की जाँच करनी पड़ती है, और तदनुसार ही उसके रूप का ग्रहण किया जाता है।

(५) आपत्प्रयोग-परित्याग—प्रायः पदों के दो रूपों के प्रयोगों के विषय में यह बात देखने में आती है कि एक रूप तो कविजनों ने सामान्यतः प्रयुक्त किया है, और अन्य रूप छंद अनुप्रासादि की आपत् अर्थात् आवश्यकता से। ऐसे रूपों पर विचार करके संशोधक को आपत्प्रयुक्त रूपों का परित्याग करना उचित होता है।

(६) आपत्प्रयोगानुकरण-परित्याग—बहुधा लोग अपने पूर्व के कविजनों के आपत्प्रयुक्त रूपों की देखा देखी विना किसी आवश्यकता के भी उनका प्रयोग करने लगते हैं। ऐसे रूपों के आपत्प्रयुक्त न होने पर भी संशोधक को सूक्ष्म दृष्टि से विचार करके उनका परित्याग करना होता है।

(७) संदिग्ध-प्रयोग परित्याग—किसी किसी शब्द के दो रूपों में से

एक रूप तो उक्त पद के प्रातिपदिक के अन्य किसी पद के रूप से मिल जाता है, तथा अन्य रूप उक्त प्रातिपदिक के अन्य पदों से भिन्न होता है। ऐसी दशा में संशोधक को प्रायः उस रूप का परित्याग उचित होता है, जो अन्य रूप से मिल जाता है।

(८) सांसर्गिक पद का परित्याग—किसी किसी पद के दो रूपों में से एक तो निर्दिष्ट भाषा के प्रयोक्ताओं द्वारा स्वभावतः प्रयुक्त होता है, और दूसरा विदेशी जनों—जैसे यवनादिकों के संसर्ग से प्रयुक्त होने लगता है। इनमें से प्रायः सांसर्गिक रूप त्याज्य है।

(९) लेख-लाघव-प्रयोग-परित्याग—किसी किसी पद के दो रूपों के लिखने में एक तो उच्चारण के अनुसार लिखा जाता है, और दूसरे में लेखक की असावधानी के कारण अंत्य इकार अथवा उकार इत्यादि लगाना रह जाता है, और फिर कुछ लोग प्रयत्न लाघव के अनुरोध से वैसा ही लिखने लगते हैं। भाषा-संशोधक को ऐसे पदों का अनुसंधान करके उनके शुद्ध लिखने की प्रथा प्रचलित करनी होती है।

भाषा-परिशोधन के निमित्त कुछ स्थूल उपयुक्त युक्तियाँ ऊपर प्रदर्शित की गईं। इनके अतिरिक्त यथावसर संशोधन को अपनी विवेचन शक्ति से अनेक युक्तियाँ निकालकर काम करना पड़ता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि सब पदों के रूप निर्धारण करने में सब युक्तियाँ काम नहीं देतीं; किसी पद में एक, किसी में दो और किसी में और अधिक लगानी पड़ती हैं। किसी किसी पद के ग्राह्य रूप निर्धारण करने में एक युक्ति का निर्णय अन्य युक्ति के निर्णय के विरुद्ध पड़ता है। ऐसी दशा में किसी अन्य युक्ति के द्वारा ठीक निर्णय करना पड़ता है।

ऐसी ऐसी अनेक युक्तियों से विचार-शील विद्वान् अपनी भाषा का परिमार्जन आरंभ करते हैं, और फिर वैयाकरण उस कार्य को यथा संभव पूर्ण करके कुछ नियम बना देते हैं, जिन पर ध्यान रखने से परिमार्जित भाषा का प्रयोग शुद्ध तथा शिष्ट हो सकता है।

जैसा ऊपर कहा गया है, सूरदास जी के समय में साहित्यिक ब्रजभाषा प्रारम्भिक अवस्था में थी, अतः स्वभावतः ही उसके पदों के रूप अव्यवस्थित थे, और उनके प्रयोगों में वैषम्य दिखलाई देता था।

भाषा की अव्यवस्थितता

जो लोग संस्कृतज्ञ तथा व्याकरण के सिद्धान्तों के जानकार थे, उनकी आँखों में उसकी अव्यवस्थित स्थिति खटकने लगी, और वे अपनी कविता में यथाशक्ति भाषा का सुधार करने लगे। जो जितने ही विचारशील होते थे, वे अपनी कविता में भाषा का प्रयोग उतना ही संभाल-कर करते थे। पर उनके इस सुधार का पूरा लाभ सब लोगों को नहीं पहुँचता था; क्योंकि यद्यपि वे अपनी कविता में तो भाषा का कुछ सुधार अपने विचारों के अनुसार कर लेते थे, पर अपने सिद्धान्तों को किसी पुस्तक द्वारा प्रकाशित करने का श्रम नहीं उठाते थे। सामान्य कवि यद्यपि उनकी परिमार्जित भाषा से कुछ न कुछ प्रभावित तो अवश्य होते थे, पर सिद्धान्तों के स्पष्ट ज्ञान के अभाव के कारण भाषा-सुधार की आवश्यकता तथा ढंग नहीं समझ सकते थे। प्रत्येक विचारवान् कवि को अपने निमित्त स्वयं अनुशीलन तथा अन्वेषण करना पड़ता था, और भाषा-सुधार की उन्नति यथेष्ट वेग से नहीं हो सकती थी। इतना ही नहीं, प्रत्युत अपने सिद्धान्तों को स्पष्ट रूप से निर्धारित करके लेख में स्थापित न करने के कारण उनमें कुछ ऐसा धुंधलापन बना रहता था कि स्वयं निर्धारित करने वालों की दृष्टि भी कभी कभी चूक जाती थी, और वे भी कहीं कहीं उनके निर्वाह पर ध्यान नहीं रख सकते थे। जितना श्रम कवियों ने रीति ग्रंथों के निर्माण में उठाया यदि उसका अंशांश भी भाषा के सिद्धांत लिखने में उठाते तो बहुत शीघ्र ही वह सर्वथा परिमार्जित तथा सश्रृंखल हो जाती।

भाषा के पुराने कवियों में केशवदास जी संस्कृत के बहुत बड़े पंडित हुए हैं। संस्कृत में भाषा-शुद्धि सर्वोत्कृष्ट गुण माना जाता है। अतएव उसके पंडितों तथा लेखकों को वाक्य-शुद्धि तथा प्रयोग-साम्य पर बहुत ध्यान रखना पड़ता है; वे वाक्य-रचना बड़ी सावधानी से करते हैं।

उनको प्रति वाक्य के कर्ता, कर्म, क्रिया इत्यादि के रूपों की विवेचना करने का तथा समानाधिकरण इत्यादि के निर्वाह का अभ्यास हो जाता है, जिससे मनमाने तथा कामचलाऊ प्रयोग उनकी शिक्षा तथा रुचि के विरुद्ध पड़ते हैं। इसी कारण केशवदास की रचना की भाषा अपेक्षाकृत बहुत सुशृंखल तथा सुधरी हुई है। पर तो भी उनका मुख्य तथा पूर्ण लक्ष्य, भाषा-परिमार्जन न होने तथा सिद्धान्तों की अस्पष्टता के कारण, उनकी रचना के किसी किसी प्रयोग में वैषम्य अथवा उच्छृंखलपन आ गया है, जैसे—

कुजन, कुस्वामी, कुगति ह्य, कुपुर-निवास कुनारि।
परवस, दारिद आदि दै, ये दुख दानि विचारि॥

इस दोहे में विचारि पद, जो आज्ञार्थक है, इकारांत प्रयुक्त हुआ है, पर—

पल्लव, कुसुम, दयालमन, माखन, मृदुल मुरार।
पाट, पामरी, जीभ, पद, प्रेम, सुपुन्य विचार॥

इस दोहे में वही और वैसा ही शब्द अकारान्त है। ऐसे ही अकारांत शब्दों के कर्ता तथा कर्म कारकों के एकवचन के रूप, केशव की रचना में अकारांत तथा उकारांत दोनों प्रकार से मिलते हैं।

स्मरण रहे यहाँ हमें इस बात की मीमांसा नहीं करनी है कि इन दोनों में अमुक रूप शुद्ध तथा अमुक अशुद्ध है, और न यही निश्चित करना है कि दोनों रूपों का प्रयुक्त करना अनुचित ही है। यहाँ हमें केवल इतना दिखलाना अभीष्ट है कि केशवदास जी की कविता में भी कहीं कहीं प्रयोग वैषम्य दृष्टिगोचर होता है।

केशवदास जी के समकालीन तथा परवर्त्ती कवियों में से कई एक के काव्य से लक्षित होता है कि उनका ध्यान साहित्यिक भाषा की अशृंखलता तथा प्रयोग वैषम्य पर आकृष्ट हुआ था। पर छंदों के प्रतिबंध, अंत्यानुप्रासों की अड़चन, श्रेष्ठ-कवि-प्रयुक्त प्रमाणों के सहारे तथा रचनापूर्ति की उत्सुकता के

झमेले में पड़कर वे अपने काव्यों में भाषा के यथेष्ट शुद्ध तथा वैषम्यरहित रूप में प्रयोग करने से वंचित रहे।

बिहारी का पांडित्य और भाषा-परिमार्जन

साहित्यिक व्रजभाषा के सुशृंखल स्वरूप का एक दृढ़ ढाँचा हृदय में स्थिर करके उसी के अनुसार अविचल रूप से अपनी रचना में प्रयोगसाम्य के वर्तने का सुयश तथा गौरव महाकवि श्री बिहारी दास ही को प्राप्त हो सका। उनकी निर्दिष्ट भाषा का कोई व्याकरण उनके समय तक निर्मित नहीं हुआ था, और न किसी एक कवि की रचना ही में ऐसी भाषा मिलती थी जो प्रयोग-वैषम्य रहित और पूर्णतया सुशृंखल कहला सकती और जिसके अनुसार कोई ऐसा व्याकरण बन सकता जो विकल्प प्रयोगों के विधानों से ऐसा न भर जाय कि अंत में उसके अधिकतर नियम विडंबनामात्र भासित होने लगें। अतः बिहारी को पूर्व तथा समकालीन कवियों के प्राप्य उदाहरणों में ऊपर कहे हुए भाषा-संस्कार के यत्नों को चरितार्थ करके यथा संभव एक शुद्ध साहित्यिक भाषा के स्वरूप-नियमों का स्पष्ट ढाँचा अपने हृदय में स्थिर करना पड़ा होगा, और फिर उसी के अनुसार अपनी रचना में दृढ़तापूर्वक शब्दों के रूपों के प्रयोग करने का कष्ट तथा श्रम उठाना पड़ा होगा।

ये दोनों कार्य बड़े श्रम, गंभीर गवेषणा तथा परम पांडित्य के हैं। पहले के निमित्त तो एक प्रकार के कारकों तथा लकारों के अनेकानेक उपयुक्त उदाहरण एकत्र करके उनमें से उचित रूप का ग्रहण करना और तदनुसार व्याकरण का एक ढाँचा स्थिर करना पड़ता है और दूसरे के लिये नियत ढाँचे के अनुसार प्रयोग करने का अभ्यास डालना और छंदों, अनुप्रासों इत्यादि के झमेलों को झेलने में रचना-पूर्ति के प्रलोभन से विचलित न होना। इन दोनों बातों में बिहारी ने पूर्ण सफलता प्राप्त की और उन्होंने अपनी सतसई में परम परिमार्जित तथा वैषम्य-विमुक्त भाषा का प्रयोग किया। पर खेद का विषय है कि उन्हों ने शुद्ध साहित्यिक व्रजभाषा के व्याकरण का ढाँचा अपने

लिये स्थिर किया उसका उद्देश्य केवल अपनी कविता में सुंदर और शुद्ध भाषा लिख पाने का था। उसको उन्होंने व्याकरण का रूप देकर अन्य कवियों के निमित्त पथप्रदर्शक नहीं बना दिया। यदि वे ऐसा कर जाते तो उनके पश्चात् के कवियों को शुद्ध भाषा के प्रयोग में बड़ा सहारा मिलता। उनके पीछे के कवियों के लिये यद्यपि उनकी सतसई में शुद्ध भाषा का एक सुन्दर आदर्श विद्यमान था और जो श्रम बिहारी ने उसके स्वरूप साधन के निमित्त किया था उसकी आवश्यकता न थी तथापि, किसी उपयुक्त व्याकरण के अभाव में, वे उसकी भाषा के मर्म पर विचार न करके पुरानी परिपाटी के अनुसार लिखते पढ़ते चले आए और साहित्यिक ब्रजभाषा का रूप अव्यवस्थित दशा में ही पड़ा रहा।

बिहारी का सबसे बड़ा गुण तथा पांडित्य यह था कि उन्होंने अपनी रचना के निमित्त अपने हृदय में साहित्यिक ब्रजभाषा का एक अत्यंत परिमार्जित तथा यथा साध्य प्रयोग-वैषम्य इत्यादि से रहित ढाँचा तैयार किया और उसी को सम्यक् रूप से काम में लाए। इससे भी अधिक प्रशंसनीय उनका उक्त ढाँचे के सिद्धांतों की रेखा का स्पष्ट रूप से ग्रन्थ में सूचित न होने पर भी उसके धुंधलेपन के कारण अपने लक्ष्य में न चूकना समझना चाहिए। ऐसी प्रयोग-साम्य सम्पन्न तथा नियमबद्ध भाषा में रचना करने तथा कितने ही और प्रयोगों—विशेषतः समासों को बड़ी सफलतापूर्वक काम में लाने--से यह बात स्पष्ट लक्षित होती है कि बिहारी संस्कृत के पूर्ण व्याकरणी थे। उनके संस्कृत काव्य के मर्मज्ञ होने का परिचय, अमरूक-शतक, आर्या-सप्तशती तथा अन्यान्य संस्कृत-काव्य ग्रन्थों की सूक्तियों का बड़ी सफलतापूर्वक अपनी सुष्ठु भाषा में निबद्ध करने से मिलता है। उनके प्राकृत तथा अपभ्रंश का पांडित्य, गाथा-सप्तशती की अनेक गाथाएँ तथा कतिपय अपभ्रंश के छंदों के भावों का अपने दोहों में प्रतिष्ठित करने से प्रदर्शित होता है। उक्त भाषाओं के व्याकरण के सिद्धान्तों का ज्ञान उनके 'अणुरि', 'मैन' इत्यादि अनेक शब्दों के प्रयोग तथा 'रासु'

इत्यादि पदों के साग्रह उकारांत रखने से ज्ञात होता है। साहित्यिक व्रजभाषा पर उनका पूर्ण आधिपत्य तो उनकी रचना में उत्पन्न शब्दों का प्रयोग बड़े बड़े तथा गूढ़ भावों का अल्प शब्दों में प्रकाशित करना एवं भाषा को ऐसी परिमार्जित करने में समर्थ होना इत्यादि गुण पुकार कर कहे देते हैं।

इसी पांडित्य तथा बहुदर्शिता के कारण बिहारी को साहित्यिक व्रजभाषा के विषम तथा मनमाने प्रयोग खटकने लगे और उन्होंने उसके शुद्ध तथा नियम बद्ध रूप का शनैः शनैः एक ढाँचा अपने हृदय में बनाया। इस कार्य में उनको कितने दिन लगे, और इस अवांतर में उन्होंने और कोई ग्रन्थ बनाया या नहीं, यह तो संदिग्ध ही है; पर इतना निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि सतसई का आरम्भ उक्त ढाँचे के तैयार हो जाने के बाद हुआ, क्योंकि इसके सब दोहे परिमार्जित परिपाटी के अनुसार ही दिखाई देते हैं। इस बात में भी सन्देह नहीं कि ऐसे ढाँचे के तैयार होने में बहुत दिन लगे होंगे। ऐसे ढाँचे के निर्माण के निमित्त महर्षि पाणिनी जी को पूर्ण पण्डित होने के पश्चात् बारह वर्ष तपस्या करनी पड़ी थी। यद्यपि उनकी सहायता के निमित्त संस्कृत के अनेक व्याकरण उनके समय में उपस्थित थे। बिहारी के पास व्रजभाषा का अथवा षड्भाषा का कोई पूर्णापूर्ण व्याकरण नहीं था, अतः उनको संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश के व्याकरणों की सहायता से अपना ढाँचा तैयार करना था। इसके अतिरिक्त महर्षि पाणिनी जी के ऐसी न तो इनको निश्चिन्तता सम्भावित थी न एकाग्रता। ऐसी दशा में उक्त ढाँचे के बाँधने में उनको १२-१४ वर्ष लगना कुछ बहुत नहीं कहा जा सकता। इसी अवान्तर में उन्होंने कविता करने का अभ्यास भी बढ़ाया और सुष्ठु तथा उपयुक्त शब्दों पर आधिपत्य भी जमा लिया। अब यदि २०-२५ वर्ष की अवस्था में बिहारी का विद्या संचय से निवृत्त होना माना जाय, तो सतसई का आरम्भ ३५-४० वर्ष की परिपक्व अवस्था के बीच में माना जा सकता है, जैसा कि और कई बातों से प्रतीत होता है। इसी

विद्वत्ता, चिरमनन तथा गम्भीर गवेषण के कारण वे अपनी भाषा के निमित्त ऐसा सुन्दर तथा शुद्ध ढाँचा बनाने में समर्थ हुए। हमारे कहने का अभिप्राय यह नहीं है कि विहारी की भाषा में सर्वथा कोई आशंकनीय प्रयोग है ही नहीं। दो एक पदों के प्रयोगों में कुछ वैषम्य दृष्टिगोचर होता है, जैसे 'उसास' शब्द का स्त्रीलिंग तथा पुल्लिंग दोनों प्रयोग। पर ग्रंथभर में ऐसे दो एक उदाहरण परिगणनीय नहीं हैं। संस्कृत में भी ऐसे वैकल्पिक प्रयोगों के उदाहरण मिलते हैं। इनके होते हुए भी यह बात मुक्तकण्ठ से कही जा सकती है कि जैसी परिमार्जित भाषा लिखने में विहारी समर्थ हुए, वैसी ब्रजभाषा के कवियों मात्र में न तो कोई उनके पूर्व लिख सका, और न उनके पश्चात्। हाँ, विहारी के बाद, आनन्दघन जी ने अपनी कविता में शुद्ध तथा साम्यसम्पन्न भाषा के प्रयुक्त करने का प्रयत्न किया और वे बहुत कुछ कृतकार्य भी हुए। यद्यपि उनकी भाषा विहारी की भाषा के तुल्य तो प्रयोग-साम्य-सम्पन्न एवं परिमार्जित नहीं कही जा सकती तथापि उसको भी कतिपय आवश्यकता-प्रेरित प्रयोगों को अगण्य मानकर आदर्श साहित्यिक ब्रजभाषा माना जा सकता है।

हमारी समझ में विहारी तथा आनन्दघनजी की कविताओं में शुद्ध साहित्यिक ब्रजभाषा का एक सुन्दर और उपयोगी व्याकरण तैयार करने के योग्य पर्याप्त सामग्री विद्यमान है। यदि कोई व्याकरण-बुद्धि-सम्पन्न महाशय इस विषय में उद्योग करें तो वे उक्त भाषा के नियमों को पूर्णतया उक्त ग्रंथों के द्वारा स्थापित कर सकते हैं। यदि किसी ऐसे ही रूप विशेष का नियम इन ग्रन्थों से निर्धारित न हो सकेगा तो उसके लिए उनको अन्य श्रेष्ठ कवियों की रचना में देख-भाल करनी पड़ेगी।

तीसरा प्रकरण

साहित्यिक ब्रजभाषा और बिहारी की भाषा

संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश की भाँति ब्रजभाषा में भी सात कारक होते हैं, पर इसमें विभक्तियाँ षड्भाषा की भाँति संश्लिष्ट तथा विश्लिष्ट दोनों प्रकार की होती हैं।

शब्दों के आठ प्रकार

संश्लिष्ट कारकों के रूपों में शब्दों के अंत्य स्वरों तथा उनके लिंगों के अनुसार भिन्नता होती है, और फिर वचनों के अनुसार भी उनके रूपों में अंतर पड़ता है। अंत्य स्वर के अनुरोध से शब्द आठ प्रकार के होते हैं—अकारांत, आकारांत, इकारांत, ईकारांत, उकारांत, ऊकारांत, ऐकारांत तथा औकारांत। संस्कृत के ऋकारांत शब्द ब्रजभाषा में अकारांत, आकारांत, इकारांत, ईकारांत, उकारांत अथवा ऊकारांत हो जाते हैं। जैसे—मातृ से मात, माता, माइ, माई और मातु। भ्रातृ से भ्रात, भ्राता, भाई इत्यादि। पितृ से पित, पिता और पितु। ऐकारांत तथा औकारांत शब्द 'अ' तथा 'य' एवं 'अ' तथा 'व' के मेल से बन जाते हैं। जैसे हृदय से हृदै, उद्धव से ऊधौ। कोई कोई ऐसे शब्दों का उच्चारण एकारांत अथवा ओकारांत भी करते हैं, पर ब्रजभाषा के उच्चारण-बाहुल्य के अनुसार उनका ऐकारांत अथवा औकारांत ही लिखना अच्छा समझ पड़ता है।

ब्रजभाषा के अकारांत शब्द दो प्रकार के होते हैं। एक तो वे जिनके कर्ता तथा कर्म कारकों के एकवचन रूप उकारांत अथवा अकारांत होते हैं, जैसे 'रामु' अथवा राम और दूसरे वे जिनके उक्त रूप औकारांत होते, हैं

जैसे टीकौ। इस औकारांत रूप की व्युत्पत्ति के विषय में मतभेद है, जिसके उल्लेख की यहाँ आवश्यकता नहीं।

लिंग और वचन

संस्कृत के तीन लिंगों में से नपुंसक लिंग, अपभ्रंश में आते आते, कर्ता तथा कर्म कारकों के पुलिंग और नपुंसक लिंग शब्दों के रूपों के प्रायः एक ही हो जाने के कारण, केवल नाम मात्र को रह गया था, और ब्रजभाषा में उसका सर्वथा लोप होकर दो ही लिंग रह गए थे।

संस्कृत के तीन वचनों में से द्विवचन का परित्याग प्राकृत ही में हो गया था। उसी के अनुसार अपभ्रंश तथा ब्रजभाषा में भी दो ही वचन माने जाते थे।

विशेष कारक तथा सामान्य कारक

जिस प्रकार संस्कृत के कारण, सम्प्रदान तथा अपादान कारकों के द्विवचन रूप एक ही हो गए थे, तथा सम्प्रदान एवं अपादान कारकों के बहुवचन रूपों की यही दशा हुई थी। उसी प्रकार ब्रजभाषा के कर्ता तथा कर्म कारकों के संश्लिष्ट रूप अनेक हेर फेर होते होते एक ही हो गए थे, और करण, सम्प्रदान अपादान, संबंध तथा अधिकरण, इन पाँच कारकों के एक ही रूप। प्रत्युत वे रूप जो करणादिकारकों में प्रयुक्त होते थे कभी कभी कुछ विकार के साथ कर्ता तथा कर्म कारकों में भी बरते जाते थे। जो रूप कर्ता तथा कर्म कारकों में प्रयुक्त होते थे, उनको लाघवानुरोध से 'विशेष कारक' तथा जो सब कारकों में काम देते थे उन्हें 'सामान्य कारक' कहना उचित प्रतीत होता है।

बिहारी द्वारा स्वीकृत रूप तथा उनकी युक्तियाँ

बिहारी ने अपनी परिमार्जित भाषा के निमित्त किस किस जाँच पड़ताल तथा युक्ति के आश्रय से कौन रूप स्वीकृत किया, इसका पूरा विवरण बतलाने के लिए तो एक बृहदाकार ग्रंथ की आवश्यकता है, अतः उनके स्वीकृत रूपों तथा युक्तियों का कुछ दिग्दर्शन मात्र कराया जाता है।

प्रथम प्रकार के अकारांत शब्दों के कर्ता तथा कर्म कारकों के एकवचन

के आदि रूप तो पुरानी व्रजभाषा में अपभ्रंश के अनुसार उकारांत ही होते थे, जैसे—

कर्ता—जाके चरन कमल मुनि बंदत, सो तेरौ ध्यान धरै
धरनी धरु

कर्म—तबहिं सूर निरखि नैननि भरि आयौ उघरि
लाल-ललिता छरु

पर यवन-संसर्ग, लेख-आलस्य तथा तुकांतों की आवश्यकता से उनका बहुत अधिक अकारांत प्रयोग होने लगा था। अतः ऐसे शब्दों के उक्त कारकों में एकवचन के दो रूप प्रयुक्त होने लगे थे, जैसे रामु तथा राम। ये दोनों रूप छंद तथा अनुप्रास के अनुरोध से दीर्घांत कर लिये जाते थे। जैसे—

बहुरि सोच बस भे सियरसनू। कारन कौन भरत आगमनू॥
जद्यपि सकल सील गुन धामा। तदपि अधिक सुखदायक रामा॥

एक ही कारक के एक ही वचन के कई रूपों का यथावसर तथा यथेच्छ प्रयोग कर लेना बिहारी को अपनी शिक्षा, अभ्यास एवं विचार के अनुसार उच्छृंखल प्रतीत हुआ। ऐसे वैकल्पिक प्रयोगों से कभी कभी यथार्थ अर्थ-निर्धारण में संशय पड़ जाता है, विशेषतः ऐसी दशा में, जब कि उनमें से कोई रूप अन्य कारकों में भी प्रयुक्त होता है, और सूक्ष्म तथा गंभीर भाव यथा संभव अल्प शब्दों में कहना अभीष्ट हो। इसके अतिरिक्त ऐसे प्रयोगों से भाषा की अव्यवस्थिति तथा कवि की अप्रौढ़ता अथवा असावधानी भी लक्षित होती है। ऐसे ऐसे कितने विचारों के कारण बिहारी ने उकारांत तथा अकारांत दो रूपों में से अपनी भाषा में एक रूप का प्रयोग करना निर्धारित किया। अब विचार यह उपस्थित हुआ कि जो यथा संभव अन्य कारकों में न प्रयुक्त होता हो, अथवा पूर्व भाषा का अनुयायी हो। बस फिर ये दोनों ही बातें उकारांत रूप में पाकर बिहारी ने अपनी भाषा के निमित्त उसी रूप का ग्रहण कर लिया तथा सतसई भर में प्रयुक्त किया। उसके

दीर्घांत रूप का प्रयोग उन्होंने सर्वथा आदरणीय नहीं समझा अतः उसका प्रयोग कहीं नहीं किया।

प्रथम प्रकार के अकारांत शब्दों के कर्ता तथा कर्म कारकों के बहुवचन रूप अकारांत होते थे, जैसे राम, ये छंदादि की आवश्यकता से दीर्घांत भी कर लिये जाते थे, जैसे रामा। बिहारी ने इस आवश्यकता-प्रेरित प्रयोग का ग्रहण नहीं किया।

द्वितीय प्रकार के अकारांत पुंलिंग शब्दों के उक्त दोनों कारकों के एक-वचन रूप ओकारांत होते थे। जैसे टीको, जो ब्रजभाषा की उच्चारण विशेषता के कारण औकारांत हो गए थे, जैसे टीकौ। बुंदेलखण्ड में विशेषतः ओकारान्त ही प्रयुक्त होते थे। ब्रजभाषा के कवि इनके दोनों रूप लिख देते थे। पर बिहारी ने केवल औकारांत रूप ही ग्रहण किया है, इनके बहुवचन रूप एकारांत होते थे।

अकारान्त पुलिंग शब्दों को छांड़कर शेष सब प्रकारों के शब्दों के रूप कितने ही हेर फेर के पश्चात् उनके प्रातिपदिक रूप ही के रह गए थे। जैसे—रवि, भानु, बाल, धेनु इत्यादि। कितने ही स्त्रीलिंग शब्दों के जो बालैं, अँखियाँ, अली इत्यादि रूप, कर्ता तथा कर्म कारकों के बहुवचनों में, देखने में आते हैं, वे विशेष कारक के रूप नहीं हैं। वे वस्तुतः सामान्य कारक के रूपान्तर मात्र हैं।

साहित्यिक ब्रजभाषा में अनेक परिवर्तनों, आगमों, लोपों इत्यादि के पश्चात् करण से लेकर अधिकरण तक पाँचो कारकों के संश्लिष्ट रूप एक ही हो गए थे। ये रूप एक वचन में हिकारान्त एवं बहुवचन में नुकारांत अथवा निकारांत होते थे।

सामान्य कारक के एकवचन शब्दों के रूप

एकवचन रूप का हिकार ब्रजभाषा की उच्चारण विशेषता के कारण शनैः शनैः हिंकार हो गया था। कारण, ब्रजभाषा में अनेक निरनुनासिक वर्ण भी सानुनासिक बोले जाते हैं। केवल कुछ सर्वनाम वाचक शब्दों में

इसका प्रयोग निरनुनासिक रह गया था। जैसे—याहि, वाहि, जाहि इत्यादि में। पाँचो हिकारान्त कारकों के उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

कर्म कारक—बसन पास तैं ब्रजपतिहिं छिन माहिं छुड़ावै।
दुखित गयंदहिं देखि कै आपुहिं उठि धावै॥

करण कारक—बार बार ब्याजहीं बखानैं।

सम्प्रदान कारक—बहुत सासना दई प्रहलादहिं ताहि निसंक कियौ।

अपादान कारक—मनहुँ चित्र की सी लिखी मुखहिं न आवै बोल।

सम्बन्ध कारक—अंत नहिं लहत दोउ रति बिहारैं। सूर स्याम सुखद धाम् राधा है जाहि नाम।

अधिकरण कारक—विष कौ कीट बिषहिं रुचि मानै जानै कहा सुधारस हीं री।

इस हिकारांत रूप के विषय में अनेक मत हो सकते हैं, जिनकी आलोचना यहाँ विषय के बढ़ जाने के भय से नहीं की जा सकती। एक मत यह है कि यह रूप वस्तुतः सम्बन्ध कारक का एकवचन रूप है, जो कि अन्य कारकों के निमित्त भी प्रयुक्त होता है। जैसे प्राकृत में भी सम्बन्ध कारक कभी कभी कर्मादि सब कारकों के निमित्त आता है।

यह हिकारान्त रूप सब प्रकार के शब्दों का होता था। द्वितीय प्रकार के अकारान्त शब्दों को छोड़कर शेष सब इस हिंकार के पूर्व अपने प्रातिपदिक रूप में दिखलाई देते हैं, जैसे—रामहिं, बामहिं, लरिकाहिं, बालहिं, रविहिं, छविहिं, पिनाकिहिं, बानीहिं, भानुहिं, धेनुहिं, स्वयंभूहिं, बधूहिं इत्यादि। द्वितीय प्रकार के अकारान्त शब्दों के रूप उक्त हिंकार के पूर्व एकारान्त होते हैं, जैसे टीकेहिं, जिससे इन हिकारांत रूपों के वस्तुतः सम्बन्ध कारक के रूप होने के मत की पुष्टि होती है। कभी-कभी छन्द की आवश्यकता से उनके भी एकार ह्रस्व होकर फिर अकार ही रह जाते हैं। जैसे—टीकहिं, सखियहिं, मुनियहिं, भानुवहिं, तथा सखियनु, मुनियनु, भानुवनु इत्यादि रूप जो कभी कभी देखने में आते हैं वे 'क' प्रत्यय के कारण हो जाते हैं।

कभी-कभी अंत्यानुप्रास की आवश्यता से कवि-जन जाहि, ताहि इत्यादि शब्दों के अतिरिक्त किसी किसी शब्द के हिंकार का भी निरनुनासिक प्रयोग कर लेते थे जैसे लेहि, देहि इत्यादि के तुकान्तों के निमित्त तेहि, जेहि इत्यादि। फिर कोई कहीं कहीं ऐसे प्रयोगों की देखा देखी, आवश्यकता बिना भी, इसको निरनुनासिक ही लिख देते थे। छंद की आवश्यकता से इस 'हिं' का प्रयोग बहुधा लोग 'ही' अथवा 'हीं' के रूपों में भी कर लेते थे। पर बिहारी ने 'ताहि' जाहि' इत्यादि शब्दों के अतिरिक्त केवल हिंकारान्त रूप को अपनी भाषा के लिए चुन लिया था। सतसई के किसी किसी दोहे में जो यह 'हिं' दीर्घान्त अर्थात् 'हीं' रूप में दिखाई देता है, उसका कारण यह है कि निश्चय वाचक 'ही' अथवा 'हीं' शब्द ई अथवा ईं होकर उसमें मिला हुआ है। 'रामहिं' 'सखियहिं' 'भानुवहिं' अथवा रामहि, सखियहि, भानुवहि इत्यादि रूप कभी कभी 'ह' कार के लोप तथा अवशिष्ट इंकार अथवा इकार, की संधि से रामें, सखिएँ भानुवें अथवा रामे, सखिये, भानुवे इत्यादि होकर फिर व्रजभाषा की उच्चारण विशेषता के कारण रामैं, सखियैं भानुवैं अथवा रामै, सखियै, भानुवै इत्यादि बन जाते थे। बिहारी ने ऐंकारान्त तथा ऐकारान्त रूपों में से अपनी भाषा के लिए ऐंकारान्त रूप चुन लिया था।

सामान्य कारक के बहुवचन के नुकार अथवा निकार के पूर्व के शब्दों के रूप भी वही हो गए थे, जो हिंकार के पूर्व होते थे। जैसे—

सामान्य कारक के बहुवचन शब्दों के रूप — कर्मकारक—यहि अंतर सखियनि संग लीने चन्द्रावलि तहँ आई।

करण कारक—दिननि हमहिं तुम सखरी तुम छवि अधिकाई।

सम्प्रदान कारक—समुझि चित मैं कहति सखियनि विपुल लै लै नाम।

अपादान कारक—सूरदास कहै सुनौ गूढ हरि भक्तनि भजत अभक्तनि भाजत।

संबंध कारक—स्याम अंगुरियनि अंतर राजत आतुर दुरि दरसाइ।

अधिकरण कारक—पाँइनि परत।

जैसे 'सखियहिं', मुनियहिं, भानुवहिं इत्यादि की भाँति 'न' प्रत्यय के कारण सखियन, मुनियन, भानुवन अथवा सखियनि, मुनियनि, भानुवनि इत्यादि रूप भी काम में आते थे।

इन दोनों रूपों में से 'नु' कारान्त का प्रयोग बुन्देलखण्ड में अधिक था और निकारान्त का व्रजप्रान्त में। पर कवि जन रुचि तथा अवसर के अनुसार दोनों ही रूप काम में लाते थे। यह नुकार अथवा निकार आवश्यकता प्रेरित तथा देखा देखी प्रयोगों में कभी कभी अकारान्त ही रह जाता था, पर बिहारी के हृदय में तो प्रयोग साम्य ने अपना अधिकार जमा रक्खा था, अतः उन्होंने आवश्यकता-प्रेरित प्रयोग नकारान्त की कौन कहे नुकारान्त तथा निकारान्त दो प्रचलित रूपों में से भी एक ही का प्रयोग करना निश्चित किया। सामान्य साहित्यिक व्रजभाषा के कई प्रकार के वैकल्पित रूपों में से बिहारी ने उन रूपों का ग्रहण किया था जो व्रजभाषा के उच्चारण के अनुयायी थे। अतः इन नुकार तथा निकार वाले रूपों में से भी उनका निकार वाले रूप का ग्रहण करना समुचित होता। पर उन्होंने ऐसा न करके नुकार वाले रूप को अपनी भाषा के लिये चुन लिया। कदाचित यह चुनाव उन्होंने इस विचार से किया कि निकार वाले रूप को ग्रहण करने में अनेक पुलिंग बहुवचन शब्दों के रूपों के उन्हीं शब्दों के स्त्रीलिंग एकवचन शब्दों के रूपों से मिलकर कहीं कहीं अर्थ में भ्रम उत्पन्न कर देने का खटका था। जैसे 'जोगिनि' शब्द 'जोगी' का बहुवचन भी हो सकता है और एकवचन 'योगिनी' शब्द का रूपान्तर भी। इसके अतिरिक्त सम्भवतः और भी कई विचारों से उन्होंने यह चुनाव किया होगा।

जिस भाँति अनेक हिकारान्त पदों के रूपान्तर ऐंकारान्त हो जाते थे उसी भाँति कतिपय हेर फेर के कारण कई प्रकार के निकारान्त पदों के भी कुछ रूपान्तर होते थे। वे रूपान्तर विशेषतः स्त्रीलिंग पदों में देखने में आते हैं, जैसे 'बालनि' से बालैं', 'अखियानि' से 'अँखियाँ' अथवा 'अखियैं',

,अलिोने' अथवा 'अलीनि'से'अलीं', 'धेनवनि' से 'धेनुवाँ' अथवा धेनुवैं इत्यादि। ये रूप प्रायः कर्ता तथा कर्म कारकों के वहुवचन में प्रयुक्त होते थे। इन रूपों में से विहारी ने केवल 'वालैं' 'अँखियाँ' 'अलीं' रूपों का ग्रहण किया है।

ये हिकारान्त तथा नुकारान्त अथवा निकारान्त रूप, जैसा कि ऊपर कहा गया है, पाँच कारकों के निमित्त प्रयुक्त होता था और प्रायः कर्म कारक के निमित्त भी। क्योंकि सम्प्रदान कारक के रूप कर्म-कारक-वत वहुधा प्रयुक्त होते हैं, और सम्प्रदान कारक के निमित्त यही हिकारान्त तथा नुकारान्त अथवा निकारान्त रूप काम में आते हैं। सम्प्रदान कारक के रूपों का कर्म-कारकवत प्रत्युक्त होना विश्लिष्ट कारकों प्रयोगों से स्पष्ट विदित हो सकता है। इतना ही नहीं प्रत्युत कर्ता कारक के वहु-वचन रूप में भी किसी किसी शब्द के नुकारान्त अथवा निकारान्त पदों के विकृत रूपों का वैकल्पित प्रयोग होता है, जैसा कि ऊपर कहा गया है। ऐसी दशा में इन हिकार तथा नुकार को सार्वविभक्तिक तथा इनसे वने हुए पदों को सामान्य कारक के रूप अथवा केवल सामान्य कारक कहना उचित प्रतीत होता है। इस सामान्य कारक का प्रयोग व्रजभाषा तथा खड़ी वोली में भी वड़े महत्व का है, अतः इसके विषय में कुछ विशेष लिखा गया।

सार्व विभक्तिक और सामान्य कारक

ऊपर जो वातें कही गई हैं उनसे पाठकों को विदित हो गया होगा कि, रूपों की परिगणना से, साहित्यिक व्रजभाषा की सामान्य शब्द रूपावलियों में केवल दो ही प्रकार के विश्लिष्ट रूप रह गए थे अर्थात् एक तो कर्ता तथा कर्मकारकों के निज रूप, और दूसरे सामान्य कारक के रूप। इनके अतिरिक्त कारण-कारक के एकवचन का एक रूप और भी होता था, जो भूतकालिक कर्म प्रधान वाक्यों में कर्तावत् प्रयुक्त होता था, जैसे 'वान सौं राम वालिहिं मारयौ'। इस वाक्य में 'वान सौं' तो सामान्य करण कारक है, और 'राम' करण कारक का विशेष रूप जो कर्ता-वत् प्रयुक्त

करण-कर्ता अथवा तृतीयान्त कर्ता

हुआ है। संस्कृत में ऐसे कर्ता तथा सामान्य करण कारक के रूपों में कुछ भेद नहीं होता। पर ब्रजभाषा में ऐसे कर्ता के निमित्त करण कारक का रूप कुछ विकृत अथवा संक्षिप्त होकर भी प्रयुक्त होता था, अर्थात् उसमें के अन्त्य 'हिं' तथा 'नु' अथवा 'नि' विकृत अथवा लुप्त हो जाते थे, जैसा कि ऊपर के उदाहरण से विदित होता है। करण-कर्ता के बहुवचन में प्रायः सामान्य कारक के बहुवचन का पूरा रूप ही बरता जाता था, जैसे 'ग्वालनि कह्यौ'। पर कभी कभी उसके निमित्त भी 'नु' अथवा 'नि' का लोप कर दिया जाता था, जैसे 'सब ग्वाल कह्यौ।' ऐसे अवसर पर बहुधा 'सब' इत्यादि कोई बहुवचन व्यंजक शब्द का प्रयोग होता था। कभी कभी करण कारक के रूप बिना विकृत अथवा संक्षिप्त हुए ही करण-कर्ता के एक वचन में भी प्रयुक्त किये जाते थे। ऐसे प्रयोग विशेषतः सर्वनामों के देखने में आते हैं, जैसे बिहारी-रत्नाकर के ६५२ अंक के दोहे में 'कौनैं' तथा 'किहिं' के प्रयोग। ऐसे पद नवीन व्याकरणों में कर्ता के नाम से कहे जाते हैं, अतः उनको करण-कर्ता अथवा तृतीयान्त-कर्ता कहना समुचित प्रतीत होता है।

संज्ञा-वाचक शब्दों के करण-कारक के बहुवचन में से 'नु' अथवा 'नि' के लोप के प्रयोग बहुत ही अल्प मिलते हैं। बिहारी ने इनका प्रयोग कहीं भी नहीं किया है।

विशेषण-वाचक शब्दों में जब बहुवचन विशेष्य उक्त होता है तो बहुवचन विशेषण के नुकार का लोप हो जाता है, जैसे 'आछे घोड़ेनु ल्याऔ' में 'आछेनु' पद में से 'नु' का लोप हो गया है।

सामान्य कारक के अन्य रूप

इस वाक्य को वस्तुतः 'आछेनु घोड़ेनु ल्याऔ' होना चाहिए, क्योंकि विशेषण तथा विशेष्य का समानाधिकरण होता है। पर ऐसे अवसर पर लाघव के अनुरोध से 'नु' का लोप करके आछेनु के अवशिष्ट रूप 'आछे' के प्रयोग करने की प्रथा प्रचलित हो गई थी। किसी किसी ने कभी कभी ऐसे विशेषणों का असंक्षिप्त प्रयोग भी कर लिया है, जैसे—

ताहि देखि मन तीरथनु विकटनु जाइ बलाइ।
जा मृगनैनी के सदा बेनी परसति पाइ॥

खड़ी बोली में भी ऐसे अवसर पर बहुवचन विशेषणों के विकृत रूप ही प्रयुक्त होते हैं, जैसे 'अच्छे घोड़ों को लाओ'। इस वाक्य में 'अच्छे' पद को वस्तुतः 'अच्छों' होना चाहिए था, क्योंकि 'अच्छों घोड़ों' इत्यादि पद वास्तव में 'आच्छेनु घोड़ेनु' इत्यादि पदों के रूपान्तर मात्र हैं। सामान्य-कारक के बहुवचन पदों के विकृत रूपों का ऐसा प्रयोग बिहारी ने भी किया है।

ऊपर कहे हुए रूपों के अतिरिक्त दो रूप सम्बोधन के निमित्त भी प्रयुक्त होते हैं, अर्थात् एक रूप एकवचन का और एक रूप बहुवचन का, ये रूप वस्तुतः सामान्य-कारक के वे ही संक्षिप्त रूप होते हैं जिनका विवरण ऊपर किया गया है। जैसे एकवचन के रूप 'राम' 'टीके' 'सखी' 'धेनु' इत्यादि तथा बहुवचन के रूप 'राम' 'टीके' 'सखी' 'धेनु' इत्यादि। कभी कभी स्त्रीलिंग शब्दों के बहुवचन में वे रूप प्रयुक्त होते हैं जो सामान्य कारक के बहुवचन रूपों से अन्य भाँति बन जाते हैं, जैसे 'हे अँखियाँ' 'हे बालैं' 'हे सखियाँ' इत्यादि। कभी कभी किसी शब्द का सम्बोधन रूप वही प्रयुक्त कर लिया जाता है जो संस्कृत में होता है, जैसे 'राधिके'।

सामान्य कारक के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है उससे विदित होता है कि मूल रूपों के अतिरिक्त उसके दो प्रकार के बिगड़े हुए रूप भी होते हैं। इनमें से एक प्रकार के रूपों में तो 'हिं' अथवा 'नि' के विकृत होने से अन्तर पड़ जाता है, पर उनमें 'हिं' अथवा 'नि' का अस्तित्व लक्षित होता रहता है, जैसे—रामैं, अँखियाँ, अलीं इत्यादि। और दूसरे प्रकार के रूपों में से 'हिं' अथवा 'नु' का सर्वथा लोप हो जाता है, जैसे करण-कारक तथा सम्बोधन के 'राम, टीके सखि', इत्यादि। पहले प्रकार के बिगड़े हुए रूपों को सामान्य कारक के विकृत रूप तथा दूसरे प्रकार के रूपों को उसका संक्षिप्त रूप कहना संगत है। पर लाघव के अनुरोध से हमने इस पुस्तक में उनके निमित्त यथासंख्य 'विकृत-कारक' तथा 'संक्षिप्त-कारक' पारिभाषिक नाम कल्पित कर लिए हैं।

अब नीचे साहित्यिक ब्रजभाषा की कुछ रूपावलियाँ दी जाती हैं, जिससे बिहारी के स्वीकृत तथा अस्वीकृत रूप पाठकों की समझ में आ सकेंगे। इन रूपावलियों में जो रूप बिहारी ने स्वीकृत नहीं किये हैं, वे चौखूटे कोष्टक के भीतर लिखे गए हैं, तथा जो रूप बिहारी की सतसई में मिलते हैं, उन्हें कोष्टक के बाहर लिखकर उनके आगे गोल कोष्टक में वे शब्द जो सतसई में पाए जाते हैं, लिखे गए हैं तथा उन दोहों के अंक भी दे दिए गए हैं जिनमें वे रूप मिलते हैं। बिहारी की प्रणाली पर विचार करके जो रूप तदनुकूल प्रतीत हुए वे भी कोष्टक के बाहर हो गए हैं, पर उनके आगे गोल कोष्टक में उदाहरण तथा अंक नहीं लिखे गए हैं।

साहित्यिक ब्रजभाषा

जिस जिस प्रकार के शब्दों के निमित्त जो जो शब्द ग्रहण किए गए हैं, वे नीचे लिखे जाते हैं। यही शब्द रूपावलियों में लिए जायँगे तथा लाघव के निमित्त किसी एक शब्द से उस प्रकार मात्र के शब्द भी कहे जायँगे, जैसे 'राम' शब्द से प्रथम प्रकार के अकारान्त पुलिंग शब्द इत्यादि।

(१) राम—प्रथम प्रकार के अकारांत पुलिंग शब्दों के निमित्त।
(२) टीक - द्वितीय प्रकार के अकारांत पुलिंग शब्दों के निमित्त।
(३) राजा—आकारांत पुलिंग शब्दों के निमित्त।
(४) रवि – इकारांत पुलिंग शब्दों के निमित्त।
(५) सेनानी—ईकारांत पुलिंग शब्दों के निमित्त।
(६) भानु—उकारांत पुलिंग शब्दों के निमित्त।
(७) स्वयंभू—ऊकारान्त पुलिंग शब्दों के निमित्त।
(८) हर्दै—एकारान्त तथा ऐकारान्त पुलिंग शब्दों के निमित्त।
(९) उधौ—ओकारान्त तथा औकारान्त पुलिंग शब्दों के निमित्त।
(१०) बाल - अकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों के निमित्त।
(११) बाला—आकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों के निमित्त।
(१२) रति—इकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों के निमित्त।
(१३) रानी—ईकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों के निमित्त।
(१४) धेनु—उकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों के निमित्त।
(१५) वधू—ऊकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों के निमित्त।

राम शब्द

	कारक	एकवचन	बहुवचन
विशेष	कर्ता	रामु (स्यामु १, रामु १४१, मिलानु ६२५) [रामा, राम]	राम (नैन २,१३ हवाल ३८) [रामा]
	कर्म	रामु (काननु १३, मानु ६७४) [रामा, राम]	राम (गुन २१, नैन ५०) [राम, राम]
सामान्य तथा विकृत	कर्म	रामहिं (गीधहिं ३१, तनहिं ७४) रामैं (नावैं ३९१) [रामहि, रामहीं, रामहीं] [रामै]	रामनु (काननु १२) [रामनि, रामन]
	करण	रामहिं रामैं [रामहि, रामहीं, रामही, रामौ, रामै]	रामनु (चखनु १२, नैननु ३२) [रामनि, रामन]
	सम्प्रदान	रामहिं (पियहिं ३७८) रामैं [रामहि रामहीं, रामही, रामै]	रामनु (कंजनु ४६) [रामनि, रामन]
	अपादान	× [रामहिं, रामहि, रामहीं, रामही, रामैं, रामै]	× [रामनु, रामनि, रामन]
	सम्बन्ध	× [रामहिं, रामहि, रामहीं, रामैं, रामै]	रामनु(नरनु ४८, सबनु २१५) [रामनि, रामन]
	अधिकरण	रामहिं रामैं (वारैं १८७) [रामहिं, रामहि, रामहीं, रामही, रामै]	रामनु(पवनु २२ लोइननु ६४) [रामनि, रामन]
	करणकर्ता	राम (मैन ३, ठग १७)	रामनु(लोइननु ६६ सबनु २९१)
	सम्बोधन	राम (काग ४३४)	राम(लाल ८,२२, नायक ७१)

टीक शब्द

	कारक	एकवचन	बहुवचन
विशेष	कर्ता	टीकौ (हियौ ८०, टीकौ १०५) [टीको]	टीके (ठाने ४७, बड़े १९१)
	कर्म	टीकौ (हियौ २७, उराहनौ २७२) [टीको]	टीके (सँदेसे ३८३)
सामान्य तथा विकृत	कर्म	टीकेहिं (सकुचेहिं ४२६) टीकैं (नीजैं ५४७, [टीकेहि, टीकेहीं, टीकेही, टीकै]	टीकेनु [टीकेनि, टीकेन]
	करण	टीकेहिं टीकैं [टीकेहि, टीकेहीं, टीकेही टीकै]	टीकेनु (कोड़नु ४८) [टीकेनि, टीकेन]
	सम्प्रदान	टीकेहिं (सकुचेहिं ४२६) टीकैं (तीजैं ५४७) [टीकेहि, टीकेहीं, टीकेही, टीकै]	टीकेनु [टीकेनि, टीकेन]
	अपादान	× [टीकेहिं, टीकेहि, टीकेहीं, टीकेही, टीकैं, टीकै]	×
	सम्बन्ध	× [टीकेहिं टीकेहि, टीकेहीं, टीकेही, टीकैं, टीकै]	× [टीकेन, टीकेनि, टीकेन]
	अधिकरण	टीकैं (उजरैं २६३)	× [टीकेनु, टीकेनि, टीकेन]
	करणकर्ता	टीकेहिं टीकैं (वारैं ५९, काँटैं ६०५) टीके [टीकै]	टीकेनु [टीकेनि, टीकेन] टीकेनु [टीकेनि, टीकेन]
	सम्बोधन	टीकै	टीकै

राजा शब्द

	कारक	एकवचन	बहुवचन
विशेष	कर्ता	राजा (तरयौना २०, भटभेरा २५३)	राजा (बदरा ६३, बटपरा ४७५)
	कर्म	राजा (इजाफा २, डिठौना२८)	राजा
सामान्य तथा विकृत	कर्म	राजाहिं राजैं [राजाहि, राजाहिं, राजाही राजै]	राजानु (चकवानु ४८६) [राजानि, राजान]
	करण	राजाहिं राजैं [राजहि, राजाहीं, राजाही, राजै]	राजानु राजनु (असुवनु २१२, २९३) [राजानि, राजान, राजनि, राजन]
	सम्प्रदान	राजाहिं राजैं [राजाहि, राजाहीं, राजाही, राजै]	राजानु (चकवानु४८६) [राजानि, राजान]
	अपादान	× [राजाहिं, राजाहि, राजाहीं, राजाही, राजैं, राजै]	× [राजानु, राजानि, राजान]
	सम्बन्ध	× [राजाहिं, राजाहि, राजाहीं, राजाही, राजैं, राजै]	राजानु (ददोरनु २४६) [राजानि,राजान,राजनि, राजन]
	अधिकरण	राजाहिं (पग्राहिं ७३) राजैं (योसुवैं ६५४) [राजाहि, राजाहीं, राजाही, राजै]	राजानु (पाँनु ६७५) [राजानि, राजान]
	करणकर्ता	राजा (बिरहा ४२५)	राजानु, राजनु, राजा
	संबोधन	राजा (परेवा ६१९)	राजा

रवि शब्द

कारक		एकवचन	बहुवचन
ऋजु	कर्ता	रवि (हरित-दुति १)	रवि (अहि ४८९)
	कर्म	रवि (गिरि २६)	रवि (अलि ६२८)
सामान्य तथा विकृत	कर्म	रविहिं (छविहिं ८) [रविहि, रविहीं, रविही]	रविनु [रविनि, रविन]
	करण	× [रविहिं, रविहि, रविहीं, रविही]	रविनु (सबहिनु २६८) [रविनि, रविन]
	सम्प्रदान	रविहिं (ससिहिं २२५) [रविहि, रविहीं रविही]	रविनु [रविनि, रविन]
	अपादान	× [रविहिं, रविहि, रविहीं, रविही]	× [रविनु, रविनि. रविन]
	सम्बन्ध	× [रविहीं, रविहि, रविहीं, रविही]	रविनु [रविनि, रविन]
	अधिकरण	रविहिं [रविहीं, रविहि. रविही]	रविनु [रविनि, रविन]
करणकर्ता		रवि (पवि २४)	रविनु [रविनि, रविन]
सम्बोधन		रवि	रवि

आकारांत पुलिंग शब्दों के विषय में यह स्मरण रखना चाहिए कि कभी कभी उनके सामान्य कारक के रूप उनके अन्त्य 'अ' को लघु करके भी बनाए जाते थे। ऐसी दशा में वे रूप प्रथम प्रकार के अकारांत शब्दों के सामान्य-कारक के रूपों के तुल्य ही हो जाते थे, जैसे 'राजहिं' 'राजनु' इत्यादि। जिन कारकों में ऐसे रूपों का प्रयोग सतसई में मिला है उनमें वे रूप राजा शब्द की रूपावली में दिखला दिए गए हैं। उसी प्रकार अन्य कारकों के रूपों के विषय में समझ लेना चाहिए।

इकारान्त शब्द छंद की आवश्यकता से कभी कभी ईकारान्त कर लिए जाते हैं, और इसी प्रकार ईकारान्त शब्द कभी कभी इकारान्त। इकारान्त तथा ईकारान्त शब्दों के कारकों के रूपों में केवल इतना ही भेद है कि एक का अंत्यस्वर ह्रस्व होता है और दूसरे का दीर्घ, जिनमें आवश्यकतानुसार अदला बदली हुआ करती है। अतः ईकारान्त शब्दों की रूपावली यहाँ नहीं लिखी जाती।

उकारान्त तथा ऊकारान्त शब्दों में भी वही भेद है जो इकारांत तथा ईकारांत शब्दों में, और उनके प्रयोगों में भी वैसे ही हेर फेर होते हैं। उनके रूपों तथा इकारांत एवं ईकारांत के रूपों में केवल अंत्यस्वर का भेद होता है, अतः उनकी रूपावली का लिखना भी विस्तार मात्र है।

मुनियनु, भानुवनु इत्यादि, रूपों के विषय में ऊपर कहा जा चुका है। ऊधौ, हद्द इत्यादि के शब्दों के रूपों में 'हीं' अथवा 'नु' के लगने से कोई विकार नहीं उत्पन्न होता, अतः उनकी रूपावलियाँ भी गौरव भय से नहीं लिखी जातीं।

बाल शब्द

	कारक	एकवचन	बहुवचन
विशेष	कर्ता	बाल (लाव १०, नाँव १०)	बाल (भौंह २७२)
	कर्म	बाल (छाँह १२, लपट २२)	बाल (बात ३२,६०)
सामान्य तथा विकृत	कर्ता	×	बालैं (भौंहैं ४१, आँखैं ६२)
	कर्म	बालहिं, बालैं [बालहि, बालहीं, बालही, बालै]	बालनु, बालैं (सौंहैं ४१, मोटैं ४२) [बालनि, बालन]
	करण	बालहिं बालैं [बालहि, बालहीं, बालही, बालै]	बालनु (लपटनु १२४) [बालनि, बालन]
	संप्रदान	बालहिं बालैं [बालहि, बालहीं, बालही, बालै]	बालनु (तियनु २९६) [बालनि, बालन]
	अपादान	× × [बालहिं, बालहि, बालहीं, बालही, बालैं, बालै]	× × [बालनु, बालनि, बालन]
	सम्बन्ध	× × [बालहिं, बालहि, बालहीं, बालही, बालैं, बालै]	× बालनु [बालनि, बालन]
	अधिकरण	बालहिं बालैं (रहचटैं २४२) [बालहि, बालहीं, बालही, बालै]	बालनु [बालनि, बालन]
	करणकर्ता	बाल (बाम ३९)	बालनु [बालनि, बालन, बालैं]
	संबोधन	बाल (बाल १६८)	बाल

बाला शब्द

	कारक	एकवचन	बहुवचन
विशेष	कर्ता	बाला (प्रभा २३)	बाला (रेखा २४०)
	कर्म	बाला (बाधा १, नासा २७)	बाला
सामान्य तथा विकृत	कर्ता	×	बालनु, बालाएँ बालों, (अँखियाँ ६०८)
	कर्म	बालाहिं, बालैं [बालाहि, बालाहीं, बालाही, बालै]	बालानु [बालानि, बालान]
	करण	बालाहिं बालैं [बालाहि, बालाहीं, बालाही, बालै]	बालानु [बालानि, बालान]
	संप्रदान	बालाहिं बालैं [बालाहि, बालाहीं, बालाही, बालै]	बालानु [बालानि, बालान]

सामान्य तथा विकृत	अपादान	× × [बालाहिं, बालाहि, बालाहीं बालाही, बालैं, बाले]	× × [बालानु, बालानि, बालन]
	सम्बन्ध	× × [बालाहिं, बालाहि, बालाहीं, बालाही, बालैं, बाले]	× बालानु [बालानि, बालान]
	अधिकरण	बालाहिं बाल [बालाहि, बालाहीं, बालाही, बालै]	बालानु [बालानि, बालान]
	करणकर्ता	बाला	बालानु [बालानि, बालान]
	संबोधन	बाला (मोर चंद्रिका ६७६) बाले (राधिके २५)	

'बालहिं' रूप के विषय में वही समझना चाहिए, जो 'राजहिं' रूप के विषय में कहा गया है।

रति शब्द

	कारक	एकवचन	बहुवचन
विशेष	कर्ता	रति (जुवति ७)	रति (आँखि ६२)
	कर्म	रति (श्रुति २०)	रति
सामान्य तथा विकृत	कर्ता	×	रत्यैं
	कर्म	रतिहिं (छविहिं ८) [रतिहि, रतिहीं, रतिही]	रतिनु, रत्यैं [रतिनि, रतिन]
	करण	रतिहिं रत्यैं [रतिहि, रतिही, रतिहीं, रत्यै]	रतिनु (आँखिनु ४१) [रतिनि, रतिन]
	संप्रदान	रतिहिं (दुलहिहिं २८८) रत्यैं (सौत्यैं ४०) [रतिहि, रतिहीं, रतिही, रत्यै]	रतिनु (सखिनु २४) [रतिनि, रतिन]
	अपादान	× × [रतिहिं, रतिहि, रतिहीं, रतिही, रत्यैं, रत्यै]	× [रतिनु, रतिनि, रतिन]
	सम्बन्ध	× × [रतिहिं, रतिहि, रतिहीं, रतिही, रत्यैं, रत्यै]	रतिनु [रतिनि, रतिन]
	अधिकरण	रतिहिं (प्रकृतिहिं ३४१) रत्यैं [रतिहि, रतिहीं, रतिही, रत्यै]	रतिनु (आँखिनु ६२) [रतिनि, रतिन]
	करणकर्ता	रति (बेसरि २०)	रति, रतिनु(सौतिनु ३१५)
	सम्बोधन	रति (अलि २७२)	रति

'रति' तथा 'रानी' शब्दों के 'रती' तथा 'रानि' रूपों के विषय में वही समझना चाहिए, जो 'रवि' तथा 'सेनानी' शब्दों के 'रवी' तथा 'सेनानि' रूपों के विषय में कहा गया है। यही बात 'धेनु' तथा 'वधू' शब्दों के रूपांतरों के विषय में भी है। इनकी रूपावलियों के विषय में वही वक्तव्य है जो 'भानु' तथा 'स्वयंभू' शब्दों की रूपावलियों के विषय में कहा गया है।

हमारी समझ में संज्ञावाचक शब्द रूपावलियों के विषय में ऊपर जो कुछ कहा गया है, इतना ही अलम् है।

आशा है, संज्ञावाचक पुलिंग शब्दों की इन रूपावलियों से, जो ऊपर दी गई हैं, पाठकों की समझ में यह बात आ जायगी कि किस किस प्रकार के रूप ब्रजभाषा में प्रयुक्त कर लिए जाते थे, तथा उनमें से किस किस प्रकार के रूपों का ग्रहण बिहारी ने अपनी परिमार्जित भाषा के निमित्त किया है। इन रूपावलियों को ध्यानपूर्वक देखने से यह बात विदित होगी कि सब प्रकार के रूपों में से बिहारी ने केवल चौथाई रूपों के अनुमान अपनी भाषा के निमित्त चुन लिए थे, और उन्हीं को बरतते थे। जो लोग स्वयं काव्य करते हैं, उनको यह बात भली भाँति विदित है कि जिस प्रकार व्याकरणियों को एक मात्रा के लाघव से पुत्रोत्सव का आनन्द प्राप्त होता है, उसी प्रकार कवियों को भी एक अधिक रूप के प्रयोग करने का अधिकार मिलने से। क्योंकि उनको छंदों तथा अंत्यानुप्रासों की आवश्यकता में उससे बड़ी सहायता मिलती है। ऐसी दशा में अनेकानेक रूपों का परित्याग करके काव्य बनाना सामान्य योग्यता के कवियों के वश की बात नहीं है।

सब प्रकार के शब्दों की रूपावलियाँ इस पुस्तक में अति प्रसंग होने के भय से नहीं दी जातीं। पाठकों को ऊपर लिखी हुई रूपावलियों से उनका अनुमान कर लेना चाहिए। आगे हम केवल कुछ आवश्यक बातें सर्वनामों, क्रियाओं तथा अन्य स्फुट शब्दों के विषय में लिखते हैं।

संस्कृत के सर्वनाम वाचक शब्दों ने जो रूप, अपभ्रंश तथा प्राचीन साहित्यिक ब्रजभाषा में, धारण कर लिए थे, उनका ब्यौरा यह है—

	उत्तम पुरुष—अस्मद्=हम
सर्वनाम	मध्यम पुरुष—युष्मद्=तुम
	अन्य पुरुष—तद्, अदस्=तअ, वह;
	एतद्, इदम्, अदस्=यह;
	यद्=जअ
	किम्=कअ

'अदस्' शब्द यद्यपि संस्कृत में दूरस्थ पदार्थ के निमित्त प्रयुक्त होता है, जिसके अनुसार उसको 'वह' आदेश माना गया है, यद्यपि उसके रूपों का प्रयोग कभी कभी निकटस्थ पदार्थों के निमित्त भी किया जाता है, अतः उसके निमित्त 'यह' आदेश भी स्वीकृत किया गया है।

संस्कृत में अस्मद् तथा 'युष्मद्' शब्दों को छोड़कर शेष सर्वनामों की रूपावलियों में लिंग भेद भी होता है। यह भेद अपभ्रंश तक कुछ कुछ होता रहा, पर साहित्यिक ब्रजभाषा में सर्वनामों में यह लिंग भेद नहीं रह गया।

सर्वनाम शब्दों से कौन कौन रूप किस किस हेर फेर से बन गए, इसका उल्लेख संक्षेपता के अनुरोध से न करके अब हम नीचे रूपावलियाँ देते हैं।

इन रूपावलियों में जो रूप बिहारी ने स्वीकृत नहीं किए हैं, वे चौखटे कोष्टक के भीतर लिखे गए हैं, तथा जो रूप बिहारी जी सतसई में मिलते हैं, उन्हें कोष्टक के बाहर लिखकर उनके आगे गोल कोष्टक में वे शब्द जो सतसई में पाए जाते हैं, लिखे गए हैं तथा उन दोहों के अंक भी दे दिए गए हैं जिसमें वे रूप मिलते हैं। बिहारी की प्रणाली पर विचार करके जो रूप तदनुकूल प्रतीत हुए वे भी कोष्टक के बाहर हो गए हैं, पर उनके आगे गोल कोष्टक में उदाहरण तथा अंक नहीं लिखे गए हैं।

'हम' शब्द—अस्मद्

	कारक	एकवचन	बहुवचन,
विशेष	कर्ता	हौं (हौं ८, ११९, ७०१)	हम (हम १०७)
	कर्म	हौं	हम
सामान्य तथा विकृत	कर्ता	× [मैं]	×
	कर्म	मोहिं (मोहिं ५५८, ५६६) [मैं, मोहि, मोहीं, मोही]	हमहिं, हमैं [हमैं, हमहि, हमहीं, हमही, हमनु, हमनि, हमन
	करण	मोहिं (मोहिं ४२७) [मोहि, मोहीं, मोही]	हमहिं हमैं [हमहि, हमहीं, हमही, हमनु, हमनि, हमन]
	संप्रदान	मोहिं (मोहिं ४०९, ५५८ ५६६) [मोहिं, मोहीं, मोही]	हमहि, हमैं [हमहि, हमहीं हमही, हमनु, हमनि, हमन]
	अपादान	× [मोहिं, मोहि, मोहीं, मोही]	× [हमहिं, हमहि, हमहीं, हमही, हमैं, हमनु, हमनि, हमन]
	सम्बन्ध	मो (मो २६, ९१, १३२, २६९) [मोहिं, मोहि, मोहीं, मोही]	हम [हमहिं, हमहि, हमहीं, हमही, हमैं, हमनु, हमनि, हमन]
	अधिकरण	× [मोहिं, मोहि, मोहीं, मोही]	× [हमहिं, हमहि, हमहीं, हमही, हमैं, हमनु, हमनि, हमन]
	करणकर्ता	मैं (मैं ६४, ६६, ६७)	हम

'तुम' शब्द—युष्मद्

	कारक	एकवचन	बहुवचन
विशेष	कर्ता	तूँ (तूँ २५, ६६)	तुम (तुम ६८, २४०)
	कर्म	तूँ, तो (तो ५५६)	तुम
सामान्य तथा विकृत	कर्ता	×	×
	कर्म	[तैं] तोहिं (तोहिं ४०९) [तोहि, तोहीं, तोही, तैं]	× तुमहिं, तुम्हें (तुम्हें १५९) [तुमहि, तुमहीं, तुमही, तुमनु, तुमनि, तुमन]
	करण	तोहिं [तोहि, तोहीं, तोही]	तुमहिं (तुमहिं ५४) तुम्हें (तुम्हें ४२७) [तुमहि, तुमहीं, तुमही, तुमनु, तुमनि, तुमन]
	संप्रदान	तोहिं (४०९) [तोहि, तोहीं, तोही]	तुमहिं, तुम्हें (तुम्हें २८९) तुमहि, तुमहीं, तुमही, तुमनु, तुमनि, तुमन]
	अपादान	× [तोहिं, तोहि, तोहीं, तोही]	× [तुमहिं, तुमहीं, तुमही, तुमनु, तुमनि, तुमन]
	संबंध	तुव (तुव १३२) तौ (तौ २१०, ४२४) [तोहिं, तोहि, तोहीं, तोही, तो, तव]	तुम [तुमहिं, तुमहि, तुमहीं, तुमही, तुमनु, तुमनि, तुमन]
	अधिकरण	× [तोहिं, तोहि, तोहीं, तोही]	× [तुमहिं, तुमहि, तुमहीं, तुमही, तुमनु, तुमनि, तुमन]
	करणकर्ता	तैं (तैं ४२, ३४८)	तुम (तुम ५५८, ६२१)

कर्ता कारक—'राम' शब्द के अनुसार 'हम' शब्द के कर्ता कारक का एकवचन रूप 'हमु' होना चाहिए, जो अपभ्रंश में 'हउँ' होकर साहित्यिक ब्रजभाषा में 'हौं' हो गया। यहीं ब्रजप्रांत में 'हूँ' के रूप में भी बोला जाता है। इसके बहुवचन का रूप 'हम' होता है।

कर्म कारक—कर्म कारक के निज रूप भी वही होते हैं जो कर्ता कारक के।

सामान्य कारक—'हम' शब्द के सामान्य कारक का एकवचन रूप 'हमहिं' तथा बहुवचन रूप 'हमनु' अथवा 'हमनि' होता है। पहले इन रूपों के प्रयोगों का इस प्रकार होना प्रतीत भी होता है, क्योंकि करण कारक का एकवचन रूप 'हौं' प्रयुक्त होता था, और करण कारक के रूप, जैसा कि संज्ञावाचक शब्दों के संबंध में बतलाया गया है,[1] सामान्य कारक ही के अंत्य 'हिं' तथा 'नु' अथवा 'नि' के लोप से बनते हैं।

कर्ता कारक, कर्म कारक, तथा करणकर्ता[2] इन तीनों ही के बहुवचन में 'हम' शब्द के प्रयुक्त होने के कारण उसमें बहुवचन ही पर ध्यान जाता था, अतः शनैः शनैः इस बात का विचार छोड़कर कि 'हिं' एकवचन की विभक्ति है, 'हमहिं' शब्द बहुवचन माना जाने तथा इसी प्रकार प्रयुक्त होने लगा। जब 'हमहिं' का प्रयोग क्रमशः घटने लगा, यद्यपि सर्वथा लुप्त नहीं हुआ, तब सामान्य कारक के एकवचन के निमित्त एक नए रूप की आवश्यकता पड़ी, जिसके लिए संस्कृत का 'मम' रूप काम में लाया गया। इसी 'मम' का विकृत रूप 'मो' 'हिं' के संयोग से सामान्य कारक के एकवचन रूप का काम देने लगा।

संस्कृत के संबंध कारक 'मम' को जो 'मे' आदेश हो जाता है, उससे भी साहित्यिक ब्रजभाषा में 'मेहिं' होकर फिर सामान्य कारक का 'मैं' रूप बन जाता है, जो कर्ता कारक तथा करण कर्ता के एकवचन में प्रयुक्त होता है।

१—देखिए तीसरा प्रकरण, सामान्य कारक के रूप।

२—तृतीयांत कर्ता।

पर बिहारीने इसका प्रयोग केवल करणकर्ता में किया है, और 'हौं' का प्रयोग केवल कर्ता कारक में। इस प्रकार 'हम' शब्द की संक्षिप्त रूपावली यह हुई—

कारक	एकवचन	बहुवचन
विशेष	हौं [मैं]	हम
सामान्य	मोहिं, मैं	हमहिं [हमनु, हमनि, हमन]
करणकर्ता	मैं [हौं]	हम

अन्य सर्वनामों की रूपावलियाँ विषय के बढ़ने के भय से नहीं दी जातीं। उनका अनुमान 'हम' शब्द की रूपावली से पाठकों को कर लेना चाहिए।

अब हम कुछ विश्लिष्ट विभक्तियों तथा रूपों के विषय में संक्षेपतः लिखते हैं।

जैसा ऊपर कहा गया है, साहित्यिक ब्रजभाषा में कारकों के दो प्रकार के रूप प्रयुक्त होते हैं, अर्थात् संश्लिष्ट तथा विश्लिष्ट। संश्लिष्ट रूपों के विषय में तो यत्किंचित् पीछे कुछ कहा गया है, अब विश्लिष्ट कारकों के विषय में कुछ कहना आवश्यक है।

विश्लिष्ट कारक

विश्लिष्ट कारकों की जो विभक्तियाँ साहित्यिक ब्रजभाषा में होती हैं, उनमें से भी बिहारी ने कुछ विभक्तियाँ अपनी भाषा के निमित्त चुन ली थीं, जिनका ब्यौरा नीचे लिखा जाता है।[1]

कर्म—कौं (२७,४९)
सौं (४१, ६३,६६, १९१)
[कों, को, कौ, प्रति]

१, जो विभक्तियाँ बिहारी की सतसई में पाई जाती हैं उन्हें गोल कोष्ठक के बाहर लिखकर, कोष्ठक में उन दोहों के अंक लिख दिए गए हैं जिनमें वे प्रयुक्त हुई हैं। तथा जो विभक्तियाँ बिहारी द्वारा, अपनी भाषा के निमित्त, स्वीकृत नहीं हैं उन्हें चौखूटे कोष्ठक में लिख दिया गया है।

करण—सौं (१२,२१,३२,३८)
[सों, तैं, तें, ते, पाहिं, पहिं, पैं, सेती, सन]
संप्रदान—कौं (२७, ४७)
सौं (४३, ६३, ६६, १२१)
[कों, को, कौ, प्रति]
अपादान—तैं (३, ६७, ९०)
पैं (४९, ८१, १४६)
[सौं, सों, तैं, ते, पाहिं, पहिं, सेती, सन]
संबंध — कौ (२, २५)
के (२१, ६१)
की (१०, १६)
कैं (७, ३०, ४८, ५३, ५८, १६९)
[को, कै]
अधिकरण — माहिं (६)
माहँ (१२)
महिं (६७४)
मैं (१०)
पर (२५, ६०)
बीच, बिच (११८)
[मध्य, मधि, माँझ, पाहिं, पहिं, पैं, में]
करण कर्ता— ×
[ने, नै, नैं]

ऊपर लिखी हुई विभक्तियों की सूची से भी विदित होगा कि विहारी ने अपनी भाषा के निमित्त कितनी अल्प विभक्तियाँ चुन ली थीं। इसके अतिरिक्त विहारी ने इस बात पर भी पूर्ण ध्यान रक्खा था कि करणकारक की विभक्ति का प्रयोग अपादान कारक में तथा अपादान कारक की विभक्ति

का प्रयोग करणकारक में न किया जाय, और करणकर्ता की विभक्ति 'ने' का प्रयोग उन्होंने किसी रूप में भी नहीं किया।

ये विभक्तियाँ संश्लिष्टावस्था के सामान्य कारक के रूपों में लगाई जाती हैं; पर उक्त सामान्यकारक का एकवचन रूप इन विभक्तियों के लगने के पूर्व संक्षिप्त रह जाता है। जैसे, एकवचन 'रामकौं', बहुवचन 'रामनुकौं। स्पष्टीकरण के निमित्त 'टीक' शब्द की रूपावली नीचे दी जाती है। इसी से बिहारी की अन्य शब्दों की रूपावलियों तथा सामान्य ब्रजभाषा की रूपावलियों का अनुमान कर लेना चाहिए।

'टीक' शब्द

कारक	एकवचन	बहुवचन
कर्ता	टीकौ (गहनौ १९१ हियौ ३२३)	टीके (बड़े १९१, सुहाए २७१)
कर्म	टीकौ (हियौ २५२, अँधेरौ ३५७)	टीके (खरे २४८)
करण	टीके सौं	टीकेनु सौं (बड़ेनु सौं ४२१)
सम्प्रदान	टीके कौं (कहिबे कौं २३६, बसिबे कौं २६६)	टीकेनु कौं
	टीके सौं (धतूरे सौं १९१)	टीकेनु सौं
अपादान	टीके तैं (गनिबे तैं २७४)	टीकेनु तैं (घूटेनु तैं ६६६)
	टीके पैं	टीकेनु पैं
सम्बन्ध	टीके कौ, टीके कं (गुहिबे के ४८०)	टीकेनु कौ
	टीके की (चाले की १२४, जाड़े की २८२)	टीकेनु के
		टीकेनु की
	टीके कैं (चूहे कैं १२१, लेबे कैं ३८६)	टीकेनु कैं
अधिकरण	टीके—माहिं, माहँ, महिं, मैं (बरोटे मैं २२३), पर	टीकेनु—माहिं, माहँ, महिं, मैं, पर
करणकर्ता	टीकें	टीकेनु
सम्बोधन	टीके	टीके

शब्द रूपावलियों का कुछ आवश्यक निदर्शन कराने के पश्चात् अब हम क्रियाओं के विषय में कुछ लिखते हैं।

क्रिया

क्रियाएँ दो प्रकार की होती हैं, (१) तिङन्त तथा (२) कृदन्त। प्राचीन साहित्यिक व्रजभाषा में तिङन्त क्रियाओं का प्रयोग न्यून और कृदन्त क्रियाओं का प्रयोग अधिक होता था। यह न्यूनता तथा अधिकता शनैः शनैः बढ़ती गई। यहाँ तक कि खड़ी बोली में आते-आते केवल कतिपय प्रयोग विशेषों के अतिरिक्त तिङन्त क्रियाओंके प्रयोग का अभाव ही सा हो गया। तिङन्त क्रियाओं में काल, वचन तथा पुरुष के अनुसार विकार होता है, पर लिंग-भेद नहीं होता। कृदंत क्रियाओं में काल, वचन तथा लिंग के अनुसार विकार होता है, पर स्वयं कृदंत पद में पुरुष भेद नहीं होता। पुरुष-भेद अपूर्ण क्रिया अथवा सहकारी क्रिया से लक्षित होता है, क्योंकि कृदंत पद वस्तुतः क्रिया नहीं होते, प्रत्युत धातुओं से बने संज्ञावाचक शब्द ही होते हैं, और कभी कभी संज्ञाओं की भाँति भी प्रयुक्त होते हैं। उनके साथ प्रायः 'है' 'हैं' इत्यादि का प्रयोग अपूर्ण क्रिया की भाँति होता है, और वे उन अपूर्ण क्रियाओं के पूर्तिमात्र होते हैं, जैसे 'रामु चलतु है' इस वाक्य में 'चलतु' पद कृदंत है जो कि 'है' के साथ प्रयुक्त हुआ है। 'चलतु है' में 'है' तो अपूर्ण क्रिया है और 'चलतु' उसकी पूर्ति। इस वाक्य में 'चलतु' का प्रयोग वैसा ही है, जैसे 'रामु आछो है' वाक्य में 'आछो' शब्द का, अर्थात् 'चलतु' शब्द विशेषण की भाँति प्रयुक्त हुआ है। इस वाक्य का यह अर्थ हुआ कि राम चलती हुई अवस्था में वर्तमान है। ऐसे वाक्यों में प्रायः अपूर्ण क्रिया का लोप भी कर दिया जाता है। यह लोप पद्यात्मक वाक्यों में विशेष देखने में आता है, और भूतकालिक कृदंतों के ऐसे प्रयोगों में तो क्रिया सामान्यतः लुप्त ही रहती है, जैसे—रामु चल्यौ, संस्कृत में भी वर्तमानकालिक कृदंतों के साथ तो, 'अस्ति', 'असि', 'अस्मि' इत्यादि क्रियाओं का प्रयोग होता है। जैसे—रामः

चलन्नस्ति, त्वं चलन्नसि, अहं चलन्नस्मि। पर भूतकालिक कृदंतों के साथ क्रियाओं का विशेषतः लोप ही रहता है। जैसे—रामः चलितः, त्वं चलितः, अहं चलितः। कृदंत शब्दों के विशेषणवत् प्रयुक्त होने ही के कारण उनका समानाधिकरण कर्ता से होता है, जैसे—रामु चलतु है। इस वाक्य में 'रामु' पद एकवचन पुलिंग कर्ता कारक है तो 'चलतु' पद भी एकवचन पुलिंग कर्ता कारक ही है। पर 'राम चलत हैं' इस वाक्य में 'राम' पद पुलिंग बहुवचन कर्ता कारक है, तो 'चलत' पद भी बहुवचन पुलिंग कर्ता कारक ही है। इसी प्रकार 'सखी चलति है', 'सखियाँ चलति हैं', 'वह चल्यो,' 'वे चले', 'वे स्त्रियाँ चलीं' इत्यादि वाक्यों में समझना चाहिए।

इन दोनों प्रकारों की क्रियाओं के पाँच प्रकार के प्रयोग होते हैं, अर्थात् (१) निश्चयार्थक, (२) संभावनार्थक, (३) संदेहार्थक, (४) आज्ञार्थक, तथा (५) संकेतार्थक। अब हम संक्षेपतः क्रियाओं के रूपों के विषय में कुछ लिखते हैं।

अकर्मक क्रियाओं के निमित्त 'चल' धातु तथा सकर्मक क्रियाओं के निमित्त 'कह' (कथ) धातु का ग्रहण किया गया है। पर दोनों की रूपावलियों में कुछ भेद नहीं है, अतः 'चल' धातु के विषय में जो कुछ कहा जाता है, वही 'कह' धातु के विषय में समझना चाहिए।

तिङन्त परिक्रिया
(वर्तमान काल)

अन्य पुरुष—संस्कृत में 'चल' धातु के वर्तमानकालिक अन्य पुरुष के दो रूप 'चलति' तथा 'चलते' होते हैं। क्योंकि 'चल' धातु आत्मनेपदी और परस्मैपदी दोनों माना जाता है। इनमें 'चलति' तो परस्मैपदी रूप है, और 'चलते' आत्मनेपदी। अपभ्रंश में आते आते इन दो रूपों के चार रूप हो गए थे, अर्थात् 'चलदि' 'चलइ' 'चलदे' 'चलए'। अपभ्रंश के पश्चात् की भाषाओं में आत्मनेपद क बखेड़ा छोड़ दिया गया था। उनमें आत्मनेपद के रूप भी परस्मैपद के रूपों की भाँति बनते थे। अतः उनमें 'चलदि' 'चलइ' इन दोनों रूपों का ग्रहण हुआ। साहित्यिक ब्रजभाषा में इन दोनों रूपों में से 'चलइ' काम में

लाया गया, जिसके रूपांतर, संधि के कारण 'चलै' एवं हकार के आगम के कारण 'चलहि' भी प्रयुक्त होने लगे। इन तीनों रूपों में से विहारी ने 'चलै' रूप का ग्रहण किया। पर दीर्घांत धातुओं के हिकारान्त रूप भी उन्होंने वर्ते, जैसे—जाहि। अब आगे संस्कृत के जो रूप कहे जायँ, उनसे परस्मैपदी रूप ही अभिप्रेत हैं।

संस्कृत में 'चल' धातु के वर्तमानकालिक अन्य पुरुप का बहुवचन रूप 'चलन्ति' होता है, जिसने अपभ्रंश में दो रूप धारण कर लिए थे—चलहिं और चलंति। ये ही रूप ब्रजभाषा में 'चलँहि' तथा 'चलँइ' रूप से प्रचलित हुए, और 'चलँइ' से संधि होकर 'चलैं' एवं 'चलँहि' से अनुस्वार के व्यत्यय के कारण 'चलहिं' रूप भी बन गए। विहारी ने इन रूपों में से 'चलैं' रूप का ग्रहण किया, पर दीर्घांत धातुओं के हिकारांत रूप भी प्रयुक्त किए।

मध्यम पुरुष—मध्यम पुरुप में एकवचन का रूप संस्कृत में 'चलसि' होता है, जिसके अपभ्रंश में दो रूप हो गए थे—चलसि, चलहि। ये दोनों ही रूप साहित्यिक ब्रजभाषा में ग्रहण किए गए। पर 'चलसि' का प्रयोग वैसवाड़ी इत्यादि में अधिक हुआ, और 'चलहि' का ब्रजभाषा में। इस 'चलहि' रूप में से 'ह्' का लोप होकर 'चलइ' तथा 'चलै' रूप भी बन गए। विहारी ने इनमें से 'चलै' रूप ग्रहण किया।

संस्कृत में बहुवचन रूप 'चलथ' होता है, जिससे अपभ्रंश में 'चलह' 'चलहु' इत्यादि रूप बनते थे। उनमें से ब्रजभाषा में 'चलहु' रूप लिया गया, जो 'ह' के लोप से 'चलउ' और फिर 'चलौ' भी हो जाता था। इनमें से विहारी ने 'चलौ' रूप स्वीकृत किया है।

उत्तम पुरुष—संस्कृत में उत्तम पुरुप के लिए एकवचन रूप 'चलामि' होता है, जिससे अपभ्रंश में 'चलमि' 'चलउँ' दो रूप बन गए थे। ब्रजभाषा में 'चलउँ' रूप का ग्रहण हुआ, जो कि संधि के कारण 'चलौं' एवं हँकार के आगम के कारण 'चलहुँ' रूप में भी प्रयुक्त होने लगा। विहारी ने इनमें से चलौं रूप बरता है।

संस्कृत में बहुवचन रूप 'चलाम' होता है, जिससे अपभ्रंश में 'चलमु' 'चलम' 'चलहुँ' इत्यादि रूप बन गए थे। साहित्यिक ब्रजभाषा में 'चलम' रूप से 'चलयँ' होकर 'चलइँ' हो गया, और फिर इसके रूप 'चलैं' तथा 'चलहिं' भी बन गए। इनमें से 'चलैं' रूप बिहारी द्वारा व्यवहृत हुआ है। दीर्घांत धातुओं के मध्यम तथा उत्तम पुरुषों के इकारांत रूपों के विषय में वही समझना चाहिए, जो ऐसी धातुओं के प्रथम पुरुष के रूपों के विषय में कहा गया है।

तिङन्त रूपावलियाँ

'चल' तथा 'जा' धातु

निश्चयार्थक

वर्तमान काल

पुरुष	एकवचन	बहुवचन
अन्य पुरुष	चलै (भोगवै ५) [चलइ, चलहि] जाइ (जाइ ७,३९) जाहि (जाहि ४८६)	चलैं (लखैं ९, सहैं १८९) चलहिं (मानहिं १६०) जाँहिअथवाजाहिं(जाँहि १७७) [जाँइ, जाइँ]
मध्यम पुरुष	चलै [चलइ, चलइ] जाहि जाइ	चलौ [चलहु, चलह] जाहु [जाउ]
उत्तम पुरुष	चलौं (वारौं २९, करौं, ४७) [चलउँ, चलहुँ] जाहुँ [जाउँ]	चलैं [चलइँ, चलहिं] जाहिं [जाइँ]

यहाँ एक बात ध्यान देने की यह है कि पुरानी साहित्यिक ब्रजभाषा में अन्यपुरुष के बहुवचन रूपों तथा उत्तम पुरुष के बहुवचन रूपों में यह भेद होता था कि अन्य पुरुष के बहुवचन रूपों में अर्धानुस्वार अंत्य 'इ' अथवा 'हि' के पहले अक्षर पर लगाया जाता था, और उत्तम पुरुष के बहुवचन रूपों में अंत्य 'इ' अथवा 'हि' पर। ब्रजभाषा की पुरानी लिखी हुई पुस्तकों में प्रायः यह परिपाटी देखने में भी आती है। पर शनैः शनैः उच्चारण की गड़बड़ से यह भेद जाता रहा, और अब दोनों ही रूपों में 'इ' अथवा 'हि' पर अर्धानुस्वार लगा दिया जाता है। यही बात 'माँहि' इत्यादि के विषय में भी समझना चाहिए। चलहि, चलइ, चलँइ, चलँहि, चलहु इत्यादि रूप कभी कभी आवश्यकतानुसार दीर्घांत भी प्रयुक्त किए जाते थे। ऐसे प्रयोग प्रायः कवि लोग पादांत में कर लेते थे। जैसे—

(१) स्याम सकुचि अँग हेर हीं नागरि पहिचानीं।

(२) या छवि पर उपमा कहौं जो त्रिभुवन होईं।

ऐसे प्रयोग प्राय: सभी कवियों ने किए हैं, तथापि इनसे बचना अच्छा है। बिहारी ने ऐसे प्रयोगों का आदर अपनी भाषा में नहीं किया है। दो, एक स्थानों पर सतसई में जो ऐसे प्रयोग देखने में आते हैं, उनमें निश्चयार्थक 'ई' सम्मिलित है।

(भूतकाल)

निश्चयार्थक भूतकालिक तिङन्त क्रिया का व्यवहार ब्रजभाषा में इतना कम हो गया था कि, यद्यपि कोई कोई रूप, जैसे 'मैं कह्यौं' इत्यादि, कभी कभी देखने में आ जाते हैं, तथापि उसके प्रचार का अभाव ही सा जान पड़ता है। अतः उसके रूपों के विषय में यहाँ कुछ विशेष नहीं कहा जाता। उसके रूपों के स्थान पर कृदंत रूपों का व्यवहार होता था। जैसे—चल्यौ, चले, चली इत्यादि। रामायण तथा पद्मावत की भाषा में भूतकालिक तिङन्त के कितने ही रूप देखने में आते हैं। उसकी पूरी रूपावली यह है—

पुरुष	एकवचन	बहुवचन
अन्य पुरुष	चलेसि, चलिसि	चलेन्हि, चलिन्हि
मध्यम पुरुष	चलेसि, चलिसि	चलेउ
उत्तम पुरुष	चलेउँ, चल्यौं	चलेन्ह, चलिन्ह, चलेन, चलिन

(भविष्य काल)

संस्कृत भविष्यत्कालिक क्रिया बनाने के निमित्त वचन तथा पुरुष के बोधक प्रत्ययों के पूर्व 'ष्य' लगा दिया जाता है, और इस 'ष्य' के पूर्व धातु का जो रूप होता है, उसका अंत्य स्वर इकार कर दिया जाता है, जिससे 'चलिष्यति' इत्यादि रूप बन जाते हैं। अपभ्रंश में इस 'ष्य' का 'स' तथा 'हि' होकर 'चलिसइ' 'चलिहिइ' इत्यादि रूप होते थे। पुरानी साहित्यिक भाषा में इसी 'चलिसइ' 'चलिहइ' एवं 'चलिहिइ' से 'चलिही' अथवा 'चलहि' रूप हो गए थे। इनमें से 'चलिहि' अथवा 'चलिही' का प्रकार तो बैसवारी इत्यादि में अधिक हुआ, जो कि भोजपुरी में, 'चली' हो गया, और 'चलिहइ' का रूप बुन्देलखंड में प्रचलित होकर 'चलिहै' बन गया, जो साहित्यिक ब्रजभाषा में भी ग्रहण किया गया, यद्यपि स्वयं ब्रजप्रांत की बोली में इसका प्रचार सुनने में नहीं आता। ब्रजप्रांत में इसके स्थान में 'चलहिगो' 'चलइगो' तथा 'चलैगो' कृदन्त रूपों का व्यवहार ही विशेष होता है। यही बात अन्य पुरुषों तथा लिंगों के विषय में समझनी चाहिए। भविष्यकाल की रूपावली नीचे दी जाती है—

'चल्यौ' में से यकार का लोप होकर 'चलौ' रूप भी प्रयुक्त होता था। खड़ी बोली में तो उक्त यकार का सर्वथा लोप होकर 'चला' रूप ही प्रचलित हो गया। पुरानी साहित्यिक ब्रजभाषा में 'चलिऔ' रूप का प्रयोग भी कहीं कहीं कवियों ने किया है। जैसे—

'जो कछु हरि सौं सुनिऔ ज्ञान, कह्यौ मइअय ताहि बखान।'

अनुमान होता है, उसी प्रकार पुरानी पंजाबी भाषा में भी 'चलिआ' रूप का प्रयोग होता रहा होगा। बहुवचन रूप 'चलिते' के तकार के लोप से 'चलिए', 'चल्ये' होकर अंत में 'य' का भी लोप होकर 'चले' हो गया।

'चलित' शब्द का स्त्रीलिंग रूप संस्कृत में 'चलिता' होता है, जो कई हेर फेरों के कारण पुरानी साहित्यिक भाषा में 'चली' हो गया था, जिसकी रूपावली 'रानी' शब्द के समान होती थी, अतः उसके अन्य पुरुष के कर्ताकारक के दोनों वचनों का रूप 'चली' होता था। बहुवचन के रूप में अनुस्वार का आगम करके 'चलीं' रूप भी बना लिया जाता था। इस आगम का कारण या तो अन्य कई प्रकारों के बहुवचन शब्दों का अनुकरण था, अथवा वह, जो 'अँखियाँ' इत्यादि शब्दों के विषय में कहा गया है। 'चली' तथा 'चलीं' के रूप 'चलिया' 'चलियाँ' भी होते थे, जो पुरानी कविताओं में कभी कभी दिखलाई दे जाते हैं। जो बातें ऊपर कही गई हैं, उनके अनुसार 'चल' धातु के भूतकालिक कृदंत रूप ये होते हैं—

लिंग	एक वचन	बहुवचन
पुलिंग	चल्यौ (उपज्यौ ५) चलौ (दीनौ २८, गौ २१७) [चलियौ]	चले (बीधे २१)
स्त्रीलिंग	चली (गनी ४, बनी ९) [चलिया]	चलीं (चलीं २४, करीं २२०) चली (राखी ७१२) [चलिया, चलियाँ]

'चल' धातु के भविष्यत्कालिक रूप जो चलैगौ, चलैगी, चलौंगौ, चलौंगी, इत्यादि होते हैं, उनमें लिंग भेद होता है, अतः उनकी गणना कृदंत में की जाती है। वास्तव में उनके मुख्य भाग के रूप, अर्थात् चलै, चलौं इत्यादि, तिङन्त ही होते हैं, क्योंकि उनमें पुरुष भेद तो होता है, पर लिंग भेद नहीं। इसी लिंग भेद के जताने के निमित्त गौ, गे तथा गी जोड़े जाते हैं। ये गौ, गे तथा गी डाक्टर हॉर्नले के मत से गयौ, गए, तथा गई के विकृत रूप हैं। उक्त डाक्टर साहब का मत है कि ये शब्द तिङन्त क्रिया के निश्चयार्थक वर्तमानकालिक रूपों में लगाकर भविष्यत्कालिक बना लिए जाते हैं। तिङन्त क्रियाओं के निश्चयार्थक वर्तमानकालिक रूप ही संभावनार्थक वर्तमान के रूप भी होते हैं, और संभावनार्थक क्रिया में कुछ भविष्यत्कालिक-पन सम्मिलित रहता है। जैसे—'कदाचित् वह चलै' इस वाक्य से चलने की संभावना भविष्यकाल ही में की जाती है, चाहे वह भविष्यकाल वर्तमानकाल से सर्वथा मिला हुआ अथवा दूर हो। ऐसी दशा में उक्त डाक्टर साहब का कथन युक्तियुक्त समझा जा सकता है। एक मत यह भी हो सकता है कि कृदंत क्रियाओं के भविष्यत्कालिक रूप वे ही होते हैं, जो तिङन्त क्रियाओं के। केवल भेद इतना ही है कि उनमें लिंग भेद दिखलाने के निमित्त गौ, गे तथा गी जोड़ दिए जाते हैं। जैसे कि पंजाब प्रांत की बोली में 'है' क्रिया के साथ भी गा, गी, गे प्रायः जोड़ दिए जाते हैं। जैसे—वह हैगा, वे हैंगे, वह स्त्री हैगी। इसी गौ, गे, गी के जोड़े जाने के कारण भविष्यत्कालिक तिङन्त क्रियाओं के रूपों में कुछ विकार सा आ जाता है, क्योंकि उनके अंत के अक्षर मध्यस्थ हो जाते हैं। अनुमान होता है कि क्रियाओं के भविष्यत्कालिक कृदंत रूप आरम्भ में इस प्रकार रहे होंगे—वह चलहिगौ, वे चलहिंगे, तू चलहिगौ, तुम चलिहौगे; मैं चलिहौंगौ, हम चलिहैंगे। ऐसे रूपों का प्रयोग ब्रजभाषा के पुराने कवियों की किसी किसी कविता में देखने में भी आ जाता है। जैसे—

(भविष्यत्काल)

मैं कह्यौ, रंग न फाविहै गौ, कह्यौ, फाविहै लागें 'मुबारक' अंग है।

इन्हीं रूपों से घिसते घिसाते प्रयुक्त भविष्यत्कालिक कृदंत रूप बन गए हैं। इन मतों पर विशेष विवेचना करने का अवसर यहाँ नहीं है। यहाँ इतना ही कहना अलम् है कि चाहे जिस प्रकार हो भविष्यत्कालिक कृदंत क्रियाओं के मुख्य भागों के रूप होते वही थे, जो तिङन्त क्रियाओं के निश्चयार्थक वर्तमानकालिक। उनकी रूपावली नीचे दी जाती है—

पुरुष	एकवचन	बहुवचन
अन्य पुरुष	चलहिगौ, चलैगौ [चलइगौ] जाहिगौ, जाइगौ (जाइगौ५२६)	चलहिंगे, चलैंगे [चलइँगे] जाहिंगे, जाइँगे
मध्यम पुरुष	चलहिगौ, चलैगौ [चलइगौ] जाहिगौ, जाइगौ	चलहुगे, चलौगे [चलउगे] जाहुगे (लेहुगे २९, होहुगे ७१, ४२५)
उत्तम पुरुष	चलहुँगौ, चलौंगौ [चलउँगौ] जाहुँगौ, जाउँगौ	चलहिंगे, चलैंगे [चलइँगे] जाहिंगे, जाइँगे

इसी प्रकार 'गी' के संयोग से स्त्रीलिंग के एकवचन तथा बहुवचन दोनों प्रकारों के रूप बनते हैं।

'चल' तथा 'जा' धातुओं की निश्चयार्थक रूपावलियाँ ऊपर लिखी गई हैं, और ये ही अधिक काम की भी हैं। संभावनार्थक, आज्ञार्थक तथा संकेतार्थक रूपावलियों में वे ही रूप प्रयुक्त होते हैं, जो निश्चयार्थक रूपावलियों में दिखलाए गए हैं। आज्ञार्थक वर्तमानकाल की तिङन्त रूपावलियों में मध्यम पुरुष एकवचन के निमित्त 'चलि' तथा 'चलु' रूप भी

काम में आते हैं। जैसे—जानि १४, निवारि १९, देखु २०४, गाउ २१, आउ ३६, इत्यादि।

चलौ, और आऔ रूपों का प्रयोग आज्ञार्थ में अन्य पुरुष के दोनों वचनों में होता है। जैसे करौ ४२५, हँसौ २७७ इत्यादि।

संदेहार्थ में शुद्ध तिङन्त रूपों का प्रयोग देखने में नहीं आता। इसके कृदंत अथवा मिश्रित पदों के मुख्य भाग के रूप वे ही होते हैं, जो निश्चयार्थक कृदंत क्रिया के, पर उनके साथ 'भू' धातु की तिङन्त अथवा कृदंत क्रियाओं के भविष्यत्कालिक रूप भी लगा दिए जाते हैं। जैसे—वह चलतु ह्वै है, अथवा होइगौ; तुम चले ह्वै हौ अथवा होहुगे। भविष्यत्कालिक संदेहार्थक रूप वे ही होते हैं, जो निश्चयार्थक। पर उनके पहले 'कदाचित्' इत्यादि शब्दों का प्रयोग कर दिया जाता है। जैसे—कदाचित् वह चलैगौ।

प्रेरणार्थक में कृदंत रूपों का प्रयोग देखने में नहीं आता।

अस् तथा भू धातुओं के रूप, स्वतंत्र व्यवहृत होने के अतिरिक्त, अन्य क्रियाओं के कृदंत रूपों में भी जोड़े जाते हैं। अतः उनका प्रयोग साहित्यिक व्रजभाषा में बहुत अधिकता से होता है। 'चल' धातु के विषय में जो बातें कही गई हैं वे ही, यथोचित न्यूनाधिक्य के साथ, इनके रूपों की बनावट में भी चरितार्थ होती हैं, अतः इनके रूपों के साधनार्थ इनके दोहराने की कोई आवश्यकता नहीं। इनके विषय में केवल उतनी ही बातें लिखी जायँगी जो विशेष आवश्यक हैं।

अस् तथा भू धातु की रूपावलियाँ

अस् धातु को आ, अह तथा ह ये तीन आदेश होकर उनकी रूपावली इस प्रकार होती है—

अस् धातु (आ, अह तथा ह की तिङन्त रूपावली)

निश्चयार्थक, वर्तमानकाल

पुरुष	एकवचन	बहुवचन
अन्य पुरुष	आहि (आहि ५६, ५२२) अहै है (है ६) [अहइ, अहहि]	आहिं अहैं हैं (हैं ४९, ६२) [अहइँ अहहिं]
मध्यम पुरुष	आहि, अहै है (है ५१,७०१) [असि, अहहि, अहइ]	अहौ हौ (हौ २२, ६१) [आहु, अहहु, अहउ]
उत्तम पुरुष	अहौं हौं [आहुँ, आहउँ, आहहुँ]	आहिं अहैं, हैं [अहइँ अहहिं]

अस् धातु के भूत कालिक तिङन्त रूपों का प्रयोग देखने में नहीं आता।

अस् धातु के भविष्यत्कालिक रूप नहीं होते। उनके स्थानों पर 'भू' धातु के रूप प्रयुक्त होते हैं।

यहाँ एक बात यह कह देना आवश्यक है कि 'अस्' तथा 'भू' धातुओं के रूप कुछ ऐसे मिल जुल गए हैं कि उनके अनेक रूपों के विषय में यह कहना कठिन है कि अमुक रूप अमुक ही धातु का है। इसके अतिरिक्त किसी अर्थ तथा काल में अस् धातु के रूप प्रयुक्त होते हैं, किसी में 'भू' के और किसी में दोनों के।

भू धातु के वर्तमान तथा भविष्य कालों के निमित्त 'हो' एवं भूतकाल के निमित्त 'भअ' आदेश होकर उसकी रूपावली इस प्रकार होती है—

वर्तमान काल

पुरुष	एकवचन	बहुवचन
अन्य पुरुष	होइ (होइ १) होहि	होइँ होहिं (होहिं ५२२)
मध्यम पुरुष	होहि होइ [होसि]	होहु होउ
उत्तम पुरुष	होउँ होहुँ	होइँ होहिं

भू धातु के भूतकालिक तिङन्त रूपों का प्रयोग व्रजभाषा में नहीं होता। उनके स्थानों पर भूतकालिक कृदंत का प्रयोग होता है। जैसे—भयौ, भए, भई।

भविष्य काल

पुरुष	एकवचन	बहुवचन
अन्य पुरुष	होइहै ह्वै है (ह्वै है १९) [होइहइ, होइहहि, ह्वै हइ, ह्वै हहि]	होइहैं ह्वै हैं [होइहँइ, होइहँहि, ह्वै हँइ, ह्वै हँहि]

मध्यम पुरुष	होइहै ह्वैहै [होइहहि, होइहइ, ह्वैहहि, ह्वैहइ]	होइहौ ह्वैहौ [होइहउ, होइहहु, ह्वैहउ, ह्वैहहि]
उत्तम पुरुष	होइहौं ह्वैहौं [होइहउँ, होइहहुँ, ह्वैहउँ ह्वैहहुँ]	होइहैं ह्वैहैं [होइहइँ, होइहहिं, ह्वैहइँ, ह्वैहहिं]

कृदन्त रूपावली

अस् धातु के वर्तमान तथा भविष्य काल के कृदन्त रूप देखने में नहीं आते।

भू (हो, भअ) धातु की रूपावली

निश्चयार्थक—वर्तमानकाल

लिंग	एकवचन	बहुवचन
पुलिंग	होतु (होतु २०१, २५१ [होत, होतौ]	होत (होत ७१,२४०) [होते]
स्त्रीलिंग	होति (होति ७,४०, ६४) [होती]	होति होतिं होति [होती, होतीं, होंती होतिया, होतियाँ]

भूतकाल

लिंग	एकवचन	बहुवचन
पुल्लिंग	हो (हो ६४, २३७)	हे (हे ५३६)
स्त्रीलिंग	ही (ही ४९९)	हीं

'हो' धातु की भविष्यकालिक कृदंत रूपावली 'चल' धातु की ऐसी रूपावली के अनुसार समझ लेनी चाहिए।

अस् तथा भू धातुओं की केवल निश्चयार्थक रूपावलियाँ दी गई हैं। संभावनार्थक, आज्ञार्थक इत्यादि रूपावलियाँ लाघव के अनुरोध से छोड़ दी गई हैं। इनके विषय में यथासंभव वही समझना चाहिए, जो 'चल' धातु के इन अर्थों के रूपों के विषय में कहा गया है।

ऊपर की रूपावलियों में जो रूप दिखलाए गए हैं, उनके अतिरिक्त कुछ और रूपों पर भी विचार करना उचित प्रतीत होता है। उनमें से आगे लिखे गए रूप विशेष व्यवहृत तथा उपयुक्त हैं।

क्रियार्थक संज्ञाएँ — जैसे, चलन तथा चलिव। इनमें से 'चलन' की रूपावलियाँ दोनों प्रकार के अकारांत शब्दों की रूपावलियों के अनुसार होती हैं। जैसे—चलनु, चलनहिं, चलनैं, चलन, चलनमैं, इत्यादि; तथा चलनौ, चलने, चलनेहिं, चलनैं, चलने, चलनेमैं, इत्यादि। इनमें से एक अवसर पर एक रूपावली के एक कारक के रूपों का, और कभी कभी दोनों ही रूपावलियों के रूप यथेच्छ प्रयुक्त होते हैं, उक्त अवसरों का निर्देश यहाँ गौरव भय से नहीं किया जाता। पाठकों को उनका ज्ञान ब्रजभाषा के ग्रंथों से प्राप्त कर लेना चाहिए। बिहारी ने ऐसे शब्दों के प्रथम प्रकार के अकारांत

क्रियार्थक संज्ञाएँ

शब्द[1] की भाँति के रूप ही प्रयुक्त किए हैं। चलन इत्यादि रूपों से कभी उनके स्त्रीलिंग रूप भी बना लिए जाते हैं। जैसे—मुसकानि, बिलोकनि, हँसनि इत्यादि। ऐसी दशा में उनकी रूपावलियाँ इकारांत स्त्रीलिंग शब्दों के अनुसार होती हैं। 'चलिव' रूप संस्कृत के तव्यत् प्रत्ययांत, 'चलितव्य' शब्द का विकृत रूप प्रतीत होता है। इसकी रूपावली द्वितीय प्रकार के अकारांत शब्दों[2] की भाँति होती है। जैसे—चलिवौ, चलिवे, चलिवेहिं, चलिवैं, चलिवे, चलिवेमैं इत्यादि। कभी कभी कविजन इसका कोई रूप प्रथम प्रकार के अकारांत पुंलिंग शब्दों के अनुसार भी प्रयुक्त कर लेते हैं। जैसे—

'तोहि किन हठव सिखयो प्यारी।'

यह प्रयोग पूर्वी हिन्दी का अनुकरण है। पर साहित्यक व्रजभापा में ऐसे प्रयोग बहुमान्य नहीं हैं। बिहारी ने ऐसे प्रयोगों का कहीं आदर नहीं किया है। इसी चलिव का लघु रूप ऐसे प्रयोगों में देखने में आता है। जैसे—चलिकै, देखिकै इत्यादि। चलिवी, देखिवी इत्यादि अथवा चलवी, देखवी इत्यादि जो बुंदेलखंड में बहुतायत से वर्ते जाते हैं, और जिनका प्रयोग साहित्यिक व्रजभापा में भी देखने में आता है, वास्तव में इसी 'चलिव' इत्यादि रूपों के कर्ताकारक के एकवचन रूप हैं। ऐसे रूपों का प्रयोग कभी तो चलता है, अर्थात् चलने के योग्य है, इस अर्थ में होता है। जैसे—

कौन भाँति रहिहै विरदु, अब देखिवी मुरारि।

और कभी भविष्यत्कालिक आज्ञार्थ में। जैसे—

आवत वसंत के सुपाती लिखी पीतम कों,
प्यारे परवीन जू हमारी सुधि आनवी।

१—देखिए तीसरा प्रकरण, 'राम' शब्द की रूपावली पृष्ठ ६९।
२—देखिए तीसरा प्रकरण, 'टीक' शब्द की रूपावली पृष्ठ ७०।

चलिवी, देखिवी इत्यादि रूपों का प्रयोग प्रायः सभी श्रेष्ठ कवियों ने किया है। बोलने में इस रूप का प्रचार यद्यपि बुंदेलखंड प्रांत में हो गया है, और ब्रजप्रांत में नहीं पाया जाता, तथापि यह अनुमान होता है कि इन दोनों प्रान्तों की बोलियों के पृथक् होने के पूर्व इसका प्रयोग सामान्य बोली में होता था, जिससे प्राचीन साहित्यिक भाषा में इसका ग्रहण हुआ, और फिर साहित्यिक ब्रजभाषा में प्रयुक्त होने लगा। पर इस रूप का प्रचार ब्रजप्रांत की बोली में नहीं है, अतः इसका बर्ताव साहित्यिक ब्रजभाषा में अधिकता से नहीं हुआ। ऐसे ऐसे अनेक रूपों के साहित्यिक ब्रजभाषा में प्रचार होने का कारण यह है कि ये रूप प्राचीन साहित्यिक भाषा से उसमें ले लिए गए थे, जैसा साहित्यिक भाषा के विषय में पहले कहा जा चुका है। ऐसे रूपों को किसी कवि की कविता में पाकर उस कवि को उस प्रांत विशेष का अनुमान करना, जिसमें ये रूप प्रचलित हैं, सर्वथा अप्रामाणिक तथा भ्रममूलक है। जैसे—देखिवी, लखिवी इत्यादि शब्दों के प्रयोग से विहारी का बुंदेलखंडी होना अनुमान करना, क्योंकि ऐसे रूपों का प्रयोग सूरदास तथा घनानंदजी आदि ने भी किया है।

पूर्वकालिक कृदंत, जैसे चलि, देखि इत्यादि। संस्कृत में ऐसे स्थानों पर 'क्त्वा' प्रत्ययांत शब्दों का प्रयोग किया जाता है, जैसे—चलित्वा, दृष्ट्वा इत्यादि। जब किसी धातु में कोई उपसर्ग लगा रहता है, तो उसके 'क्त्वा' प्रत्ययांत शब्द का रूप यकारांत हो जाता है। जैसे—प्रणम्य, उपविश्य, अवगाह्य इत्यादि। भाषा में दो रूपों का बखेड़ा छोड़कर एक यकारांत रूप ही अनुपसर्ग तथा सोपसर्ग, दोनों प्रकार के शब्दों के निमित्त ग्रहण कर लिया गया, जिससे 'चल्य' 'देख्य' इत्यादि रूप बने, और फिर उन्होंने चलि, देखि इत्यादि रूप धारण कर लिए, जिनका अर्थ चलकर देखकर इत्यादि होता है। ब्रजभाषा के कवियों ने भी कभी 'चलि' 'देखि' इत्यादि रूपों का प्रयोग अकारांत भी कर लिया है। जैसे—

पूर्वकालिक कृदंत

जा कछु हरि सों सुनियो ज्ञान। कह्यौ मइत्रय ताहि बखान।

(सू० सा०)

ऐसे प्रयोग साहित्यिक ब्रजभाषा में बहुमान्य तथा अनुकरणीय नहीं हैं, इनको केवल आर्ष तथा आवश्यकता प्रेरित समझना चाहिए। बिहारी ने ऐसा प्रयोग कहीं नहीं किया है। पर खड़ी बोली में ऐसे पदों का प्रयोग अकारांत ही होता है।

तात्कालिक तथा अपूर्ण क्रिया द्योतक कृदंत, जैसे, चलत हीं, देखत हीं इत्यादि तथा चलत, देखत इत्यादि। ये दोनों कृदंत पद वस्तुतः एक ही हैं; केवल भेद इतना ही है कि तात्कालिक कृदंत

तात्कालिक तथा अपूर्ण क्रिया द्योतक कृदंत

पद में 'ही' जोड़ दिया जाता है, जिससे मुख्य क्रिया के पूर्व कृदंत पद के व्यापार की समाप्ति, अथवा कृदंत पद के तथा मुख्य क्रिया के व्यापारों में निरंतरता प्रतीत होती है, जैसे—मेरे आवत हीं वह चल्यौ गयौ। अपूर्ण क्रिया द्योतक कृदंत से उसके व्यापार की अपूर्णता तथा उसके होते समय किसी अन्य मुख्य क्रिया का होना सूचित होता है। जैसे—

सिगरी रैनि मनावति बीति हा हा करि हौं हारी।

(सू० सा०)

यह रूप वर्तमान कालिक कृदंत के सामान्य कारक का संक्षिप्त रूप होता है। ऐसे प्रयोगों में, चलत, देखत, मनावत आदि का अर्थ, चलने के समय में, देखने पर, मनाने में, इत्यादि होता है। इसी प्रकार अन्य प्रयोगों में समझ लेना चाहिए। बिहारी ने भी ऐसे पदों का इन्हीं अर्थों में प्रयोग किया है। खड़ी बोली में वर्तमान कालिक कृदंत का रूप, दूसरे प्रकार के अकारांत पुल्लिंग शब्द के अनुसार होता है। अतः उसमें चलत, देखत इत्यादि के रूप चलते, देखते इत्यादि होते हैं। ऐसे पदों का प्रयोग अव्ययवत् होता है। उनको क्रिया विशेषण भी कहना युक्त है। वस्तुतः ऐसे पद अधिकरण कारक होते हैं।

कारण सूचक कृदंत, जैसे, परैं, चलैं, करैं, देखैं इत्यादि। इनके अर्थ, पड़ने से, पड़ने में, पड़नेपर इत्यादि होते हैं। संस्कृत में ऐसे पद क्रियार्थक संज्ञा, अथवा भूतकालिक कृदंत शब्दों के करणकारक अथवा अधिकरणकारक के एकवचन रूप होते हैं, जैसे—चलनेन अथवा चलने, चलितेन अथवा चलिते इनसे कारण सूचित होता है, अतः इनका नाम कारण सूचक कृदंत रक्खा गया है। भाषा में इनको क्रियार्थक संज्ञा 'चलन' इत्यादि, अथवा भूतकालिक कृदंत, चलित इत्यादि के सामान्यकारक चलनेहिं अथवा चलितेहिं इत्यादि का विकृत रूप मानना चाहिए। चलनेहिं तथा चलितेहिं रूपों से 'न' तथा 'त' के लोप से चलएँहिं तथा चलिएहिं रूप बन जाते हैं, और फिर 'ह' के लोप से वे 'चलएँइँ' 'चलिएइँ' होकर संधि, लोप इत्यादि के कारण 'चलैं' बन जाते हैं। शुद्ध रूप तो कारण सूचक कृदंतों का 'ऐंकारांत' ही समझना चाहिए, जैसे चलैं। पर कवियों ने इनको चले, चलैं और चले रूपों में भी प्रयुक्त किया है। पर बिहारी ने इसका शुद्ध रूप 'चलैं' ही स्वीकृत किया है। खड़ी बोली में इसका रूप 'चले' होता है। जैसे—उसके किए क्या हो सकता है।

कारण सूचक कृदंत

अब यहाँ क्रिया के वाच्यों का कुछ संक्षिप्त वर्णन करना उचित प्रतीत होता है। वाच्य भेदों के अनुसार क्रियाओं के तीन प्रकार के प्रयोग होते हैं, (१) कर्तृवाच्य, (२) कर्मवाच्य तथा (३) भाववाच्य।

वाच्य

(१) क्रिया का कर्तृवाच्य प्रयोग ऐसे वाक्यों में होता है, जिसका उद्देश्य क्रिया का कर्ता होता है। इस वाच्य में तिङन्त तथा कृदंत के वे ही सामान्य रूप प्रयुक्त होते हैं, जिनकी रूपावलियाँ ऊपर लिखी गई हैं। जैसे—रामु चलै, रामु चलतु है, रामु चल्यौ, रामु चलि है, रामु चलैगौ, इत्यादि।

(२) क्रिया का कर्मवाच्य प्रयोग ऐसे वाक्य में होता है जिसका उद्देश्य क्रिया का कर्म होता है। ऐसे वाच्य के प्रयोग में क्रिया का कर्म कर्ताकारक-

रूप से प्रयुक्त होता है, जैसे—रावनु मार्‌यौ गयौ। ऐसी क्रिया के साथ यदि उसके कर्ता का कहना भी अभीष्ट होता है, तो वह करणकारक के रूप में रक्खा जाता है। जैसे—राम सौं रावनु मार्‌यौ गयौ। ऐसे वाक्य में 'या' अथवा 'गम' धातु के तिङन्त अथवा कृदंत रूप तो अपूर्ण क्रियावत् प्रयुक्त होते हैं, और मुख्य क्रिया के भूतकालिक कृदंत रूप, उक्त अपूर्ण क्रिया के विशेषण अथवा पूर्ति की भाँति। ऐसे प्रयोगों में दोनों क्रियाओं के लिंग, वचन इत्यादि का अनुसरण कर्ता रूपधारी कर्म से होता है, और काल भेद 'या' अथवा 'गम' धातु के रूपों से विदित होता है। जैसे—वचनु कह्यौ जाइ, वचन कहे जाइँ, बात कही जाइ, बातैं कही जाइँ। वचनु कह्यौ जातु है, वचन कहे जाते हैं, बात कही जाति है, बातैं कही जाति हैं। वचनु कह्यौ गयौ, वचन कहे गए, बात कही गई, बातैं कही गईं। वचनु कह्यौ जैहै, वचन कहे जैहैं, बात कही जैहै, बातैं कही जैहैं। वचनु कह्यौ जाहिगौ, वचन कहे जाहिंगे, बात कही जाहिगी, बातैं कही जाहिंगी। ऐसे रूपों के साथ है, हैं, होहि, हुतौ, इत्यादि के प्रयोगों के विषय में वही समझना चाहिए, जो अन्य कृदंतों के साथ उनके प्रयोग के विषय में। पर कभी कभी ब्रजभाषा के किसी किसी कवि ने कर्मवाच्य प्रयोगों में क्रिया के लिंग तथा वचन को कर्ता रूपधारी कर्म के अनुसार न रखकर, अन्य पुरुष एकवचन पुलिंग में रख दिया है। जैसे—

जै जै धुनि अमरनि नभ कीनौ।

इस पाद में अमरनि पद करणकर्ता है, और ध्वनि पद कर्ता रूपधारी कर्म, अतः; क्रिया को उसके लिंग तथा वचन के अनुसार कीनी' होना चाहिए। पर यहाँ ऐसा नहीं है। ऐसा प्रयोग साहित्यिक ब्रजभाषा में शिष्ट तथा मान्य नहीं कहा जा सकता। इसका निर्वाह 'ध्वनिकरना' को एक क्रिया मानकर उसका भाववाच्य प्रयोग करने से किसी प्रकार हो सकता है। ऐसा ही प्रयोग इस पाद में भी है—

'अति तप देखि दया हरि कीन्हौ'

ऐसे प्रयोगों से बिहारी ने अपनी भाषा को बहुत बचाए रक्खा है।

(३) जब किसी कर्मवाच्य प्रयोग में किसी सकर्मक क्रिया के उद्देश्य का प्रयोग तो करणकारक रूप में होता है, पर उसके कर्म का प्रयोग कर्ता-कारक के रूप में न होकर सम्प्रदानकारक के रूप में होता है, जैसे—राम सों रावन कौं मारयौ गयौ, तो ऐसे वाक्य का यह अर्थ होता है कि 'राम से रावण के अर्थ मारने की क्रिया, अर्थात् भाव, किया गया। इसी प्रकार जब किसी वाक्य में अकर्मक क्रिया के उद्देश्य का प्रयोग करणकारक रूप में होता है, जैसे, राम से चला गया, तो ऐसे वाक्य का भी यही अर्थ होता है कि राम से चलने का भाव किया गया। ऐसे प्रयोगों में भाव ही प्रधान होता है, अतः इनमें क्रियाओं के प्रयोग भाववाच्य कहलाते हैं। जहाँ किसी सकर्मक क्रिया से भी उसका भाव मात्र कहना अभिप्रेत होता है, और यह कहना आवश्यक नहीं समझा जाता कि वे क्रियाएँ किसके साथ की गईं, तो उक्त सकर्मक क्रिया अकर्मक रूप से प्रयुक्त कर ली जाती है, जैसे—राम नैं खायौ। इस वाक्य में वक्ता का प्रयोजन केवल इतना ही कहना है कि, राम ने खाने की क्रिया की। उसको यह कहना अभिप्रेत नहीं है कि, राम ने क्या पदार्थ खाया। अतः 'खायौ' क्रिया अकर्मक रूप से प्रयुक्त हुई है। ऐसी कई एक अकर्मक रूपा सकर्मक क्रियाओं का भी भाववाच्य प्रयोग होता है। सब प्रकार के भाववाच्य प्रयोगों में क्रिया का रूप वैसा ही होता है, जैसा कर्मवाच्य प्रयोगों में, पर वह सदा अन्य पुरुष, एक वचन तथा पुलिंग होती है, अर्थात् उसके पुरुष, वचन तथा लिंग का अनुसरण उसके भाव ही से होता है।

क्रियाओं के कर्मवाच्य तथा भाववाच्य प्रयोगों में जो कर्ता का प्रयोग करणकारक रूप से होता है, वस्तुतः उसी का रूपांतर मात्र करणकर्ता भी है। उसके तथा करणकर्ता के रूपों एवं व्यवहारों में कुछ साधारण भेद होता है। सामान्य करणकारक तथा करणकर्ता के रूप में यह भेद है कि, सामान्य करणकारक का रूप या तो सामान्य कारक का निज रूप अथवा

विकृत रूप होता है, अथवा सामान्य कारक के संक्षिप्त रूप में करणकारक की साधारण विभक्तियाँ, अर्थात् सौं, तैं, इत्यादि लगाकर बनता है। जैसे—रामहिं, अथवा राम सौं। पर करणकर्ता का रूप या तो सामान्य कारक का संक्षिप्त रूप होता है, अथवा उस संक्षिप्त रूप में 'नैं' विभक्ति लगाकर बनता है जैसे—राम कह्यौ, अथवा राम नैं कह्यौ।

इन दोनों के व्यवहारों में ये भेद हैं—सामान्य करणकारक का व्यवहार कर्मवाच्य तथा भाववाच्य क्रियाओं सब कालों के साथ हो सकता है, जैसा कि ऊपर के उदाहरणों से विदित है। पर करणकर्ता का व्यवहार ऐसी क्रियाओं के केवल भूतकालिक प्रयोगों के साथ होता है, जैसे—राम ने रोटी खाई।

भाववाच्य प्रयोग में सामान्य करणकारक का प्रयोग सब अकर्मक क्रियाओं के साथ होता है, पर करणकर्ता का प्रयोग केवल ऐसी अकर्मक क्रियाओं के साथ होता है, जो सकर्मक होने पर भी अकर्मकवत् प्रयुक्त होती हैं, जैसे—राम नैं खायौ।

सामान्य करणकारक के साथ अथवा उसके अनुक्त होने पर क्रियाओं के कर्मवाच्य अथवा भाववाच्य रूपों में, जो 'या' अथवा 'गम' धातु के रूप जोड़ दिए जाते हैं, वे करणकर्ता के साथ प्रयुक्त होने वाली ऐसी क्रियाओं में नहीं जोड़े जाते। जैसे—राम सौं रोटी खाई गई, राम नैं रोटी खाई।

जिन वाक्यों में क्रियाओं का सामान्य कर्मवाच्य तथा भाववाच्य प्रयोग होता है, उनमें प्रधानता आर्थी कर्म अथवा भाव की होती है, पर जिनमें ऐसी क्रियाओं का ऐसा प्रयोग होता है, जिसके साथ करणकर्ता आता है, उनमें क्रिया के आर्थी कर्ता की ही प्रधानता होती है, जैसे—रोटी खाई गई, अथवा राम सौं रोटी खाई गई। इन वाक्यों में रोटी ही के विषय में खाए जाने का विधान किया गया है, अतः प्रधानता रोटी ही की है, जो कि खाई गई क्रिया की आर्थी कर्म है, पर राम ने रोटी खाई। इस वाक्य में राम के विषय में उसके द्वारा रोटी खाए जाने का विधान किया गया है,

अतः प्रधानता उसी की है, जो 'खाई' क्रिया का आर्थी कर्ता है। इसी प्रकार भाववाच्य प्रयोग के विषय में भी समझ लेना चाहिए।

अब हम कुछ और ऐसे शब्दों पर टिप्पणियाँ लिखते हैं, जिनका प्रयोग ब्रजभाषा के प्रायः सभी कवियों ने किया है। सतसई की भाषा में उनके प्रयोगों से क्या विशेषता है, साथ ही साथ हम यह भी दिखलाते चलेंगे।

स्फुट शब्द

किय, दिय तथा लिय इत्यादि शब्दों के एक एक रूप, कीन, दीन तथा लीन इत्यादि भी साहित्यिक ब्रजभाषा में प्रयुक्त होते हैं। प्रायः सभी कवियों तथा बिहारी ने भी इनको बिना किसी विकार के दोनों वचनों तथा लिंगों में प्रयुक्त किया है। ८२ वें अंक के दोहे में बिकान शब्द का प्रयोग भी ऐसा ही है[1]। इनके रूप कृदंत किय, दिय, लिय इत्यादि की भाँति, द्वितीय प्रकार के अकारांत शब्दों[2] के अनुसार, कीनौ, दीनौ, लीनौ, कीने, दीने, लीने एवं कीनी, दीनी, लीनी इत्यादि भी बनते हैं। इनका प्रयोग भी बिहारी ने अन्य कवियों की भाँति किया है। पर कहीं कहीं ऐसे शब्दों का कोई रूप सतसई में प्रथम प्रकार के अकारांत शब्द[3] के अनुसार भी प्रयुक्त किया गया है, जैसे 'सियरानु' शब्द ६७१ वें अंक के दोहे में।

संस्कृत में कितने ही शब्द, जब क्रिया विशेषण की भाँति प्रयुक्त होते हैं, तो वे नपुंसक लिंग, एकवचन, कर्मकारक में रक्खे जाते हैं, जैसे—क्षणंतिष्ठ। इसी परिपाटी के अनुसार बिहारी ने नैक, आज, छिन इत्यादि शब्दों को, जहाँ वे क्रिया विशेषण की भाँति प्रयुक्त हुए हैं, एकवचन पुलिंग कर्मकारक के रूप में अर्थात् अकारांत रक्खा है।[4]

---

१. देखिए 'बिहारी-रत्नाकर', दोहा अंक २, ४३, ७५, ४६७, ६५२।
२. देखिए तीसरा प्रकरण, पृष्ठ ७०।
३. देखिए तीसरा प्रकरण पृष्ठ ६६।
४. देखिए 'बिहारी-रत्नाकर' दोहा अंक ६७०, ५८, १८२।

संस्कृत के 'अपि' शब्द का रूप 'वि' होकर साहित्यिक ब्रजभाषा में 'उ' हो गया था, जो अपने पूर्ववर्ती अकारांत शब्द से मिलकर 'ओ' हो जाता था, और फिर वही 'ओ' ब्रजभाषा की उच्चारण विशेषता के कारण 'औ' अथवा 'औं' रूप में बोला तथा लिखा जाता था। इस रूप का प्रयोग प्रायः सभी कवियों तथा बिहारी ने भी किया[1] है।

संस्कृत का निश्चयवाचक 'हि' साहित्यिक ब्रजभाषा में 'हिं' तथा 'इ' होकर, अकारांत शब्दों के साथ सन्धि होने के कारण उनको एकारांत बना देता है, और फिर उनका उच्चारण तथा लेख ऐकारांत होने लगता है, जैसे—चलियै, औरै[2] इत्यादि।

संस्कृत के 'तनु' शब्द का अर्थ ब्रजभाषा में ओर, दिशि भी होता है। उसी 'तनु' शब्द से बिगड़ते बिगड़ाते 'त्यौं' शब्द बन गया है, जिसका प्रयोग सूरदास जी ने भी प्रायः किया है। बिहारी ने भी 'त्यौं' शब्द को इस अर्थ में बरता है।[3] इसी प्रकार 'सम' शब्द से 'स्यौं' शब्द बना है, जिसका अर्थ सहित होता है। सूरदास जी तथा अन्य कितने ही कवियों ने इसी अर्थ में 'स्यौं' रूप का प्रयोग किया है, बिहारी ने भी इस शब्द का ग्रहण किया है।[4]

'तोहीं' 'मोहीं' इत्यादि शब्दों में जो दीर्घ ईकार देखने में आता है, उसका कारण यह है कि 'तोहिं' 'मोहिं' में निश्चयवाचक 'हि' मिल गया है।[5]

'किय' शब्द का एकवचन पुलिंग रूप सामान्यतः 'कियौ' होता है, पर ४२वें अंक के दोहे में बिहारी ने भी अन्य कवियों की देखादेखी 'किय' रूप

---

१. देखिए 'बिहारी-रत्नाकर' दोहा अंक २०, ५२, ५५।
२. देखिए बि० र० दोहा अंक २६, ४८।
३. देखिए बि० र० दोहा अंक ३०।
४. देखिए बि० र० दोहा अंक ४४५।
५. देखिए बि० र० दोहा अंक ३६, ४७।

भी एकवचन पुलिंग में प्रयुक्त कर दिया है। ऐसे प्रयोग गोस्वामी तुलसीदास जी तथा सूरदास जी ने अधिकता से किए हैं।

कीजियै, दीजियै, कीजत, दीजत, कीजियत, दीजियत रूप वस्तुतः कर्मवाच्य तथा कीजियत, दीजियत रूप प्रथम प्रकार के अकारांत शब्द 'राम' के अनुसार बनते हैं। ब्रजभाषा के कवियों ने प्रायः लिंग तथा वचन का विचार नहीं किया है, पर बिहारी ने इनके व्यवहार में उक्त भेदों पर पूर्ण दृष्टि रक्खी है। जैसे—एकवचन पुलिंग के निमित्त उन्होंने 'साजियतु'[1] 'पैयतु'[2] का प्रयोग किया है; बहुवचन पुलिंग के निमित्त 'करियत',[3] 'चहियत'[4] का प्रयोग एवं स्त्रीलिंग के निमित्त 'चलाइयति',[5] 'ढाँपियति'[6] का।

जब किसी सामान्य कारक, जैसे तुमहिं, मोहिं, उदारहिं इत्यादि में 'अपि' का रूपांतर 'ऊ' जोड़ा जाता है, तो सन्धि होकर 'तुमह्यँू' इत्यादि रूपों के स्थान पर 'तुमहूँ' इत्यादि रूप बन जाते हैं, जैसे 'तुमहूँ'[7] 'मोहूँ',[8] 'उदारहूँ'[9], 'दुहूँ'[10]।

संस्कृत के 'लग्न' शब्द से 'लगि' तथा 'लगु' रूप बनते हैं। इनका प्रयोग 'तक' के अर्थ में ब्रजभाषा के प्रायः सभी कवियों ने किया है, बिहारी ने भी, जैसे—लगि[11] तथा लगु[12]। इसी 'लगु' शब्द से 'लउ' होकर 'लो' और फिर 'लौं' बन गया, जिसका प्रयोग 'तक' तथा 'सदृश' के अर्थों में होता है[13]।

१—बि० र० २३६। २—बि० र० ३२५। ३—बि० र० ११३। ४—बि० र० १५६। ५—बि० र० २०३। ६—बि० र० २१४। ७—बि० र० ६८। ८—बि० र० २६१। ९—बि० र० ३५३। १०—बि० र० ४२७। ११—बि० र० १५० तथा ५०४। १२—बि० र० ३६१।

१३—जैसे 'बिहारी-रत्नाकर' के ७०९, ६२२, २५७, १८८ अंक के दोहों में।

८० वें अंक के दोहे के पूर्वार्ध में जो 'लाखनु' शब्द उकारांत आया है, उसका कारण यह प्रतीत होता है कि लक्ष्मण के रूपांतर 'लाखन' का कदाचित् उकारांत रूप अर्थात् 'लाखनु' ही उस व्यक्ति विशेष के नाम के लिए प्रचलित हो गया होगा। जैसे, रामूसिंह, कन्नूमल इत्यादि।

२२३ वें अंक के दोहे में जो 'ईसु' तथा 'घरीसु' पाठ छप गए हैं,[1] उन पर पुनः विचार करने से 'ईस' तथा 'घरीस' होना ठीक ठहरता है। पुस्तक के छप जाने के अनंतर इस बात पर ध्यान गया कि तीसरी[2] तथा पाँचवीं[3] पुस्तकों में 'ईस' पाठ है, और पाँचवीं पुस्तक में 'घरीसु' के स्थान पर 'घरीस' भी है। उस समय हमारे पास तीसरी पुस्तक खंडित थी, जिससे उसके पाठ का यथार्थ पता नहीं चला। पाँचवीं पुस्तक का पाठ शुद्ध मानने से 'ईस' शब्द प्रतिष्ठार्थ बहुवचन हो जाता है। अब रहा 'घरीस' के 'स' का 'सु' के स्थान पर होना। उसके विषय में यह समझना चाहिए कि 'सो' अथवा 'सु' वस्तुतः पुलिंग पद है, पर वह व्यवहार में स्त्रीलिंगवत् भी प्रयुक्त होने लगा है। संस्कृत में स्त्रीलिंग के निमित्त 'सा' आता है, इसी का लघु रूप 'स' बिहारी ने प्रयुक्त किया है, जैसे—बाला का लघु रूप बाल।

रुखौं हैं, हँसौं हैं, इत्यादि शब्द 'उन्मुख' शब्द के संयोग से बनते हैं। इनमें 'खौं' तथा 'सौं' के सानुनासिक होने के कारण, संसर्गवश 'हैं' भी सानुनासिक हो जाते हैं।

वाक्य शुद्धि के विषय में जो कुछ ऊपर कहा गया है, उससे पाठकों को

---

१. बिहारी-रत्नाकर' में।

२. तीसरी पुस्तक से अभिप्राय, लल्लूलाल जी-कृत तथा उन्हीं की छपवाई हुई 'लालचन्द्रिका' नामक 'बिहारी-सतसई' की टीका से है।

३. पाँचवीं पुस्तक से अभिप्राय 'बिहारी-सतसई' की सरदार कवि कृत टीका से है। टीकाओं के इस संख्या क्रम के लिए 'बिहारीरत्नाकर' का प्राक्कथन देखिए।

विदित हो गया होगा कि विहारी ने अपने वाक्यों में पदों का प्रयोग कैसा समझ बूझ कर किया है, और प्रयोग-वैपम्य तथा उच्छृंखलता से अपनी भाषा को कैसा बचाए रक्खा है। खेद का विषय है कि उन्हों ने भी अपनी स्वीकृत भाषा के निमित्त जो नियमावलियाँ अपने हृदय में निर्धारित की थीं, उनका उल्लेख नहीं कर दिया। यदि वे ऐसा कर जाते, तो साहित्यिक व्रजभाषा का एक बड़ा सुन्दर तथा उपयोगी व्याकरण उपस्थित हो जाता। कदाचित् उनके हृदय में ऐसा करने का विचार रहा हो, तो कोई आश्चर्य नहीं। किसी भाषा का व्याकरण बनाने वाले को पहले तो उस भाषा के स्वरूप का एक ढाँचा अपने हृदय में बनाना पड़ता है। फिर इस जाँच के निमित्त कि उक्त ढाँचे के नियमों का निर्वाह वाक्यों में किस प्रकार होता है, तदनुसार अनेक प्रकार के वाक्य रचने पड़ते हैं। ऐसे अनेक उदाहरण वाक्यों की कसौटी पर अपने हृदयगत नियमों को कसने के पश्चात वह उन नियमों का उल्लेख कर देता है। विहारी के नियमों का हृदयगत ढाँचा तथा उसके उदाहरणों के वाक्य तो तैयार हो गए थे, पर उसके नियमों के उल्लेख करने का या तो समय ही न मिला हो, अथवा अंत में उनको उक्त विषय से उपराम हो गया हो। जो कुछ हो, यह निश्चय है कि उनकी भाषा परम परिमार्जित तथा सश्रृंखल है, पर उसका कोई व्याकरण उनका बनाया प्राप्य नहीं है।

विहारी की भाषा की व्याकरणशुद्धि का विषय यद्यपि संक्षेपता के अनुरोध से हम यथेष्ट विस्तृत रूप से नहीं लिख सके हैं, तथापि यह कुछ विशेष बढ़ गया है, अतः अब हम इसको यहीं समाप्त करते हैं। यदि अवकाश मिला और पाठकों की रुचि अनुकूल जान पड़ी, तो हम फिर कभी साहित्यिक व्रजभाषा का एक स्वतंत्र व्याकरण उनकी भेंट करेंगे।

———

चौथा प्रकरण

बिहारी का काव्यत्व

वाक्य-सौष्ठव के निमित्त जिन तीन मुख्य बातों का निर्देश पहले प्रकरण में किया गया है, उनमें से पद-वाक्य-शुद्धि का विषय विशेषतः व्याकरण से सम्बद्ध है। अतः साहित्यिक व्रजभाषा के सामान्य व्याकरण के साथ साथ बिहारी की भाषा की व्याकरण-शुद्धि का निदर्शन कराते हुए तीसरे प्रकरण में कुछ कहा गया।

वाक्य-सौष्ठव के शेष दो तत्व भी यद्यपि वाक्य साधारण से सामान्य संबंध रखते हैं, तथापि इनका विशेष संबंध काव्यत्व ही से माना जाता है। अतः उनके संबंध में यहाँ कुछ निवेदन किया जाता है।

शब्दों की सुप्रयुक्तता के संबंध में पहले प्रकरण में कुछ कहा गया है। अब यहाँ शब्दों के विषयानुकूलत्व के संबंध में लिखा जाता है।

शब्दों का विषयानुकूलत्व

शब्दों के विषयानुकूल होने से उनका वर्णित विषय के सात्म्य होना अभिप्रेत है। शब्द अपने वर्णों, अथवा वर्ण-संयोगों के अनुसार, कोमल, कठोर, उद्धत इत्यादि होते हैं, और वर्णित विषय भी अपने भावों के अनुकूल, माधुर्य, प्रसाद, ओज आदि गुणों से समन्वित होते हैं। अतः कितने ही प्रकार के शब्द एक विषय के अनुकूल होते हैं; और कितने ही प्रकार के अन्य विषय के। इसी प्रकार कितने ही शब्द एक विषय के प्रतिकूल होते हैं, और कितने ही अन्य विषय के। इनके अतिरिक्त कितने ही शब्द ऐसे होते हैं, जिनमें किसी विशेष विषय के अनुकूल तथा प्रतिकूल होने की योग्यता नहीं है, वे सभी विषयों के वर्णन में बिना शाब्दिक लाभ अथवा

हानि पहुँचाए प्रयुक्त हो सकते हैं। साहित्य-ग्रंथों में ओज, माधुर्य तथा प्रसाद गुणों के सहायक शब्दों का जो वर्णन मिलता है, उसका अभिप्राय साहित्यिक ब्रजभाषा की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि ट वर्ग-वर्जित, सानुस्वार सार्शवर्ण तथा लघु इकार माधुर्य के अनुकूल हैं। इसी प्रकार वर्गों के आदि तथा तृतीय वर्णों का अपने वर्गों के तृतीय तथा चतुर्थ वर्णों से संयोग, द्वित्वाक्षर तथा रकार का किसी अक्षर के ऊपर या नीचे संयोग एवं ट, ठ, ड और ढ ओजगुण के अनुकूल हैं। इनके अतिरिक्त और प्रकारों के वर्ण न तो किसी प्रकार के उपयोगी ही हैं, न विरुद्ध ही। यद्यपि साहित्य ग्रंथों में उदासीन वर्णों के तारतम्य के विषय में कुछ विशेष नहीं कहा है, तथापि वस्तुतः इनके प्रभाव में परस्पर कुछ भेद होता है। जैसे—ट वर्ग के अतिरिक्त प्रतिवर्ग के प्रथम तथा तृतीय अक्षर उसके द्वितीय तथा चतुर्थ अक्षर की अपेक्षा कुछ कोमल तथा मधुर होते हैं। टवर्ग के द्वितीय तथा चतुर्थ वर्ण प्रथम तथा तृतीय वर्णों से कुछ न्यून कठोर होते हैं। इसी प्रकार 'र' की अपेक्षा 'ल' कर्ण सुखद होता है। इन्हीं अनेक प्रकार के कोमल, कठोर तथा उदासीन वर्णों के न्यूनाधिक्य से शब्द मधुर, उद्धत अथवा उदासीन होते हैं। और जिस वाक्य में जिस प्रकार के शब्दों का अधिक गुम्फन होता है, वे वाक्य उन्हीं के अनुसार माधुर्य, काठिन्य तथा औदासीन्य के व्यंजक होते हैं। कभी कभी कोई वर्ण किसी अन्य वर्ण के संयोग अथवा सामीप्य से, और कोई कोई वर्ण स्वयं ही कर्ण-कटु होते हैं, जैसे—कर्कश, कर्तृ इत्यादि। टवर्ग को बहुधा लोग स्वयं कर्णकटु मानते हैं। कोमल वाक्य श्रृंगार, करुण तथा शांत रसों के अनुकूल होता है, और उद्धत तथा कठोर वाक्य वीर, वीभत्स तथा रौद्र रसों के।

यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि यदि किसी वाक्य में अधिक मधुर शब्दों का गुम्फन हो, तो एक आध उद्धत अथवा कर्णकटु अक्षरों अथवा शब्दों के आ जाने पर भी उक्त वाक्य में माधुरी ही मानी जाती है। जैसे किसी खाद्य पदार्थ में यदि मीठा बहुत मिलाया गया हो, तो किंचित्

लवण अथवा मिर्च पड़ जाने पर भी उसका स्वाद मीठा ही रहता है। जयदेवजी के—

मधुकरनिकरकरम्बित कोकिलकूजित कुंजकुटीरे

पद में यद्यपि 'टी' तथा 'रे' दोनों वर्ण कोमलता के विरुद्ध हैं, तथापि उनकी मात्रा अत्यल्प होने के कारण उक्त पद के माधुर्य में कोई बाधा नहीं पड़ती।

कहीं कहीं उद्धत तथा कटु शब्दों की मात्राओं के कुछ अधिक हो जाने पर भी यद्यपि उनका स्वाद भी लक्षित होने लगता है, तथापि उनसे माधुरी में दुःस्वादुता न आकर मिठलोनापन आ जाता है।

कभी कभी अधिक मधुर वर्णों के बीच में कुछ चटपटे वर्ण आकर माधुर्याधिक्य की अरोचकता के मिटाने का काम देते हैं, जैसे बहुत मीठा खाने पर कुछ चटपटे पदार्थ रोचक लगते हैं।

कभी श्रृंगाररस के वाक्य में भी किसी किसी प्रसंगवश उद्धतवर्ण रखने की आवश्यकता पड़ती है। जैसे—

उन्मीलन्मधुगन्धलुब्धमधुपव्याधूतचूतांकुर—
क्रीडत्कोकिलकाकली कलकलैरुद्गीर्ण कर्णज्वराः।
नीयन्ते पथिकैः कथं कथमपि ध्यानावधानक्षण—
प्राप्तप्राणसमासमागमरसोल्लासैरमी वासराः॥

यह श्लोक यद्यपि श्रृंगार रस का है, तथापि इसके आदि के दो चरणों की रचना कई एक संयुक्ताक्षर, रेफ तथा दीर्घसमास इत्यादि के द्वारा कुछ उद्धत की गई है, जो कि ओजगुण-व्यंजक है। इसका कारण यह है कि उनमें वसंत के दिनों का विरहियों के दुःख देने के निमित्त प्रबल प्रभाव वर्णित किया गया है, और उस प्राबल्य-व्यंजकता के निमित्त पदावली का ओजस्विनी होना अनुकूल है। इसी प्रकार—

ढीठि परोसिनि ईठि ह्वै कहे जु गहे सयानु।
सबै सँदेसे कहि कह्यौ मुसकाहट मैं मानु॥३८३॥

बिहारी के इस दोहे में यद्यपि 'ढीठि' तथा 'ईठि' शब्द शृंगार रस के प्रतिकूल हैं, तथापि पड़ोसिन की धृष्टता, कुटिलता इत्यादि के निमित्त प्रयुक्त हुए हैं, और उक्त भावों के सानुकूल ही हैं।

कभी कभी अनुप्रास आदि की श्रवणसुखदता से वर्णों की कटुता का परिहार हो जाता है। अनुप्रास कानों को बड़े सुखद होते हैं तथा उनका प्रभाव चित्तवृत्ति पर भी वैसा ही पड़ता है। अतः यदि उनका प्रभाव वर्ण कटुता के विरुद्ध प्रभाव से अधिक होता है तो वर्ण कटुता का प्रभाव नहीं होने पाता। जैसे ऊपर के दोहे में 'ढीठि' 'ईठि' पदों का सानुप्रास होना।

इन सब बातों के अतिरिक्त भिन्न भिन्न कवियों की रुचि भिन्न भिन्न होती है। किसी को माधुर्य विशेष प्रिय होता है, तो किसी को चटपटापन और किसी को दुरसापन ही रुचता है। इसी प्रकार श्रोताओं की भिन्न रुचि के कारण भी किसी को एक प्रकार की मिलावट रोचक होती है तो, अन्य को अन्य प्रकार की। बस फिर कवि की रुचि का प्रभाव भी उसकी रचना पर कुछ न कुछ अवश्य ही पड़ जाता है। चटपटी रुचि के कवि की शृङ्गार रस की कविता में भी कुछ चटपटापन आ जाता है, तथा मधुर रुचि के कवि की वीर आदि रस की कविता में भी कुछ माधुर्य झलक जाता है। पर चतुर कवि अपनी रचना में विरुद्धगुण-व्यञ्जक शब्दों का प्रभाव-प्राबल्य नहीं होने देते। बिहारी की सतसई में कुछ गिनती के दोहों को छोड़कर शेष सब शृंगार, भक्ति अथवा नीति ही के हैं। अतः उनके निमित्त कोमलकान्त पदावली ही अनुकूल है, और प्रायः दोहे ऐसी ही पदावली से विभूषित भी दिखलाई देते हैं। जैसे—

रस सिंगार-मंजनु किए कंजनु भंजनु दैन।
अंजनु रंजनु हूँ बिना खंजनु गंजनु नैन॥ ४६॥

रनितभृंग-घंटावली झरित-दान-मधु-नीरु।
मंद मंद आवतु चल्यौ कुंजरु कुंज-समीरु॥ ३८८॥

जिन दोहों में सानुस्वार शब्द नहीं आए हैं, उनके सामान्य अथवा कटुवर्ण भी अनुप्रास आदि के द्वारा श्रवणसुखद बना दिए गए हैं। जैसे--

साजे मोहन मोह कौं मोहीं करत कुचैन।
कहा करौं उलटे परे टोने लोने नैन॥ ४७५॥

इस दोहे में यद्यपि सानुस्वार वर्ण नहीं आए हैं, तथापि पूर्वार्ध में 'म' तथा 'ह' एवं 'क' की आवृत्ति के कारण सामान्य अक्षरों में भी श्रवणसुखदता आ गई है, और उत्तरार्ध में ककार की आवृत्ति तथा 'टोने' 'लोने' के अंत्यानुप्रास ने टकार की कटुता को मिटाकर रचना को शृङ्गारानुकूल कर दिया है।

यह विषय बहुत सूक्ष्म तथा विवादग्रस्त है, और बहुत कुछ पाठकों की रुचि पर निर्भर है। क्योंकि कोई शब्द-गुम्फन जो एक पाठक को किसी विषय के प्रतिकूल प्रतीत होता है, वही अन्य को अनुकूल जान पड़ता है। अतः इस विषय का सम्यक् नियमों के द्वारा निर्विवाद रूप से निर्धारित करना दुस्तर है। किसी किसी महाशय ने विहारी के कतिपय दोहों में टवर्ग देखकर उसमें कर्णकटुता तथा विषय-प्रतिकूलता दोष बतलाया है, पर अन्य सहृदयों को उक्त दोहे में ऐसा कोई दोष भासित नहीं होता। इस मतभेद का सम्यक् निर्णय बड़ा कठिन है, क्योंकि एक ओर तो साहित्य ग्रन्थों की साक्षी टवर्ग को कर्णकटु बतलाती है, और दूसरी ओर ऊपर लिखे हुए अनेक कारणों से उसका परिहार होता है। इस विषय का निर्णय, बहुश्रुत तथा सहृदय पाठकों को अपने अनुभव तथा साहित्य ग्रन्थों के उपदेश को मिलाकर और वर्णित विषय के भावों पर सूक्ष्म विचार करके करना उचित है।

यह स्मरण रखना चाहिए कि किसी के मत से शब्दों के विषयानुकूलत्व का वर्णन, काव्यत्व प्रतिपादन के प्रसंग में होना समीचीन है। हमको इस मत से कोई विरोध नहीं है। पर सामान्य वाक्यरचना में भी इसका उपयोग हमारी समझ में अच्छा है।

पदों के पूर्वापर विन्यास से उनका वाक्यों में आगे पीछे स्थापन करना अभिप्रेत है। अर्थानुसार वाक्यों में पदों का परस्पर तथा क्रियाओं से भिन्न भिन्न प्रकार का सम्बन्ध होता है, जैसे—व्याध व्याघ्र मारता है, इस वाक्य में व्याध तथा व्याघ्र में परस्पर मारने वाले तथा मारे जाने वाले का सम्बन्ध है, एवं 'मारता है' क्रिया का 'व्याध' कर्ता है, और व्याघ्र कर्म। इसमें व्याध तथा व्याघ्र का परस्पर तथा क्रिया से सम्बन्ध, उनके पूर्वापर विन्यास से प्रतीत होता है। पर यदि यही शब्द इस प्रकार रक्खे जायँ कि 'व्याघ्र व्याध मारता है' तो इस वाक्य में 'व्याघ्र' मारने वाला तथा 'व्याध' मारा जाने वाला, अर्थात् 'व्याघ्र' 'मारता है' क्रिया का कर्ता, एवं 'व्याध' कर्म हो जाता है। इन दोनों वाक्यों के अर्थ में बड़ा भेद है। अतः अभीष्ट अर्थ के अनुसार वाक्यों में शब्दों का इस प्रकार स्थापन आवश्यक है, जिसमें अन्वय करने में सरलता पड़े, और अर्थ समझने में कठिनता न हो।

पदों का पूर्वापर विन्यास

जो भाषाएँ इस प्रकार की हैं, जिनमें भिन्न भिन्न कारकों के निमित्त भिन्न भिन्न विभक्तियाँ नियत हैं, जैसे—संस्कृत, लैटिन इत्यादि। उनमें पदों के स्थानों के कुछ परिवर्तन हो जाने से विशेष गड़बड़ नहीं पड़ती, जैसे संस्कृत में, व्याधो व्याघ्रं हन्ति' तथा 'व्याघ्रं' व्याधो हन्ति' इन दोनों वाक्यों के पद विन्यास में भेद होने पर भी उनके अर्थ में कुछ भेद नहीं होता, और न उनके अर्थ समझने में कुछ बाधा पड़ती है। पर ऐसी भाषाओं में, जिनमें कई कारकों विशेषतः कर्ता तथा कर्म के एक ही रूप हो गए हैं, जैसे—ब्रजभाषा, खड़ीबोली, अंगरेजी इत्यादि। उनमें शब्दों के पूर्वापर प्रयोग से वाक्यार्थ में बड़ा भेद पड़ जाता है, जैसा कि ऊपर दिए हुए दोनों उदाहरणों से सिद्ध है।

यद्यपि गद्य तथा पद्य दोनों ही रचनाओं में पद विन्यास का विचार करना पड़ता है, पर पद्य रचना में विशेष सावधानी तथा चातुरी से

काम लेना होता है। कारण, गद्य रचना में तो शब्दों के यथेष्ट आगे पीछे रखने में कोई अड़चन नहीं पड़ती। अतः सामान्य नियमानुसार शब्द यथेष्ट स्थान पर रक्खे जा सकते हैं। पर पद्य में सामान्य नियमानुसार शब्दों के रखने में छन्द का प्रतिबन्ध बाधक होता है, जिसके कारण प्रायः शब्दों का पूर्वापर क्रम सामान्य नियम का अनुसरण नहीं कर सकता, ऐसे अवसर पर पद्यकर्ता को अपनी चातुरी से शब्दों का पूर्वापर क्रम इस प्रकार रखना होता है कि सामान्य क्रम में भंग होने पर भी अर्थ का बोध स्पष्ट रूप से हो सके। जैसे—

कोरि जतन कीजै. तऊ नागर नेह दुरै न।
कहैं देत चितु चीकनौं नई रुखाई नैन ॥ ३८७ ॥

इस दोहे के दूसरे दल में 'कहैं देत' क्रिया का 'नैन' कर्ता है, 'चितु चीकनौ' कर्म, तथा 'नई रुखाई' करण। अतः इसमें पदों का सामान्य क्रम इस प्रकार होना चाहिए—नैन नई रुखाई [सौं] चीकनौ चितु कहै देत [हैं]। पर इस क्रम से शब्दों के रखने से दोहा छन्द नहीं बनता, अतः शब्दों के सामान्य क्रम में परिवर्तन करने की आवश्यकता पड़ती है। ऐसी आवश्यकता पड़ने पर पद्यकर्ता का कर्तव्य होता है कि शब्दों का सामान्य क्रम परिवर्तन इस प्रकार करे कि अर्थ बोध में बाधा तथा अन्वय में क्लिष्टता न पड़ने पावे। इन शब्दों का कई प्रकार से पूर्वापर क्रम लगाया जा सकता है। जैसे—

नई रुखाई चीकनौं कहैं देत चितु नैन,
देत रुखाई चीकनौं कहैं नई चितु नैन,
कहैं चीकनौ चितु नई देत रुखाई नैन, इत्यादि

पर इन क्रमों से उक्त शब्दों के रखने से कवि का अभीष्टार्थ नहीं निकलता। अतः उसको इन शब्दों को ऐसे क्रम से स्थापित करना पड़ता है, जिससे अभीष्टार्थ भी निकले, और छन्द भी बन जाए। इसी उद्देश सिद्धि के निमित्त

बिहारी ने उनको इस क्रम से स्थापित किया जिसमें वे दोहे के उत्तरार्ध में पाए जाते हैं।

किसी किसी कवि के शब्दों का पूर्वापर क्रम कुछ ऐसी रीति पर पड़ जाता है कि जिससे अन्वय में कठिनता तथा अर्थ में अस्पष्टता आ जाती है। पर बिहारी के दोहों में प्रथम तो अन्वय की ऐसी क्लिष्टता बहुत ही अल्प दृष्टिगोचर होती है, और यदि किसी दोहे में दूरान्वय होता भी है, तो भाव की स्पष्टता उसके अर्थ में बाधा नहीं पड़ने देती। जैसे—

डारे ठोढ़ी-गाड़, गहि नैन बटोही, मारि।
चिलक-चौंध मैं रूप ठग, हाँसी-फाँसी डारि ॥१७॥

इस दोहे में 'नैन बटोही' तथा 'रूप ठग' पद यद्यपि ऐसे स्थानों पर पड़े हैं कि, 'नैन बटोही' पर 'मारि डारे' क्रिया का करणकर्त्ता तथा 'रूप ठग' पर कर्ता रूपधारी कर्म होने का भ्रम होता है, तथापि इस भाव के प्राबल्य से, कि सामान्यतः 'ठग' मारने वाला तथा बटोही' मारा जाने वाला ही होता है, यह सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है कि 'रूप ठग' करणकर्ता तथा 'नैन बटोही' कर्ता रूपधारी कर्म है।

बिहारी की काव्य रचना के विषय में जो बातें ऊपर कही गई हैं, उनसे पाठकों को स्पष्ट विदित हो जायगा कि शब्दों के चुनाव, पदशुद्धि तथा पद विन्यास तीनों ही बातों के विचार से सतसई की भाषा परम परिमार्जित, सश्रृंखल तथा प्रयोग-साम्य-सम्पन्न है। पदशुद्धि पर बिहारी ने वैसा ही ध्यान रक्खा है, जैसा संस्कृत का कोई सुन्दर कवि अपनी भाषा पर रखता है। यदि उनकी भाषा के अनुसार साहित्यिक ब्रजभाषा का कोई व्याकरण बनाया जाय तो वह परम पूर्ण तथा उपयोगी हो सकता है। बिहारी की भाषा की श्रेष्ठता के विषय में केवल हमारी ही यह सम्मति नहीं है, प्रत्युत संवत् १७४३ में कुलपति मिश्र ने भी अपनी 'युक्ति तरंगिणी' नाम की पुस्तक में यह दोहा लिखा है—

भाँति भाँति रचना सरस देव गिरा ज्यों व्यास ।
त्यों भाषा सब कविनि मैं विमल विहारी दास ॥

काव्यत्व

विहारी की वाक्य रचना के विषय में आवश्यक बातें लिखने के पश्चात् अब संक्षेप से उनके काव्यत्व के विषय में कुछ लिखा जाता है । कारण, वाक्य के साधुत्व की विवेचना के पश्चात् ही उसके काव्यत्व की विवेचना करना समुचित है, जैसा कि हेमचन्द्र के इस श्लोक से भी सिद्ध होता है—

शब्दानुशासनेऽस्माभिः साध्व्यो वाचो विवेचिताः ।
तासामिदानीं काव्यत्वं यथा वदनु शिष्यते ॥

हम ऊपर कह आए हैं कि काव्यत्व के मुख्य साधनों के विषय में प्राचीन साहित्यकारों के भिन्न भिन्न मत हैं, किसी ने अलंकार को, किसी ने रीति को, किसी ने वक्रोक्ति को तथा किसी ने ध्वनि को काव्य की आत्मा अर्थात् काव्यत्व के निमित्त परमावश्यक वस्तु माना है । उसी के साथ हमने अपना यह मत भी निवेदित कर दिया है कि वस्तुतः वाक्य में रमणीयता का होना ही काव्यत्व है और अलंकार रीति इत्यादि उसी रमणीयता के साधन मात्र हैं । इन्हीं में से कोई किसी को और कोई किसी को प्रधान मानता है । यहाँ यह भी कह देना आवश्यक है कि आचार्यों में से जो किसी एक वस्तु को मुख्य साधन स्वीकृत करते हैं, वे भी शेष वस्तुओं को सर्वथा अनुपयोगी नहीं मानते, प्रत्युत उनको भी गौणरूप से काव्य के निमित्त आदरणीय समझते हैं ।

अब हम अपने पाठकों के अवलोकनार्थ उक्त विषयों के विषय में संक्षेपतः कुछ आवश्यक बातें लिखते हैं, क्योंकि उनके विस्तृत वर्णन की समाई इस प्रबंध में नहीं है ।

ढाका यूनिवर्सिटी के रीडर डाक्टर सुशील कुमार दे ने अंग्रेजी भाषा में संप्रति संस्कृत काव्य-शास्त्र का एक इतिहास दो भागों में लिखा है । उसमें इन विषयों पर बड़ी योग्यतापूर्वक प्रकाश डाला है, हमको अपने इस संक्षिप्त

विवरण लिखने में उक्त ग्रंथ से बहुत सहायता प्राप्त हुई है अतः हम उक्त महाशय के हृदय से कृतज्ञ हैं।

संस्कृत में जो सबसे प्राचीन साहित्य ग्रंथ प्राप्त होता है वह भरत मुनि का नाट्य-शास्त्र है। इस ग्रंथ में यद्यपि मुख्य विषय तो नाट्य है पर नाट्य में जो वाक्य-रचना होती है उसके संबंध में सोलहवें अध्याय में संक्षेपतः कुछ काव्य के विषय में भी लिखा गया है। इसमें काव्य के छत्तीस गुणों, चार अलंकारों, दस दोषों तथा दस गुणों का विवरण है। पर भरत ने इन चारो को रस-निष्पत्ति में सहायक मात्र माना है, और रसास्वाद को नाटक का मुख्य फल बतलाया है। नाटक में रस ही को प्रधान मानना वस्तुतः युक्ति सम्मत भी है, क्योंकि इससे वाक्य पाटव इत्यादि के चमत्कार की अपेक्षा सामाजिकों के हृदय में रसोत्पादन ही विशेष अभीष्ट होता है और वाक्य पाटव आदि रसोत्पादन के सहायक मात्र।

भरत का समय यद्यपि बहुत प्राचीन माना जाता है पर नाट्य-शास्त्र जो उनके नाम से प्रसिद्ध है वह अपने वर्तमानरूप में उतना प्राचीन नहीं प्रतीत होता। कई विद्वानों का मत है कि, उसके मूल रूप में शनैः शनैः अनेक परिवर्तन यथा न्यूनाधिक्य होकर वह अपने वर्तमान रूप में ईसा की चौथी शताब्दी में आया। ज्ञात होता है कि उस समय तक दृश्यकाव्य तथा श्रव्यकाव्य भिन्न भिन्न माने जाते थे, जो कि पीछे एक ही व्यापक काव्यशास्त्र अथवा साहित्य शास्त्र के दो भिन्न भिन्न प्रतिपाद्य माने जाने लगे। भामह, दंडी इत्यादि प्राचीन आलंकारिकों ने नाटक को काव्य का एक प्रकार माना है, यद्यपि उन्होंने उसके विषय में विशेष न कहकर तद्विषयक विशिष्ट ग्रंथों का उल्लेख मात्र कर दिया है। शनैः शनैः उसका विवरण साहित्य ग्रंथों में अधिकाधिक होने लगा और विद्यानाथ तथा विश्वनाथ ने उसके निमित्त एक एक परिच्छेद अलग ही अपने अपने ग्रंथों में सन्निविष्ट कर दिया।

नाट्य शास्त्र के समय का कोई श्रव्यकाव्य सम्बन्धी साहित्यिक ग्रंथ प्राप्त न होने के कारण यद्यपि यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि उस समय काव्य का मुख्य लक्षण अर्थात् काव्यत्व का मुख्य साधक क्या समझा जाता था, तथापि ईसा की सातवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में भामह रचित काव्यालंकार ग्रंथ से प्रतीत होता है कि उस समय तक श्रव्यकाव्य के लिए रसात्मक होना आवश्यक नहीं माना जाता था। भामह ने काव्य की नित्य सामग्री अलंकार ही को माना है।

भामह के समय से पंडितराज जगन्नाथ के समय तक अर्थात् ईसा की सातवीं शताब्दी के अन्त भाग से सत्रहवीं शताब्दी के मध्य भाग तक के रचे हुए काव्य शास्त्र के विषय में अनेक ग्रन्थ प्राप्त होते हैं, जिनसे तद्विषयक मत मतान्तरों के क्रमशः परिवर्तन तथा विकास का पता चलता है। अतः हम भामह के मत, अर्थात् अलंकारवादी मत ही से उक्त विषयों को आरम्भ करते हैं।

भामह—ईसा की सातवीं शताब्दी के अन्त में भामह ने काव्यालंकार अथवा भामहालंकार नामक ग्रन्थ रचा। उसमें काव्य के निमित्त अलकार ही प्रधान माने गए हैं, और गुण तथा दोषों का विचार उन्हीं के सम्बन्ध से किया गया है। प्रतीत होता है कि भामह का यह मत पूर्ववर्ती परंपरा पर निर्भर है जिसके कारण काव्यशास्त्र, अलंकार शास्त्र के नाम से कहलाता है।

अलंकार संप्रदाय

भामह के अनुसार काव्य शरीर के निमित्त दो सामग्री अर्थात् शब्द तथा अर्थ आवश्यक हैं, और अलंकार जो कि इनकी शोभा बढ़ाते हैं काव्यत्व के मुख्य साधन हैं। इस बात का तात्पर्य यह हुआ कि काव्य एक ऐसी वाक्य-रचना है जिसमें कोई निर्दिष्ट अर्थ प्रधान रूप से हो और जो किसी वाक्पाटव द्वारा, जिसको अलंकार कहते हैं, मनोहारिणी बनाई जाय।

भामह ने ३८ अलंकारों के लक्षण लिखे हैं और उनमें से कितनों के भेद प्रभेद भी दिखलाए हैं। अलंकारों में भामह ने मुख्य दो भेद माने हैं अर्थात्

शब्दालंकार तथा अर्थालंकार और इसी कारण दोषों के भी दो भेद स्वीकृत किए हैं अर्थात् शब्द-दोष तथा अर्थ-दोष। गुणों पर भामह ने विशेष ध्यान नहीं दिया है और तीन गुणों का अर्थात् ओज, माधुर्य और प्रसाद का संक्षेपतः कथन कर दिया है। भामह के मत से काव्यत्व के निमित्त अलंकारों के प्रयोग में एक प्रकार का उक्ति वैचित्र्य आवश्यक है, जो कवि-प्रतिभा से सम्पादित होता है और जिससे सब अलंकारों में एक विशेष प्रकार की रोचकता आ जाती है। इस उक्ति वैचित्र्य का सबसे अच्छा प्रकार उन्होंने वक्रोक्ति[1] (अथवा अतिशय) माना है। भामह के इसी मत को कुंतल भट्ट ने अपने वक्रोक्ति जीवित नामक ग्रन्थ में पूर्णतया विकसित करके वक्रोक्ति ही को काव्य का जीवन माना है, और यही मत यदि ध्वनिवाद का भी सूक्ष्म बीज कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं है। अलंकारों को प्रधानता प्रदान करने के कारण भामह ने 'रस' का विषय रसवत्, प्रेयस् तथा ऊर्जस्विन् अलंकारों में अन्तर्भूत कर दिया है।

उद्भट—भामह के प्रायः सौ वर्ष पश्चात् उद्भट ने भामहालंकार पर एक वृत्ति लिखी, जो अब प्राप्य नहीं है पर उनका एक स्वतंत्र ग्रंथ अलंकार संग्रह जो प्राप्य है उससे प्रतीत होता है कि उद्भट भामह ही के मतानुयायी थे। अलंकार संग्रह में उद्भट ने 'रस' को भामह की अपेक्षा अधिक आदर दिया है और ४१ अलंकारों के लक्ष्य लक्षण लिखे हैं, उसमें वक्रोक्ति के विषय में उन्होंने कुछ नहीं कहा है पर संभव है कि भामहालंकार-विवृति में उन्होंने भामह का मत विशेष रूप से प्रकाशित किया है।

रुद्रट रुद्रट का समय ईसा की नवीं शताब्दी का मध्य भाग मानना युक्तियुक्त प्रतीत होता है यद्यपि वामन तथा दंडी उनके पहले के साहित्यकार हैं तथापि अलंकारवाद सम्बन्ध से उनका विवरण पहले किया जाता है।

१—वक्रोक्ति से भामह का अभिप्राय किसी बात को घुमा फिरा कर इस भाँति कहने का है जिससे श्रोता तथा पाठक का मनोरंजक वैचित्र्य हो।

रुद्रट पर यद्यपि रसवाद का बहुत प्रभाव पड़ा था तथापि वह वस्तुतः अलङ्कार सम्प्रदाय ही के थे। उन्होंने रसको बहुत आदर दिया है पर फिर भी उसको एक गौण अङ्ग ही माना है और अलंकार को काव्यत्व का मुख्य साधन कहा है, जैसा कि उनके ग्रंथ के काव्यालंकार नाम ही से विदित होता है।

रुद्रट ने रीति के चार प्रकारों अर्थात् पांचाली, लाटीया, गौड़ीया और वैदर्भी का कथन तो अवश्य किया है, पर अपने संप्रदाय के अनुसार उसको विशेष महत्व नहीं दिया है। रुद्रट के मत से रीति शब्दों की विशेष प्रकार की संस्था मात्र है। ध्वनि का कथन रुद्रट ने नहीं किया है पर तो भी उनके पर्य्यायोक्ति भाव इत्यादि अलंकारों के सम्बन्ध में एक प्रकार के व्यंग्यार्थ की स्वीकृति सूचित होती है।

भामह तथा रुद्रट के बीच में जो डेढ़ पौने दो सौ वर्ष का अन्तर पड़ा उसमें अलंकार शास्त्र पर बहुत विचार हुआ और कितने ही भेद-प्रभेद तथा नए नए अलंकार बढ़ा दिए गए। अतः रुद्रट ने अपने ग्रन्थ में तीस नए अलंकार, और प्रधान अलंकारों के कुछ प्रभेद ग्रहण किए हैं। उसके अतिरिक्त उन्होंने अलङ्कारों का वर्गीकरण एक वैज्ञानिक सिद्धान्त पर स्थापित किया है। पहले तो उन्होंने अलङ्करों के दो भेद किए हैं अर्थात् शब्दालंकार तथा अर्थालंकार और फिर अर्थालंकारों को उन्होंने एक निज सिद्धांत पर विभक्त किया है अर्थात् १—वास्तव, २—औपम्य, ३—अतिशय तथा ४—श्लेष।

रुद्रट की वक्रोक्ति भामह की वक्रोक्ति से कुछ भिन्न ही है। उन्होंने वक्रोक्ति को एक अलंकार विशेष माना है और उसके दो भेद किए हैं अर्थात् श्लेष वक्रोक्ति तथा काकु वक्रोक्ति, और यही मत कुन्तल भट्ट को छोड़कर उनके पीछे के अन्य साहित्यकारों ने भी ग्रहण किया है। इसी प्रकार भामह तथा रुद्रट के अनेक अलंकारों के लक्षणों तथा प्रभेदों में अन्तर है जिससे ज्ञात होता है कि रुद्रट यद्यपि थे तो अलंकार ही संप्रदाय के तथापि उनकी शाखा भामह तथा उद्भट की शाखा से भिन्न थी।

रुद्रट अलंकार संप्रदाय के अन्तिम प्रवर्तक थे और उनके पश्चात् उक्त सम्प्रदाय का ह्रास आरम्भ हो गया। पर अलंकारों तथा उनके भेदों पर विचार अन्य सम्प्रदाय के साहित्यकार बराबर करते रहे। यहाँ तक कि चंद्रालोक में उनकी संख्या सौ तक पहुँच गई और फिर उसके टीकाकारों ने प्रायः बीस और भी बढ़ा दिए।

अलंकार सम्प्रदाय के विषय में जो कुछ कहा गया है, उसका निचोड़ यह है कि उक्त सम्प्रदाय के अनुसार काव्यत्व के निमित्त उसका रोचक तथा मनोरम होना आवश्यक है और उक्त रोचकता तथा मनोरमता का साधन अलंकारों का कवि प्रतिभा द्वारा उपयोग वैचित्र्य है। रीति तथा रस, उक्त सम्प्रदाय में काव्य की शोभा सम्वर्द्धक सामग्री मात्र मानी जाती हैं। ध्वनि का भी एक सामग्री विशेष होना भामह के वक्रोक्तिवाद से झलकता है।

अलंकारों के लक्षण लक्ष्य पाठकों को संस्कृत के ग्रन्थों काव्य-प्रकाश, साहित्यदर्पण, कुवलयानन्द इत्यादि एवं भाषा के ग्रंथों भाषा-भूषण, रसिक मोहन, काव्य-निर्णय इत्यादि से संग्रहणीय हैं क्योंकि यह विषय बड़ा विस्तृत है और इस प्रबंध में उसका समावेश उचित नहीं प्रतीत होता।

दंडी—अलंकार सम्प्रदाय के मानके ह्रास का कारण उसके प्रतिपक्षी रीतिवाद का विकास हुआ। रीति के महत्व का भाव पहले पहल दंडी के काव्यादर्श नामक ग्रंथ में दिखाई देता है, यद्यपि इस सम्प्रदाय का भी अलंकार संप्रदाय के साथ ही साथ पहले से चला आना अनुमानित होता है।

रीति संप्रदाय

इस ग्रंथ का समय प्रायः ईसा की आठवीं शताब्दी का मध्यभाग संभावित है। दंडी का सम्प्रदाय अलंकारवाद तथा रीतिवाद दोनों का मध्यस्थ कहा जा सकता है। वामन के शुद्ध रीति संप्रदाय के अनुसार रीति ही काव्य की आत्मा है, जो गुण पर निर्भर है और अलंकार रीति की शोभा संवर्द्धक मात्र हैं अर्थात् रीति से गुण का नित्य संबंध है और अलंकार का अनित्य संबंध। पर दंडी के मत से यद्यपि काव्य का मुख्य साधन तो

रीति है पर रीति के निमित्त अलंकार तथा गुण दोनों आवश्यक हैं। इस प्रकार दंडी को अलंकार तथा गुण दोनों ही काव्य के निमित्त आवश्यक मान्य हैं। पर दंडी की गणना रीति सम्प्रदाय में करना इसलिए समुचित है कि उन्होंने काव्यत्व के मुख्य साधन का नाम मार्ग (रीति) ही बतलाया है, यद्यपि रीति के साधन अलंकार तथा गुण दोनो माने हैं।

दंडी ने काव्य शरीर का सामान्य लक्षण यह माना है "ईष्टार्थ व्यवच्छिन्न पदावली" और इसी के अनुसार उन्होंने सुन्दर भावों के तदनुकूल शब्द-संस्था के द्वारा विदित करने का विषय पहले उठाया। इसी शब्द-संस्था का पारिभाषिक नाम मार्ग (रीति) है। दंडी के मत से शब्द योजना के अनुसार ईष्टार्थ के प्रकाशित करने के अनेक प्रकार हो सकते हैं। उनके सूक्ष्म भेद उनके ध्यान में यद्यपि उपस्थित थे पर उन्होंने दो मुख्य भेदों में उनको विभक्त किया अर्थात् वैदर्भ और गौड। भरत की भाँति दंडी ने भी दस गुण स्वीकृत किए हैं। यद्यपि उनके गुणों के लक्षणों में भरत के लक्षणों से भेद है।

दंडी ने यद्यपि स्पष्ट रूप से कहा तो नहीं है पर अलंकारों के दो भेद माने हैं, अर्थात् शब्दालंकार तथा अर्थालंकार। फिर अर्थालंकारों के भी उन्होंने दो भेद किए हैं अर्थात् स्वभावोक्ति तथा वक्रोक्ति। वक्रोक्ति के अंतर्गत उन्होंने ३५ अर्थालंकार तथा उनके भेद प्रभेद रक्खे हैं, जिससे अलंकारों का एक वैचित्र्य विशेष के साथ उपयोग किया जाना उनको मान्य लक्षित होता है जैसा कि भामह को भी है। रस को दंडी ने भी अलंकार सम्प्रदाय के अनुसार रसवत्, प्रेयस तथा ऊर्जस्विन् के अंतर्गत रक्खा है। यद्यपि उन्होंने उसको गौरव बहुत अधिक दिया है जो कि उनके महाकाव्य के लक्षण में यह कहने से व्यंजित होता है कि 'रसभावनिरंतरम्', अर्थात् जिसमें रसभाव निरंतर हो।

वामन—ईसा की आठवीं शताब्दी के अंत अथवा नवीं शताब्दी के आरंभ में रीतिवाद के मुख्य प्रवर्तक वामनाचार्य का होना माना जाता है।

उन्होंने अपने काव्यालंकारसूत्र नामक ग्रंथ में स्पष्ट रूप से रीति को काव्य की आत्मा कहा है, 'रीतिरात्मा काव्यस्य', और रीति को केवल गुणों पर निर्भर माना है।

वामन ने तीन रीतियाँ तथा दस गुण स्वीकृत किए हैं। वैदर्भी को उन्होंने सर्वगुण सम्पन्न माना है, गौडी में ओज और कांति की अधिकता तथा पांचाली में माधुर्य एवं सौकुमार्य की छटा[1]। वैदर्भी को उन्होंने सबसे अधिक श्रेष्ठ तथा ग्राह्य कहा है। यद्यपि दंडी की भाँति गुण के नाम तो वामन ने भी दस ही रक्खे हैं पर वस्तुतः उनको द्विगुणित कर दिया है, क्योंकि उन्होंने दसो गुणों को शब्दनिष्ट तथा अर्थनिष्ट दोनों माना है।

वामन ने रस को दंडी की अपेक्षा अधिक महत्व दिया है, क्योंकि उन्होंने उसको अर्थ गुण कांति में अंतर्भूत किया है, जिससे वह एक प्रकार काव्य की आवश्यक सामग्री हो जाता है। पर दंडी ने उसका स्वीकार कुछ काव्य अलंकारों के अंतर्गत किया है जो स्वयं काव्यत्व के लिए नित्य सामग्री नहीं है। अलंकारों को वामन काव्यत्व के निमित्त आवश्यक साधन नहीं मानते हैं, पर उनको काव्य का शोभा संवर्द्धक समझते हैं। वामन ने भी अलंकार दो प्रकार के माने हैं अर्थात् शब्दालंकार तथा अर्थालंकार। वामन के मत में यह विलक्षणता है कि उन्होंने सब अर्थालंकारों में किसी न किसी रूप से उपमा का गर्भित होना माना है और इसी कारण उनके समूह को सामान्य नाम उपमाप्रपंच प्रदान किया है।

वामन के मत से काव्य के रोचक होने के निमित्त उसमें सौंदर्य का होना परमावश्यक है। पर सौंदर्य क्या वस्तु है इसका कथन उन्होंने नहीं किया है जो कि प्रायः अनिर्वचनीय है। उक्त सौंदर्य के उत्पादन का मुख्य साधन उन्होंने रीति तथा उसकी सामग्री गुणों को माना है।

---

१. यदि पंचाल देश बुंदेलखंड तथा उसके आस पास का प्रांत माना जाय तो यह सिद्ध होता है कि बुंदेलखंडी तथा व्रजभाषा की माधुरी बहुत प्राचीन काल ही से स्वीकृत होती आती है।

भामह ने वक्रोक्ति का जो अर्थ अर्थात् उक्ति वैचित्र्य मानकर उसको सब काव्यालंकारों के निमित्त आवश्यक बतलाया है, वह वामन के दस गुणों में से अर्थ, गुण, माधुर्य में आ जाता है। वक्रोक्ति को वामन ने एक अलंकार विशेष माना है और उसका लक्षण भी पृथक् ही किया है।

रीति संप्रदाय के विषय में जो ऊपर कहा गया है उसका सारांश यह है कि उक्त संप्रदाय में भी काव्यत्व के निमित्त मनोरंजकता आवश्यक है। पर इस सम्प्रदाय में मनोरंजकता का साधन अलंकार के स्थान पर रीति मानी गई है। जिसका कवि की प्रतिभा द्वारा विषयानुकूल तथा रोचक बनाया जाना आवश्यक है। अलंकार तथा रस रीतिवादियों के मत में काव्य शोभा बढ़ाने की सामग्रियाँ हैं। उक्ति वैचित्र्य (भामह की वक्रोक्ति) भी इस सम्प्रदाय में काव्य के दस गुणों में से, जिन पर रीति का संगठन निर्भर है, एक गुण माना गया है जिसमें कुछ कुछ ध्वनि की झलक भी आ जाती है।

भाषा के प्रचलित साहित्य ग्रंथों में रीति का यथेष्ट तथा स्पष्ट वर्णन प्राप्य नहीं है, अतः हम यहाँ संक्षेपतः उसका कथन कर देना उचित समझते हैं, जिसमें हमारे पाठकों को बिहारी के दोहों तथा अन्य कविताओं के रीति-निर्धारण में सहायता मिले।

प्राचीन आचार्यों में से यद्यपि किसी ने रीति के दो, किसी ने तीन, किसी ने चार तथा किसी ने और भी अधिक प्रकार माने हैं, पर संप्रति प्रायः उसके तीन अथवा चार प्रकार माने जाते हैं। हम इस लेख में सुगमता के अनुरोध से उसका विवरण उसके चार भेद मानकर करते हैं। रीति वाक्य में पदों के संगठन को कहते हैं, जिस प्रकार मनुष्य के शरीर के अवयवों के संगठन को उसकी काठी कहते हैं। जैसे मनुष्यों की काठियाँ अनेकानेक प्रकार की होती हैं पर वे सब सामान्यतः कतिपय परिगणित भेदों के अंतर्गत चरितार्थ कर ली जाती हैं यथा—लंबी, नाटी, ठमकी इत्यादि। वैसे ही वाक्यों की रीतियों के भी अगणित प्रकार सम्भावित हैं, पर उनकी

चार स्थूल संस्थाएँ मान ली गई हैं अर्थात् वैदर्भी, गौडी, पंचाली तथा लाटी। रीतियों का लक्षण साहित्यकारों ने गुणों के आश्रय से किया है, अतः रीतियों के पूर्व गुणों का विवरण आवश्यक है।

प्राचीन आचार्यों ने गुणों को शब्द तथा शब्दार्थ के धर्म माना है, पर परवर्ती आचार्य उनको रस के धर्म मानते हैं। इनका मत है कि शब्दों में गुण केवल उपचार से कहे जाते हैं जैसे—मनुष्य के आकार में शौर्यादि गुण, यद्यपि वस्तुतः उक्तगुण आत्मा ही के धर्म हैं।

जिस प्रकार रीति की संख्या मानने में मतभेद है, पर अब वह तीन अथवा चार मानी जाती है, उसी प्रकार गुण की संख्यामान में भी अनेक मत-मतांतर हैं, पर अब उसके तीन भेद माने जाते हैं, अर्थात् माधुर्य, ओज तथा प्रसाद।

गुण वर्णों,[1] समास तथा रचना,[2] इन तीन सामग्रियों से व्यंजित होते हैं।

(माधुर्य गुण)

वर्ण—ट, ठ, ड, ढ वर्जित सब स्पर्श वर्ण अपने अपने पूर्व में अपने अपने वर्गांत वर्णों से संयुक्त होकर तथा ह्रस्व र एवं ण जैसे—अङ्क, अङ्ग, कञ्ज इत्यादि तथा हर, हरि, चारु, गण, मणि, अणु इत्यादि शब्दों में ङ्क, ङ्ग, ञ्ज इत्यादि एवं र, रि, रु, ण, णि, णु, इत्यादि।

---

१. वर्णों पद जो बहुवचन रूप में रक्खा गया है उसका यह अभिप्राय है कि किसी विशेष प्रकार के एक, दो अथवा तीन वर्णों के किसी वाक्य में पड़ जाने से वे किसी गुण विशेष के व्यंजक नहीं माने जाते, प्रत्युत गुण व्यंजकता के निमित्त तीन से अधिक विशेष प्रकार के वर्णों का वाक्य में बिना विशेष अंतर के उपस्थित होना आवश्यक है।

२. रचना से पदों का संगठन अभिप्रेत है, अर्थात् वाक्य में पदों का किसी अर्थ विशेष के अनुकूल विशेष क्रम से स्थापित करना।

यह स्मरण रखना चाहिए कि ब्रजभाषा में पूर्व में वर्गांत वर्ण लगे हुए स्पर्श वर्णों के लिखने की यह प्रथा है कि उक्त वर्गांत वर्ण उनके पूर्व में न लगाकर केवल स्पर्श वर्ण ही लिखे जाते हैं, और उनके पूर्व का वर्ण सानुस्वार कर दिया जाता है, जैसे—अंक, अंग, कंज इत्यादि। इसी प्रकार उसमें ण के स्थान पर न ही का प्रयोग होता है, जैसे—गन, मनि, अनु इत्यादि जिससे उसमें के ण विषय में ह्रस्व दीर्घ का नियम अनावश्यक है। अतः ब्रजभाषा के निमित्त माधुर्य-व्यंजक वर्ण को इस प्रकार समझना चाहिए कि सानुस्वार वर्णों के पश्चात् के ट, ठ, ड, ढ, को छोड़कर शेष स्पर्श वर्ण तथा लघु र।

समास—समासाभाव, अल्पसमास अथवा मध्यसमास अर्थात् अधिक से अधिक चार पदों का समास।

रचना—पदों के संगठन का मधुर होना अर्थात् माधुर्य व्यंजक वर्णों का अन्य सुकुमार वर्णों के साथ ऐसा पूर्वापर विन्यास तथा मधुर वर्णों के बीच बीच में कुछ ऐसा अंतर जिससे माधुर्यकारी प्रभाव हो।

माधुर्य-गुण के उदाहरण के निमित्त विहारी का यह दोहा देखिए—

रससिंगार-मंजनु किए, कंजनु भंजनु दैन।
अंजनु रंजनु हूँ विना खंजन-गंजनु, नैन॥ ४६॥

इसमें मंजनु, कंजनु, भंजनु, अंजनु, रंजनु, खंजनु, तथा गंजनु पदों में पूर्वानुस्वार युक्त ज कार स्पर्श वर्ण एवं रस तथा सिंगार पदों में ह्रस्व रकार माधुर्य व्यंजक वर्ण हैं, और समास भी इसमें दो तथा तीन पदों तक ही के हैं। मंजनु तथा कंजनु शब्दों के बीच में दो ही वर्णों अर्थात् 'किए' का अंतर है और वे दोनों वर्ण माधुर्य के विरोधी नहीं है, इसी प्रकार 'रंजनु हूँ' तथा 'खंजनु' शब्दों के मध्यस्थ विना शब्द को समझना चाहिए। इसके अतिरिक्त इस दोहे भर की रचना में कोई भी अक्षर माधुर्य का विरोधी नहीं दिखाई देता। अतः इस दोहे में माधुर्य की तीनों सामग्रियाँ अर्थात् वर्ण, समास एवं रचना, माधुर्य व्यंजक हैं। इनके अतिरिक्त मंजनु,

कंजनु इत्यादि में जो अन्त्यानुप्रास है उसने इसमें और भी माधुरी घोल दी है, क्योंकि अनुप्रास स्वयं ही प्रयत्नैक्य के कारण बहुत ही श्रवण सुखद तथा मधुर होते हैं।

वर्ण—(१) वर्गों के प्रथम तथा तृतीय अक्षर अपने अपने वर्गों के द्वितीय तथा चतुर्थ अक्षरों से यथासंख्य संयुक्त होकर जैसे—मक्खन, लग्घड़, जुज्झय, लट्ठ, कपित्थ, विरुद्ध इत्यादि शब्दों में क्ख, ग्घ, ज्झ, ट्ठ, त्थ, द्ध इत्यादि। (ओज गुण)

(२) तुल्य अक्षरों का संयोग जैसे—तुक्कड़, कच्छ, भट्ट, भद्द तथा गप्प इत्यादि शब्दों में क्क, च्छ, ट्ट, द्द, प्प इत्यादि। स्मरण रहे कि मुक्त, दुक्त, खड्ग इत्यादि शब्दों के क्त तथा ड्ग इत्यादि को भी ओज व्यंजक ही समझना चाहिए।

(३) ऊपर अथवा नीचे रेफ लगे हुए वर्ण जैसे—अर्क, समग्र, वज्र, राष्ट्र, शत्रु, सर्प तथा अभ्र इत्यादि शब्दों में र्क, ग्र, ज्र, ष्ट्र, त्रु, र्प तथा भ्र इत्यादि।

(४) ट, ठ, ड, ढ, बिना संयोग के भी जैसे—बाट, दीठि, डाकू, ढोल इत्यादि शब्दों में ट, ठि, डा, ढो इत्यादि।

(५) श तथा ष, जैसे—नाश, भाषा इत्यादि शब्दों में श तथा ष।

ब्रजभाषा में 'श' के स्थान पर 'स' का प्रयोग होता है, जैसे—प्रकाश तथा शमन के स्थान पर प्रकास तथा समन। षकार का उच्चारण ब्रजभाषा में प्रायः सकारवत होता है और ऐसी दशा में उसके स्थान पर 'स' लिखा भी जाता है जैसे—रोष, शेष, इत्यादि शब्दों का रोस तथा सेस, उच्चारित होना और लिखा जाना। जब ष का उच्चारण स वत् नहीं होता तो लिखा तो ष ही जाता है पर उसका उच्चारण ठीक ख वत् होता है। अतः कवि लोग 'देखि' का अंत्यानुप्रास भी 'विसेषि' रखते हैं। यह बात भी देखने की है कि ब्रजभाषा की पुरानी लेख प्रणाली में 'ख' के स्थान पर भी 'ष' ही लिखा जाता था क्योंकि 'ख' के 'र व' पढ़े जाने का संदेह रहता था। पर छपी

हुई पुस्तकों में इस प्रणाली के पालन की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती।

समास—दीर्घ समास अर्थात् चार शब्दों से अधिक के समस्तपद।

रचना—पदों के गुम्फन का उद्धत होना अर्थात् ओज व्यंजक वर्णों का अन्य परुष वर्णों के साथ ऐसा पूर्वापर योजना तथा ओज व्यंजक वर्णों के बीच बीच में कुछ ऐसा अंतर जिससे ओज के प्रभाव का उत्कर्ष हो। ओज गुण के उदाहरण के निमित्त यह श्लोक देखिए—

मूर्ध्नामुद्वृत्तकृत्ता विरलगलगलद्रक्तसंसक्तधारा-
धौतेशाङ्घ्रिप्रसादोपनतजय जगज्जात मिथ्या महिम्नाम्।
कैलासोल्लासनेच्छाव्यतिकरपिशुनोत्सर्पिदर्पोद्धुराणां-
दोष्णां चैषां किमेतत्फलमिह नगरीरक्षणे यत्प्रयासः॥

इस श्लोक में 'इच्छा' शब्द में पहले अक्षर का दूसरे से योग, 'उद्धुराणां' में तीसरे का चौथे से योग, 'मूर्ध्नाम्' 'सर्प' तथा 'दर्प' में ऊपर रेफ, 'अलगलद्रक' तथा 'अङ्घ्रि' में नीचे रेफ, 'उद्वृत्त' 'कृत्त' 'जगज्जात' तथा 'उल्लास' शब्दों में तुल्य वर्णों का योग, 'ईश' तथा 'पिशुन' में 'श' एवं 'दोष्णां' तथा 'एषां' में 'ष' ये सब ओज व्यंजक वर्ण हैं। समास भी इसमें दो बड़े बड़े हैं अर्थात् एक 'उद्वृत्त' से 'महिम्नाम्' तक और दूसरा 'कैलास' से 'उद्धुरानां' तक। रचना भी इस श्लोक की उद्धत है अर्थात् ओजव्यंजक वर्णों तथा समासों का ऐसा ओजव्यंजक संघट्टन है कि उनके अंतराल में ऐसे वर्ण अथवा समास नहीं आए हैं जिनसे श्रोता के हृदय पर एक के प्रभाव के ह्रास हो जाने पर दूसरे का उच्चारण हो। इसके अतिरिक्त इसमें कोई माधुर्य-गुण-व्यंजक ऐसा वर्ण नहीं आया है जिससे ओज-गुण का विरोध सम्भावित हो। अतः इस श्लोक में ओज-गुण-व्यंजन सामग्री पूर्णतया विद्यमान है।

'रक्त संसक्त' अथवा ऐसे ही और शब्द जैसे, 'गुप्त' 'लुप्त' इत्यादि की गणना भी ओज-व्यंजक वर्णों ही में करना समुचित प्रतीत होता है। यद्यपि ऐसे शब्दों के विषय में 'काव्यप्रकाश' के टीकाकारों ने कुछ नहीं लिखा है।

प्रसाद गुण के व्यंजक ऐसे शब्द, समास तथा रचना होते हैं जिनसे अर्थ की प्रतीति सुनते ही हो जाय। यह गुण माधुर्य व्यंजक तथा ओज-व्यंजक दोनो प्रकार के काव्यों में अपेक्षित है। इसकी स्थिति माधुर्य तथा ओज से पृथक् नहीं हो सकती।

(प्रसाद गुण)

शब्द—प्रसाद-गुण-व्यंजक ऐसे शब्द होते हैं जिनके अर्थ श्रोता तथा पाठक बिना प्रयास ही समझ लें, चाहे वे शब्द माधुर्य-गुण-व्यंजक वर्णों से बने हों अथवा ओज-गुण-व्यंजक वर्णों से। वस्तुतः यह शब्द गुण अप्रसिद्धार्थ क्लिष्ट इत्यादि दोषों का परित्याग मात्र है।

समास—समास की प्रसाद-गुण-व्यंजकता उसके इस प्रकार संघटित होने में है जिससे उसके शब्दों का पारस्परिक संबंध स्पष्ट रूप से तथा शीघ्र समझ में आ सके, और उसके भेद निर्धारण में अर्थात् उसके तत्पुरुषत्व, बहुब्रीहित्व इत्यादि के समझने में श्रोता अथवा पाठक को काठिन्य न हो, क्योंकि ऐसे काठिन्य के उपस्थित होने पर अर्थ व्यक्ति में वाधा पड़ती है, और अर्थ व्यक्ति में वाधा पड़ने से रसानन्द में।

रचना—रचना अर्थात् विन्यास के प्रसाद-गुण-व्यंजक होने से शब्दों का पूर्वापर क्रम ऐसा होना अभिप्रेत है जिससे उनका पारस्परिक संबंध सरलता से बिना विशेष कष्ट के समझ में आ जाय, अर्थात् श्रोता अथवा पाठक को वाक्य के अन्वय लगाने में कठिनता न हो।

यह स्मरण रहे कि छंदों में लघु गुरु के नियत स्थानों पर पड़ने की आवश्यकता तथा गति इत्यादि के अनुरोध से कर्त्ता, कर्म, क्रिया इत्यादि का सर्वथा यथावस्थित रखना दुःसाध्य है। कुछ न कुछ व्यतिक्रम कवि को अवश्य ही करना पड़ता है। पर यह व्यतिक्रम होने पर भी यदि अर्थानुरोध से शब्दों का संबंध ज्ञात होने में सरलता बनी रहे तो उके प्रसाद-गुण की व्यंजकता नष्ट नहीं होती।

प्रसाद-गुण के उदाहरणार्थ यहाँ बिहारी का एक दोहा उद्धृत किया जाता है—

चमचमात चंचल नयन बिच घूँघट-पट झीन।
मानहुँ सुरसरिता-विमल-जल उछरत जुगमीन ॥५७६॥

इस दोहे में जितने शब्द आए हैं वे सब परम प्रयुक्त तथा विख्यात हैं। 'घूँघट-पट' तथा 'सुरसरिता-विमल-जल' के समास भी ऐसे सरल हैं कि सुनते ही उनका अर्थ प्रतीत हो जाता है। चमचमात क्रिया यद्यपि चंचल नयन कर्ता के पूर्व आई है तथापि अर्थ व्यक्ति में कोई बाधा नहीं पड़ती। इसी प्रकार 'घूँघट-पट' का विशेषण 'झीन' भी यद्यपि पश्चात् आया है पर अर्थ स्पष्ट है। सुरसरिता-विमल-जल के पश्चात् 'में' विभक्ति के लोप होने से भी अर्थ प्रतीति स्पष्ट तथा शीघ्र हो जाती है। अतः इस दोहे से प्रसाद-गुण पूर्णतया व्यंजित होता है।

काव्यप्रकाश तथा साहित्यदर्पण में जो वर्ण माधुर्य तथा ओज के व्यंजक गिनाए गए हैं उनके अतिरिक्त वर्णों के विषय में स्पष्टतया कुछ नहीं कहा है, अतः वे सब एक ही अर्थात् उदासीन श्रेणी में आ जाते हैं। पर वस्तुतः उनके भी सौकुमार्य तथा परुपत्व में कुछ तारतम्य अवश्य होता है। वर्णों की कोमलता तथा मधुरता अथवा परुपता तथा उद्धतता उनके कर्णेन्द्रिय पर भिन्न भिन्न प्रभावोत्पादकता पर निर्भर है। अतः भिन्न भिन्न वर्णों की कोमलता तथा परुपता के तारतम्य के पारखी तथा साक्षी सहृदयों की कर्णेन्द्रिय मात्र हैं। ऐसी ही परख पर आचार्यों ने माधुर्य तथा ओजव्यंजक वर्ण अन्य वर्णों से तथा परस्पर अलग करके बतलाए हैं और ऐसी परख से माधुर्य तथा ओज के व्यंजक वर्णों के अतिरिक्त जो वर्ण रह जाते हैं उनमें कोमलता अथवा सौकुमार्य एवं परुपता अथवा उद्धतता के तारतम्य का भेद होना संभव है, क्योंकि कोमलता तथा परुपता की दृष्टि से प्रत्येक वर्ण अथवा वर्ण-समुदाय का प्रभाव कुछ विशेष ही प्रकार का होता है, निर्दिष्ट, मधुर तथा ओजस्वी वर्णों के अतिरिक्त वर्णों में भी कोमलता तथा परुपता का मान रुद्रट तथा

वर्ण विचार

पुरुषोत्तम के वैदर्भी तथा गौड़ी रीतियों के लक्षणों से भी प्रमाणित होता है। यथा—

असमस्तैकसमस्ता युक्ता दशभिर्गुणैश्च वैदर्भी।
वर्गद्वितीय बहुला स्वल्पप्राणाक्षरा च सुविधेया॥

(रुद्रट)

बहुतरसमासयुक्ता सुमहा प्राणाक्षरा च गौड़ीया।
रीतिरनुप्राससमहिमपरतन्त्राऽस्तोकवाक्या च॥

(पुरुषोत्तम)

पहले श्लोक में वैदर्भी के लक्षण में अक्षरों का प्रायः चवर्गी तथा अल्प प्राण होना आवश्यक बतलाया गया है, और दूसरे श्लोक में गौड़ी के लक्षण में महाप्राण अक्षरों का बाहुल्य। यह बात स्थिर ही है कि वैदर्भी रीति के अक्षर कोमल तथा गौड़ी रीति के परुष होते हैं। अतः इन दोनों श्लोकों से अल्प प्राण वर्णों का महाप्राण वर्णों से कोमलतर माना जाना सिद्ध होता है। इसी प्रकार दंडी के श्लेष-गुण के लक्षण से भी जिसको उन्होंने वैदर्भी रीति की एक सामग्री माना है, अल्प प्राण अक्षरों का महाप्राण अक्षरों से मधुर होना लक्षित होता है। यथा—

श्लिष्टमस्पृष्ट शैथिल्यमल्पप्राणाक्षरोत्तरम्।
शिथिलं मालतीमाला लोलालिकलिला यथा॥

इसके अतिरिक्त काव्य-प्रकाश तथा साहित्यदर्पण में माधुर्य-गुण के जो उदाहरण लिखे हैं, यथा—

अनङ्गरङ्गप्रतिमं तदङ्गं भङ्गी भिरङ्गीकृतमान ताङ्ग्याः।
कुर्वन्तियूनां सहसा यथैताः स्वान्तानि शान्तापरचिन्तनानि॥

(काव्यप्रकाश)

लताकुंजं गुञ्जन्मदवदलिपुंजं चपलय-
न्समालिंगन्नङ्गं द्रततरमनङ्गं प्रबलयन्।

सरसन्दं मन्दं दलित मरविंदं तरलयन्-
रजोवृन्दं विंदन् किरति मकरन्दं दिशि दिशि ॥
(साहित्यदर्पण)

उनकी परीक्षा करने पर लक्षित होता है कि यद्यपि "पूर्वानुस्वार संयुक्त स्पर्शाक्षर तो उनमें बहुतायत से आए हैं पर उनमें से कोई भी महाप्राण नहीं हैं प्रत्युत ऐसे सब वर्ण अल्पप्राण ही हैं। इससे प्रतीत होता है कि यद्यपि पूर्वानुस्वार संयुक्त सभी स्पर्श वर्णों का माधुर्य-व्यंजक होना स्वीकृत किया गया है तथापि दोनों ग्रंथकारों को अल्पप्राण वर्ण महाप्राण वर्णों की अपेक्षा अधिक अभीष्ट थे। इससे भी अल्पप्राण वर्णों का कोमलतर होने का मान व्यंजित होता है।

दंडी के उद्धृत श्लोक की टीका में जीवानन्द विद्यासागर महाशय ने ह्रस्व स्वरों को भी श्लेपगुण के अनुकूल माना है। काव्यप्रकाश तथा साहित्यदर्पण के लघु 'र' तथा 'ण' के माधुर्य-गुण व्यंजक स्वीकृत करने से दीर्घ 'र' तथा 'ण' का माधुर्य गुण-व्यंजक न होना सिद्ध होता है। अतः इससे भी लघु स्वरों का दीर्घ स्वरों की अपेक्षा कोमल होना व्यंजित होता है।

इन सब बातों से अनुमान होता है कि साहित्यकारों के हृदय में वर्णों की कोमलता तथा परुषता के तारतम्य का अनुभव तथा विचार तो अवश्य था पर उन्होंने यह देखकर कि किसी किसी दो वर्णों की कोमलता तथा परुषता में ऐसा सूक्ष्म भेद होता है कि उसका लक्ष्य सामान्यतः नहीं होता और फिर ऐसे सूक्ष्म भेद पर दृष्टि रखकर काव्य रचना करना महादुःसाध्य प्रत्युत असंभव है अतः जिन वर्णों की माधुरी परम् व्यक्त अर्थात् सुनते ही अनुभवगम्य है उनको उन्होंने माधुरी-व्यंजक वर्णों में गिना दिया, और इसी प्रकार उन्होंने ओज-व्यंजक वर्णों में भी किया। शेष वर्णों के विषय में उन्होंने कुछ न कहकर उनका प्रयोग कवि की प्रतिभा तथा अनुभव पर छोड़ दिया। क्योंकि मधुर अथवा ओजस्वी रचना में दो एक विरुद्ध वर्णों के बीच बीच में पड़ जाने से उसके धर्म में बाधा नहीं पड़ती।

ऊपर कही हुई तथा अनेक और ऐसी ही बातों पर विचार करके एवं कुछ अपने अनुभव से भी काम लेकर हम निर्दिष्ट माधुर्य तथा ओज गुणों के व्यंजक वर्णों के अतिरिक्त वर्णों की कोमलता तथा परुषता का कुछ तारतम्य नीचे लिखते हैं। इस विवरण में हम पहले स्वरों तथा व्यंजनों को दो दो समूहों में विभक्त करेंगे अर्थात् कोमल तथा परुष, और फिर दोनों समूहों के वर्णों में कोमलता तथा परुषता का तारतम्य कहेंगे।

लघु स्वर सामान्यतः दीर्घ स्वरों से कोमल होते हैं अर्थात् अ, इ, तथा उ, सामान्यतः आ, ई, ऊ, ए, ऐ, ओ तथा औ से कोमल होते हैं। अतः ह्रस्व स्वरान्वित कोई भी व्यंजन दीर्घ स्वरान्वित उसी व्यंजन से कोमल होता है, जैसे—'का' तथा 'धा' से 'क' तथा 'ध'। इसके अतिरिक्त ह्रस्वस्वरों में परस्पर भी कोमलता का एवं दीर्घ स्वरों में परस्पर परुषता का तारतम्य होता है। इ, अ, तथा उ अपने उच्चारण स्थान के अनुसार उत्तरोत्तर कोमल है, और इसी प्रकार ऊ, आ तथा ई उत्तरोत्तर परुष। शेप दीर्घ स्वरों अर्थात् 'ए' 'ऐ' 'ओ' तथा 'औ' में से 'ओ,' 'औ' से 'ए' से परुष हैं।

(स्वर)

व्यंजनों में अल्पप्राण व्यंजन कोमल तथा महाप्राण व्यंजन परुष होते हैं।

(व्यंजन)

अल्पप्राण-व्यंजन—क, ग, ङ
च, ज, ञ
त, द, न
प, ब, म
य, ल, व

महाप्राण-व्यंजन—ख, घ
छ, झ
थ, ध
फ, भ
स, ह[1]

अल्पप्राण वर्णों में कोमलता तथा परुपता का तारतम्य इस प्रकार है कि 'प' तथा 'क' वर्गी व्यंजन 'त' तथा 'च' वर्गी व्यंजनों से कोमल होते हैं 'य' 'व' 'ल' में उत्तरोत्तर कोमलाधिक्य है और 'स' तथा 'ह' में 'स' परुपतर।

ऊपर जिन वर्णों का विभाग उनकी कोमलता अथवा परुपता के तारतम्य के अनुसार किया गया है वे निर्दिष्ट, माधुर्य तथा ओज के व्यंजक वर्णों के अतिरिक्त हैं, अतः कोमल तथा परुप वर्णों से उन्हीं को समझना चाहिए। उन्हीं में से जिनमें बहुत अल्प कोमलता अथवा परुपता है उनकी गणना सामान्य श्रेणी में है।

ऊपर कही हुई भिन्न भिन्न वर्णों की कोमलता तथा परुपता के अतिरिक्त उनसे संघटित शब्दों में भी कोमलता तथा परुपता का तारतम्य होता है। जो शब्द जितना ही सुखोच्चार होता है उतना ही श्रवण-सुखद भी। जैसे—ठमक तथा कमठ शब्दों में यद्यपि वर्ण तो वे ही हैं पर उनके विन्यासों के भिन्न होने के कारण उनके श्रवण सुखदता में कुछ भेद है जो अपने पूर्ववर्ती अथवा परवर्ती शब्दों के साहचर्य से कहीं एक अच्छा होता है और कहीं दूसरा।

वर्णों की निज कोमलता तथा परुपता के अतिरिक्त उनके अनुप्रासों अर्थात् आवृत्तियों में भी श्रवणेन्द्रिय की ज्ञानवाहिनी शिराओं के तुल्य अथवा तदात्मक प्रयत्नों के कारण कुछ विशेष प्रभाव होता है। अनुप्रास का विषय

---

१. स्मरण रहे कि व्यजनों में जो माधुर्य अथवा ओज गुणों के अंतर्गत माने जा चुके हैं वे ऊपर की सूची में नहीं दिखलाए गए हैं।

भाषा के बहुत स्वल्प ग्रन्थों में प्राप्य है और जिसमें है उसमें भी सुलझाकर नहीं लिखा गया है अतः उनका भी संक्षिप्त विवरण यहाँ किया जाता है।

साहित्यदर्पण में पाँच प्रकार के अनुप्रास लिखे हैं, अर्थात् (१) छेका अनुप्रास (२) वृत्यनुप्रास (३) श्रुत्यनुप्रास

अनुप्रास (४) अन्त्यनुप्रास, तथा (५) लाटानुप्रास।

(१) छेका अनुप्रास—अनेक व्यंजनों के अनेक प्रकार (अर्थात् स्वरूप तथा क्रम) से एक बार साम्य को छेकानुप्रास कहते हैं, जैसे—

जोग-जुगति सिखए सबै मनौ महामुनि मैन।
चाहत पिय-अद्वैतता काननु सेवत नैन॥ १३॥

इस दोहे में 'जोग' तथा 'जुगति' शब्दों में 'ज' तथा 'ग' व्यंजनों में स्वरूप तथा क्रम दोनों का एक बार साम्य है।

(२) वृत्यनुप्रास—वृत्यनुप्रास तीन प्रकार का होता है—

(क) अनेक व्यंजनों का एक प्रकार से (अर्थात् केवल स्वरूपतः) साम्य, जैसे—

हौं ही बौरी विरह-बस, कै बौरौ सबु गाउँ।
कहा जानि ए कहत हैं ससिहिं सीतकर नाउँ॥ २२५॥

इस दोहे में 'बस' तथा 'सबु' शब्दों में 'ब' तथा 'स' व्यंजनों का एक ही प्रकार से अर्थात् स्वरूपतः साम्य है, पर उनके क्रम में भेद है, क्योंकि एक में 'ब' प्रथम तथा दूसरे में अन्त में है।

ऐसे ही साम्य एक से अधिक बार होने में भी वृत्यनुप्रास का यही भेद होता है, जैसे 'करत' 'कातर' 'तारक' शब्दों में तीन व्यंजनों का एक ही प्रकार से एक से अधिक बार साम्य है।

(ख) अनेक व्यंजनों का अनेक प्रकार से अर्थात् स्वरूपतः तथा क्रमतः भी अनेक बार साम्य। जैसे—

हौं रीझी, लखि रीझिहौ छबिहिं छबीले लाल।
सोनजुही सी होति दुति मिलत मालती माल॥ ८॥

इस दोहे में 'म' तथा 'ल' व्यंजनों का स्वरूपतः तथा क्रमतः दोनों प्रकारों से अनेक बार साम्य है।

(ग) एक ही व्यंजन की एक बार अथवा अनेक बार आवृत्ति। जैसे—

कहत, नटत, रीझत, खिझत, मिलत, खिलत, लजियात।
भरे भौन मैं करत हैं नैननु हीं सब बात ॥ ३२ ॥

इस दोहे में 'भरे' तथा 'भौन' शब्दों में भकार की एक बार आवृत्ति हुई है, तथा—

चितई ललचौंहैं चखनु डटि घूँघट-पट माँह।
छल सौं चली छुवाइ कै छिनकु छबीली छाँह ॥ १२ ॥

इस दोहे में 'चितई ललचौंहैं' तथा 'चखनु' शब्दों में चकार की आवृत्ति एक से अधिक बार हुई है, तथा छल, छुवाइ, छनकु, छबीली तथा छाँह शब्दों में छकार की आवृत्ति अनेक बार हुई है।

(३) श्रुत्यनुप्रास—उच्चारण-स्थान अर्थात् कंठ, तालु इत्यादिकों के कारण व्यंजनों का साम्य होना अर्थात् एक ही स्थान से उच्चारित अनेक व्यंजनों का प्रयुक्त होना श्रुत्यनुप्रास कहलाता है। जैसे—

मेरी भव-बाधा हरौ राधा नागरि सोइ।
जा तन की झाँईं परैं स्यामु हरित-दुति होइ ॥ १ ॥

इस दोहे में मेरी भव' तथा 'बाधा' शब्दों में 'म' 'भ' तथा 'ब' वर्ण एक ही स्थान अर्थात् ओष्ठ से उच्चरित होने वाले आए हैं।

(४) अन्त्यनुप्रास—अपने पूर्व के स्वर के साथ एक अथवा अनेक व्यंजनों की यथावस्थिति आवृत्ति को अन्त्यानुप्रास कहते हैं। जैसे—काज, राज, लाज शब्दों में एक व्यंजन जकार अपने पूर्व स्वर आकार के सहित कई बार यथावस्थिति आया है, एवं 'आनन' तथा 'कानन' शब्दों में दो व्यंजनों 'न' 'न' की उनके पूर्ववर्ती स्वर आकार के सहित ज्यों की त्यों आवृत्ति हुई है।

यथावस्थिति से अभिप्राय यह है कि आवृत्त व्यंजन के स्वर अनुप्रास एवं संयोग एक ही सा हो तथा आवृत्त स्वर सानुनासिक अथवा निरनुनासिक होने में समान हो, जैसे—वंस का अनुप्रास हंस होता है पर हंसी नहीं हो सकता, और न बस का अनुप्रास हंस हो सकता है। इसी प्रकार आँस का अनुप्रास कास नहीं हो सकता।

यह स्मरणीय है कि आँस तथा कास के से शब्दों को कवियों ने पादांत अनुप्रासों में रख दिया है, पर वस्तुतः वह परिहेय ही है। हाँ आँस के अन्त्यानुप्रास में 'नास' अथवा 'मास' रखना ग्राह्य है, क्योंकि 'ना' तथा 'मा' पर यद्यपि अर्धानुस्वार नहीं है तथापि 'ना' तथा 'मा' के स्वयं सानुनासिक होने के कारण वे बिना अनुस्वार के भी ऐसे स्थानों पर त्याज्य नहीं हैं।

अन्त्यानुप्रास का प्रयोग छंदों में दो स्थानों पर होता है। एक तो पादों के अन्तर्गत पदों के अन्त में, और दूसरे पादांतों में, जैसे—

रससिंगार-मंजनु किए, कंजनु भंजनु दैन।
अंजनु रंजनु हूँ-बिना खंजनु-गंजनु नैन॥ ४६॥

इस दोहे के प्रथम दल में मंजनु, कंजनु तथा भंजनु एवं द्वितीय दल में अंजनु, रंजनु, खंजनु तथा गंजनु पदान्तरगत पदों के अन्त्यानुप्रास हैं एवं दैन तथा नैन पदान्त के अन्त्यानुप्रास हैं।

(५) लाटानुप्रास—एक ही शब्द के एक ही अर्थ में भिन्न भिन्न अभिप्रायों से अनेक बार प्रयुक्त होने को लाटानुप्रास कहते हैं, जैसे—

पिय तिय सौं हँसि कै कह्यौ लखैं दिठौना दीन।
चंदमुखी, मुखचंदु तैं भलौ चंद सम कीन॥ २४३॥

इस दोहे में 'चंद' शब्द तीन बार एक ही अर्थ में आया है, पर तीनों स्थानों पर उसके अभिप्राय भिन्न भिन्न हैं।

अनुप्रासों के अतिरिक्त सुप्रयुक्त यमक से भी कुछ मनोरंजकता अर्थात्

कोमलता अथवा परुषता का प्रभाव होता है। अतः उसका संक्षिप्त विवरण भी यहाँ किया जाता है।

व्यंजनों के किसी समूह का उसी क्रम तथा उन्हीं स्वरों के साथ पर भिन्न अर्थ से फिर आने को यमक कहते हैं। भिन्नार्थता का विचार ऐसे दोनों समूहों के सार्थक होने पर किया जाता है। जैसे—

यमक

तजतु अठान न हठ पर्‌यौ सठमति आठौं जाम।
भयौ बामु वा बाम कौं रहै कामु बेकामु ॥ १७० ॥

इस दोहे में 'बाम' शब्द दो बार आया है और दोनों स्थानों पर सार्थक है। पर एक 'बाम' का अर्थ स्त्री है और दूसरे का टेढ़ा है। इसी प्रकार काम शब्द भी दो बार आया है, पर एक 'काम' का अर्थ कामदेव और दूसरे का अर्थ कार्य है।

पर जब ऐसे दोनों समूहों में से एक समूह सार्थक और दूसरा निरर्थक होता है अथवा दोनों निरर्थक होते हैं तो वे भिन्नार्थ ही माने जाते हैं, जैसे—

समरस समर सकोच बस बिबस न ठिक ठहराइ।
फिरि फिरि उझकति फिरि दुरति दुरि दुरि उझकति आइ ॥५२७॥

इस दोहे में 'समरस' वर्ण समूह दो बार आया है। पहले समरस का अर्थ 'समान रसवाले' हैं, पर दूसरा 'समरस' अपने पूर्व भाग 'समर' के सार्थक होने पर भी पूर्ण समूह रूप में निरर्थक है। अतः ये दोनों समूह एकार्थ नहीं माने जाते।

कहत, नटत, रीझत, खिझत, मिलत, खिलत लजियात।
भरे भौन में करत हैं नैननु हीं सब बात ॥ ३२ ॥

इस दोहे में 'रीझत' तथा 'खिझत' दोनों शब्दों में 'झत' वर्ण समूह निरर्थक हैं अतः वे भिन्नार्थ ही समझे जाते हैं।

यमक के पादावृत्ति, अर्धावृत्ति, श्लोकावृत्ति इत्यादि भेद तथा उन भेदों के अनेक प्रभेद होते हैं। उनका कथन यहाँ विस्तार भय से नहीं किया जाता।

हाँ, पादान्त में कभी कभी अंत्यानुप्रास के स्थान पर यमक का उपयोग कर लिया जाता है, जैसे—

ज्यौं ज्यौं पटु झटकति, हठति, हंसति, नचावति नैन।
त्यौं त्यौं निपट उदारहूँ फगुवा देत बनै न॥३९३॥

इस दोहे के दोनों दलान्तों में 'नैन' शब्द यमक रूप से आया है। पहला 'नैन' सार्थक और दूसरा निरर्थक। पर पादान्त में दोनों पादों के अंत के समान वर्ण समूह यदि निरर्थक ही हों तो वे भिन्नार्थ न माने जाकर एकार्थ माने जायँगे। अतः अंत्यानुप्रासों के स्थानों पर उनका रखना उचित नहीं। जैसे—विचलैं तथा कुचलैं शब्दों के दो दो अक्षर 'चलैं' यद्यपि सर्वथा एक ही से हैं और निरर्थक हैं जिससे वे यमक के उदाहरण में तो चरितार्थ हो सकते हैं पर अंत्यानुप्रास में विचलैं तथा कुचलैं का रखना विहित नहीं है।

इन्हीं माधुर्य-व्यंजक, ओज-व्यंजक, कोमल तथा परुष वर्णों एवं अनेक प्रकार के अनुप्रासों के यथोचित संघटन से कवि अपनी प्रतिभा द्वारा विषयानुकूल रचना करने में समर्थ होता है। जो कवि जितनी ही चातुरी से अपनी शब्द रचनाको विषयानुकूल बना सकता है उसके काव्य में उतनी ही शब्द चमत्कृति होती है, जो कि अर्थ चमत्कृति की सहायक होकर काव्य में उत्कर्ष उत्पन्न करती है। पर इसका अभिप्राय यह नहीं है कि अर्थ चमत्कृति-शून्य, शब्द चमत्कृति सम्पन्न काव्य प्रशंसनीय तथा श्लाघ्य है। काव्य में भावानुकूल शब्द-रचना के होने की आवश्यकता प्रायः सभी भाषा के कवियों ने स्वीकृत की है। अंगरेजी के सुप्रसिद्ध कवि पोप का इस विषय में जो कथन है उसका अनुवाद यहाँ उद्धृत किया जाता है।

काव्य-गुण

'एतौ ही नहिं इष्ट सदा कविता मैं, भाई,
कै कर्कसता सहृदय कौं न होहि सुखदाई,
परमावस्यक धर्म, वरन, यह सुमति प्रकासैं,
कै रचना के सब्द अर्थ-प्रतिध्वनि से भासैं।

चहियत कोमल वरन पवन जँह मंद वहत वर
सरिता सरल चाल वरनन हित छंद सरलतर,
पै भैरव तरंग जहँ रोरित तट टकरावैं,
उत्कट, उद्धत वरन, प्रवल प्रवाह लौं आवैं,

जहँ रावन लै जान चहत हठि हर-गिरि भारी,
होहि छंद-गति क्लिष्ट सब्दहू सिथिलित चारी,
पै ऐसो नहिं जहँ हनुमत धावन वनि धावत,
नाँघत सिंधु निसंक, लंक गढ़ कूदि जरावत॥

सब देसनि मैं निज प्रभाव निज प्रकृति वगारति,
विस्व विजैतनि कौं सब्दहिं सौं जय करि हारति,
सब्द-माधुरी-सक्ति प्रवल मन मानत सब नर।'[1]

कभी कभी माधुर्य तथा ओज गुणों के निर्दिष्ट व्यंजन विशेष वर्णों के न होने अथवा न्यून होने पर भी कोमल अथवा परुष वर्णों तथा अनुप्रास इत्यादि का किसी कवि की रचना में ऐसा संघटन बन पड़ता है कि यद्यपि पारिभाषिक रीति पर वह रचना माधुर्य व्यंजक अथवा ओज व्यंजक न भी कहलावे तथापि वह वस्तुतः बड़ी ही मधुर तथा हृदय द्राविणी अथवा परम ओजस्विनी तथा चित्त विस्तारिणी होती है। इसका कारण यह है कि कोमल अथवा परुष वर्णों एवं उनके अनुप्रासों का उसमें ऐसा प्रभावशाली विन्यास

---

१ रत्नाकरजी के 'समालोचनादर्श' नामक ग्रंथ से उद्धृत, जो पोप साहब के ग्रंथ का अनुवाद है।

हो जाता है कि वह पारिभाषित माधुर्य अथवा ओज गुण व्यंजक वर्णों के प्रभाव से न्यून नहीं होता। जैसे—

ललितलवङ्गलतापरिशीलनकोमलमलयसमीरे।
मधुकरनिकरकरम्बितकोकिलकूजितकुञ्जकुटीरे॥

भारत कोकिल जयदेव के इन पादों में से प्रथम पाद में पूर्वानुस्वार संयुक्त वर्ण एक ही बार अर्थात् 'लवंग' शब्द में आया है और ह्रस्व 'र' भी एक ही बार। इसी प्रकार द्वितीय पाद में पूर्वानुस्वार संयुक्त वर्ण दो बार अर्थात् 'करंबित' तथा 'कुंज' शब्दों में, और ह्रस्व 'र' भी दो ही बार, जिनका आना विशेषतः माधुर्य व्यंजक नहीं कहा जा सकता। क्योंकि माधुर्य के निमित्त ऐसे तीन वर्णों से अधिक का थोड़े थोड़े अंतर से आना आवश्यक माना गया है। पर इन पदों में कोमल वर्णों तथा उनके अनुप्रासों का ऐसा मनोहर विन्यास है कि उनमें से माधुरी टपकी पड़ती है और उनका प्रभाव हृदय पर किसी माधुर्य गुण के उदाहृत पद से न्यून नहीं होता। इन दोनों पादों में सब मिलाकर ४४ वर्ण आए हैं उनमें से महाप्राण केवल तीन ही हैं अर्थात् श, स तथा ध जो कि ४१ अल्प प्राणों अर्थात् कोमल वर्णों के आगे अपना परुप प्रभाव प्रकट नहीं कर सकते। इन तीनों में से भी केवल 'श' को साहित्यकारों ने ओज व्यंजक माना है और शेष दो यद्यपि महाप्राण हैं तथापि सहृदयों ने उनको ओज व्यंजक वर्णों में नहीं गिना है। इसके अतिरिक्त 'परिशीलन' शब्द का 'श' निर्दिष्ट माधुर्य व्यंजक ह्रस्व र कार तथा कोमल वर्ण लकार के बीच में पड़कर अपनी परुपता सर्वथा गवाँ देता है। यही दशा 'मधुकर' के धकार 'समीरे' के सकार की है। अतः इन पादों में कोमल तथा मधुर वर्णों की व्यापकता ही रह जाती है, जो अपने संगठन तथा अनेक प्रकारों के अनुप्रासों के द्वारा परम मधुर-प्रभावशालिनी हो गई है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है अनुप्रास कर्णेन्द्रिय की ज्ञानवाहिनी शिराओं पर एक विशेप प्रभाव डालने के कारण सदैव अपने वर्णों के प्रभाव का उत्कर्ष

करते हैं। कोमल तथा परुष वर्णों के विन्यासों एवं अनुप्रासों में भेद यह है कि उक्त विन्यासों में एक ही जाति के वर्णों का यथोचित संघटन होता है। उस संघटन में इस बात की आवश्यकता नहीं होती कि एक ही वर्ण फिर फिर नियम से आवे। पर अनुप्रासों में उसी एक अथवा अनेक वर्णों की नियत रूप से आवृत्ति की आवश्यकता होती है जैसा कि ऊपर बतलाया गया है।

जिन गुणों का कथन ऊपर हुआ है उनमें से माधुर्य संभोग शृंगार, करुण, विप्रलंभ शृंगार तथा शांत रस में क्रम से अधिकाधिक होता है, और ओज वीर, बीभत्स तथा रौद्र रस में क्रमशः अधिकाधिक। यदि रस से रसाभास, भाव, भावाभास, भावोदय, भावशांति, भावसंधि तथा भावशबलता अभिप्रेत हैं अर्थात् जिन रसों में जो गुण होता है वह उसके रसाभास, भावादि में भी होता है। हास्य, अद्‌भुत तथा भयानक रस आदि में माधुर्य तथा ओज दोनों की स्थिति मानी जाती है। कहीं माधुर्य की प्रधानता होती है और कहीं ओज की। प्रसाद-गुण का होना सब रसों के काव्य में आवश्यक है।

यह स्मरण रखना चाहिए कि यद्यपि वर्णों का चुनाव समासों का न्यूनाधिक्य एवं वाक्य रचना रसों के गुणों के परतंत्र हैं तथापि कभी कभी वक्ता वर्णनीय तथा प्रबन्ध के औचित्य से अन्यथा हो इष्ट होते हैं अर्थात् उनका रसों के प्रतिकूल होना इष्ट होता है। जैसे—

हरै गाय विप्रै अनाथै जु भाजै, पर द्रव्य छोड़े परस्त्रीहिं लाजै॥
परद्रोह जासो न होवै रती कौ, सु कैसे लरै भेष कीन्हे जती कौ॥

(रामचंद्रिका)

इस भुजंग प्रयात छंद में अंगद प्रति रावन का वचन है। रावन श्री रामचन्द्र के सात्विक गुणों का उपहास करता हुआ उनको निज राक्षसी प्रकृति के अनुसार निंदनीय तथा युद्ध-वीरता के अनुपयुक्त बतलाता है। इसमें हास्य तथा निंदा संचारियाँ हैं, और यद्यपि अपने में उन गुणों के

अभाव का गर्व भी है तथापि मुख्यता निंदा ही की है। अतः इसमें उद्धतवर्णों की आवश्यकता नहीं है प्रत्युत ऐसे वर्ण इष्टार्थ के कुछ प्रतिकूल ही पड़ते हैं। पर इस वाक्य का वक्ता प्रसिद्ध क्रोधी तथा गर्वी रावण है, अतः उद्धत वर्ण सामान्यतः उसके स्वभाव के अनुकूल हैं इसी कारण केसवदास जी ने इस छंद में संयुक्त 'र' दीर्घ 'थ' 'भ' 'छ' तथा 'ड़' प्रयुक्त किए हैं एवं तीनों 'पट' शब्दों के टकारों को उनके पश्चात् संयुक्त वर्ण लाकर गुरुत्व प्रदान कर दिया है जिससे इसमें वक्ता के स्वाभावानुसार ओज व्यंजकता आ गई है।

गुणों के विवरण के पश्चात् रीति के वर्णन में कुछ विशेष कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती। जैसा कि ऊपर कहा गया है, रीति चार प्रकार की होती है, अर्थात् वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली तथा लाटी। इनमें से वैदर्भी, गौड़ी तथा पांचाली रीतियों ही को उपनागरिका, परुषा तथा कोमला अथवा ग्राम्या वृत्ति कहते हैं।

चार प्रकार की रीतियाँ

वैदर्भी—वैदर्भी रीति ऐसी ललित पद संघटना को कहते हैं जिसमें माधुर्यव्यंजक वर्ण तथा अल्प समास हों। जैसे—

रनित भृंग घंटावली, झरित-दान-मधु-नीरु।
मन्द मन्द आवतु चल्यौ कुंजरु कुंज-समीरु॥ ३८८॥

इस दोहे के दूसरे दल में पूर्वानुस्वार के सहित दो 'द' तथा दो 'ज' एक लघु 'र' माधुर्य-व्यंजक वर्ण आए हैं और शेष सब वर्ण भी कोमल हैं। समास भी इसमें एक ही है और वह भी केवल तीन शब्दों का। प्रथम दल में यद्यपि 'ट' ओज व्यंजक वर्ण आया है और उसके अतिरिक्त 'भ' 'घ' 'झ' तथा 'ध' परुष वर्ण भी हैं तथापि 'भ' में पूर्वानुस्वार युक्त 'ग' के सम्बन्ध से 'झ' में ह्रस्व 'र' के संबंध से एवं 'ध' में 'म' के सम्बन्ध से परुषता के प्रभाव का परिमार्जन हो गया है और पूर्वानुस्वार संयुक्त 'ग' का माधुर्य बना रहता है। इस दल में भी दीर्घ समास का अभाव है। इस दोहे में मधुर तथा कोमल वर्णों का विन्यास भी ऐसा है जिससे इसके वर्णों के माधुर्य का प्रभाव

में ह्रास न होकर प्रत्युत उत्कर्ष होता है। अतः इस दोहे में वैदर्भी रीति अथवा उपनागरिका वृत्ति है।

गौड़ी—गौडी रीति ऐसे उद्धत पद-बन्ध को कहते हैं जिसमें ओज व्यंजक वर्ण और दीर्घ समास हो। जैसे—

भृकुटि कुटिल कोपि कठिन कटाच्छ करैं,
कोटिक कटक-भट कूट डहलत हैं।
फन फने फन पैं फनिंद-फन फैल्यौ जात,
पीठ हठ-कठिन कमठ कहलत हैं॥
सूखत समुद्र छुद्र छिद्रनि छपत जच्छ,
मुद्रित मयंक मुख रुद्र दहलत हैं।
दिग्गज दलन दिगपाल दुवरत देव,
देव लोक-सहित दिनेस दहलत हैं॥

इस कवित्त में 'ट' वर्णों तथा संयुक्त ओज व्यंजक-वर्णों का यथेष्ट आधिक्य है और शेष वर्णों में भी 'भ' 'फ' 'छ' परुष वर्णों की आवृत्ति है। रचना भी इसकी इष्ट वर्णों में उचित अंतर होने के कारण उद्धत है, और यद्यपि इसमें दीर्घ समास नहीं है तथापि वर्ण एवं रचना से यथेष्ट ओज आ गया है।

पांचाली—पांचाली रीति ऐसे पद-बंध को कहते हैं जिसमें उक्त दोनों रीतियों के निर्दिष्ट वर्णों के अतिरिक्त वर्ण एवं पाँच, छ पदों तक के समास हों। जैसे—

चलित ललित, श्रम-स्वेदकन-कलित, अरुन मुख तें न।
बन-बिहार-थाकीतरुनि-खरे थकाए नैन॥ ४०३॥

इस दोहे के दोनों दलों में मिलाकर चार लघु रकारों के अतिरिक्त और कोई वर्ण न तो माधुर्य व्यंजक ही है और न ओज व्यंजक। इसके अतिरिक्त इसमें समास भी छ शब्दों से अधिक का नहीं आया है। अतः यह दोहा पांचाली रीति का अच्छा उदाहरण है।

लाटी—लाटी रीति उसको कहते हैं जो वैदर्भी तथा पांचाली रीति के मध्य में हो अर्थात् जिस पांचाली रीति में कुछ माधुर्य व्यंजक वर्ण भी मिश्रित हों और समास दो ही तीन पदों के हों। जैसे—

ग्रामु घरीकु निवारियै, कलित ललित अलि-पुंज।
जमुना-तीर तमाल-तरु-मिलित मालती-कुञ्ज ॥१२७॥

इस दोहे में यद्यपि पांचाली रीति के अनुसार वर्णों का आधिक्य है तथापि इसमें 'पुंज' तथा 'कुंज' शब्दों के पूर्वानुस्वार संयुक्त जकार जिसकी परिगणना मधुर वर्णों में है, दो बार आया है और इसमें समास भी तीन शब्दों से अधिक के नहीं हैं। अतः यह दोहा लाटी रीति का उदाहरण कहा जा सकता है।

सामान्यतः काव्यों में पांचाली तथा लाटी ही रीतियों का आधिक्य देखने में आता है और शुद्ध वैदर्भी तथा गौड़ी रीतियाँ केवल ऐसे ही छंदों में दृष्टिगोचर होती हैं जिनको कवि ताककर हठात् उक्त रीतियों के उदाहरणार्थ अथवा अपने काव्य को विशेषतः अलंकृत करने के निमित्त बनाता है। पांचाली तथा लाटी रीतियों ही में कोमल तथा मधुर वर्णों के विन्यासों एवं विविध प्रकार के अनुप्रासों एवं समासों के संघटन से अनेक प्रकार अर्थों तथा रसों की व्यंजकता की जाती है, जैसा कि 'ललित लवंग लता' इत्यादि पदों में दिखलाया गया है।

काव्य में सबसे पहले रस का महत्व भरत के नाट्य-शास्त्र में माना गया है। पर उसमें उक्त महत्व का कथन केवल नाटक अर्थात् दृष्य काव्य के सम्बन्ध से कहा गया है। उससे यह स्पष्ट नहीं सिद्ध होता कि काव्य मात्र अर्थात् श्रव्य तथा दृष्य दोनों में रस का क्या स्थान है। भामः से लेकर वामन तक जो साहित्यकार हुए उन्होंने अपने ग्रन्थों में अलंकार तथा रीति ही का प्राधान्य स्वीकृत किया है, और दंडी तथा रुद्रट ने यद्यपि रस को बड़ा महत्व प्रदान किया है जैसा कि उनके महाकाव्य के लक्षणों से प्रकट होता है।

रस सम्प्रदाय

तथापि उन्होंने रस को अपने ग्रन्थों में काव्यत्व के निमित्त आवश्यक सामग्री खुलकर नहीं कहा है और न उसका वैज्ञानिक वर्णन ही किया है। रस क्या पदार्थ है और इसका अनुभव कैसे और किसको होता है, इन विषयों में भरत के टीकाकारों के मतों में भेद है। भरत ने जो नाटक से रस की निष्पत्ति बतलाई है उसी निष्पत्ति का अर्थ टीकाकारों ने बहुत वाद-विवाद तथा खंडन-मंडन करके अपने अपने मत के अनुसार माना है। उन सबका कथन इस लेख में अति प्रसंग मात्र है। अतः हम यहाँ केवल उस मत का संक्षिप्त विवरण कर देते हैं जो संप्रति विशेषतः माना जाता है।

रस का विधिवत् विवरण तथा उनके अनुभव आदि के विधान का कथन पहले पहल ध्वनिकार ने किया है, और उसके पश्चात् के साहित्यकारों ने भी कुछ संक्षिप्त हेर फेर से प्रायः वही मत माना है। पारिभाषिक शब्दों तथा उलझनों को छोड़कर सीधी-सीधी बात रस के सम्बन्ध में यह है—मनुष्यों के हृदय में पूर्व-अनुभूत अथवा पूर्व-जन्म-अनुभूत भावों की भावनाएँ विद्यमान रहती हैं सामान्यतः तो वे सुषुप्त अवस्था में पड़ी रहती हैं पर वैसे ही भावों के दृश्य तथा श्रव्य काव्यों में देखने सुनने अथवा पढ़ने से वे जाग उठती हैं और हम नैसर्गिक सामान्य सहानुभूति के कारण उनमें ऐसे लीन हो जाते हैं कि यह भेद नहीं रह जाता कि वे भाव हमारे हैं अथवा अन्य के, अर्थात् उन भावों का आस्वादन अथवा अनुभव हमको व्यक्ति तथा अवसर आदि की विशिष्टताएँ छोड़कर उनके साधारण तथा शुद्ध रूप में होता है। यही अनुभव रस कहलाता है। यह चित्त की वृत्तियों को तल्लीन तथा एकाग्र कर लेने के कारण लोकोत्तर आह्लाद जनक होता है और ब्रह्मानन्द सहोदर माना जाता है। जिस वाक्य से ऐसे रस का अनुभव सहृदयों के हृदय में होता है वह रसवत् काव्य अथवा रस काव्य कहलाता है। पर जिसके मत से रस ही काव्य की आत्मा है वे उसको केवल काव्य नाम से कहते हैं।

जो कुछ ऊपर कहा गया है उससे यह स्पष्ट है कि रसास्वादन के निमित्त

भावों की भावनाओं का हृदय में उपस्थित रहना आवश्यक है। यह भावनाएँ पूर्वानुभव अथवा पूर्वजन्म संस्कार के अतिरिक्त शिक्षा तथा अभ्यास से भी प्राप्त हो जाती हैं। जिसके हृदय में ऐसी भावनाएँ उपस्थित रहती हैं उसको सहृदय कहते हैं। जो सहृदय नहीं हैं वे काव्य रसास्वादन नहीं कर सकते।

(भाव)

जब किसी मनुष्य के हृदय में अन्य किसी मनुष्य अथवा पदार्थ को देख सुनकर किसी प्रकार का भाव उत्पन्न होता है और वह स्थिर रूप से उसके चित्त की वृत्ति को अपने वशीभूत कर लेता है तो उस भाव को स्थायी भाव कहते हैं। साहित्यकारों ने नौ स्थायी भाव गिनाए हैं, अर्थात् रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय और निर्वेद। इन्हीं नव स्थायी भावों के यथोचित वर्णन से नव रसों का आस्वादन होता है। उन रसों के यथासंख्य ये नाम हैं—शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत तथा शांत। श्रव्य काव्य में उक्त नवो रस माने जाते हैं पर दृश्य काव्य अर्थात् नाटक में केवल आठ ही। उसमें शांत रस नहीं माना जाता। पर किसी किसी के मत से नाटक में भी नवो रस होते हैं। इन नवो शुद्ध रसों के अतिरिक्त प्रत्येक रस के रसभाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावशांति, भावसंधि तथा भावशावल्य भी रसों ही के अंतर्गत समझे जाते हैं।

पूर्वोक्त स्थायी भावों में से जब कोई किसी के हृदय पर अपना प्रभाव जमा लेता है तो भिन्न भिन्न अवसरों तथा घटनाओं के अनुरोध से उसके हृदय में और भी अनेक भाव उत्पन्न होते हैं, जैसे किसी नायिका को अपने प्रेम पात्र को अन्य स्त्री के संभोग चिन्ह युक्त देखकर ईर्षा उत्पन्न होती है, अथवा यह समझकर कि मुझे इसने उससे घटकर समझा ग्लानि होती है। उसी नायिका को फिर उसी नायक को अपने को सप्रेम विनय अथवा स्तुति करते पाकर दया अथवा हर्ष का संचार हो जाता है। इसी प्रकार और भी

अनेक कारणों से अनेक भाव उत्पन्न हो सकते हैं। ये ईर्षा, ग्लानि, दया, हर्षादि अस्थिर मात्र हैं अर्थात् समय समय पर होते और मिट जाते हैं। इनकी उत्पत्ति का कारण वस्तुतः उसके हृदय में स्थित रति स्थायी ही है। क्योंकि यदि उसके हृदय में रति न होती तो उसको नायक के अन्य स्त्री संभोग से दुःख अथवा ग्लानि न होती, और न उसके विनय तथा स्तुति से दया और हर्ष ही।

ये मानसिक भाव जो समय-समय पर होते और मिट जाते हैं संचारी अथवा व्यभिचारी कहलाते हैं, क्योंकि इनमें से प्रत्येक कई रसों में संचरित होते हैं। इन्हीं का नाम सहकारी भी है क्योंकि ये स्थायी भावों के शीघ्र अनुभूत कराने में सहायक होते हैं। जितने मानसिक भाव समय-समय पर उठते हैं, उन सबकी गिनती संचारी भावों में हो सकती है। साहित्य-कारों ने ऐसे ३३ भाव निर्धारित किए हैं उनके नाम ये हैं—निर्वेद, आवेग, दैन्य, श्रम, मद, जड़ता, उग्रता, मोह, विबोध, स्वप्न, अपस्मार, गर्व, मरण, आलस्य, अमर्ष, निद्रा, अवहित्था, उत्सुकता, उन्माद, शंका, स्मृति, मति, व्याधि, त्रास, व्रीड़ा, हर्ष, असूया, विषाद, धृति, चपलता, ग्लानि, चिंता तथा वितर्क। इनमें से कितने संचारी भाव किसी रस में और कितने किसी रस में संचरित होते हैं। किसी में उनकी संख्या अधिक होती है और किसी में न्यून। शृंगार रस में सबसे अधिक अर्थात् ३० संचारी भाव माने जाते हैं। उग्रता, मरण तथा आलस्य को शृंगार रस में साहित्यकार नहीं मानते। पर किसी न किसी रूप में ये भी कभी-कभी उसमें आ जाते हैं।

जिस मनुष्य अथवा पदार्थ को लोक में देखकर ऊपर कहे हुए स्थायी भाव किसी के हृदय में उत्पन्न अथवा उद्दीप्त होते हैं उसको काव्य अथवा नाटक में निबद्ध होने पर विभाव कहते हैं। ये

(विभाव)

विभाव दो प्रकार के होते हैं—(१) आलम्बन और (२) उद्दीपन। जिसके अवलोकन से स्थायी भाव की उत्पत्ति होती है उसको आलंबन कहते हैं, और जिससे उसकी दीप्ति अथवा वृद्धि, उसको

उद्दीपन। जैसे—शृंगार रस के आलंबन सुन्दर स्त्री अथवा पुरुष होते हैं और उद्दीपन चन्द्रमा, चंदन, समीर इत्यादि। इसी प्रकार जिसके विकृत आकार वाक्य चेष्टा को देखकर लोग हँस दें वह हास्यरस का आलंबन होता है और उसकी चेष्टा इत्यादि उद्दीपन। जिसके हृदयगत भावों का वर्णन रसकाव्य में किया जाता है उसकी संज्ञा काव्य का नायक अथवा नायिका है, पर उसको आश्रयालंबन भी कहते हैं। ऐसी दशा में आलम्बन विभाव दो प्रकार का हो जाता है अर्थात् आश्रयालंबन और विषयालंबन, क्योंकि जिसको देख सुनकर भाव उत्पत्ति होती है उसको इस संबंध से विषयालंबन कहते हैं।

जब किसी के हृदय में किसी स्थायी भाव अथवा उसके संचारी भावों का प्रादुर्भाव होता है तो उसके अंगों में कुछ विकार लक्षित होते हैं। इन विकारों के द्वारा उसके मानसिक भावों की अभिव्यक्ति अर्थात् अनुभूति सहृदयों के हृदय में रसास्वादन कराती है। इसी कारण वे विकार अनुभाव कहलाते हैं।

(अनुभाव)

साहित्यदर्पण में जो स्त्रियों के यौवनावस्था में २८ अलंकार बतलाए गए हैं और जिनमें से प्रथम १० पुरुषों में भी होते हैं वे कभी उद्दीपनों में परिगणित हो जाते हैं और कभी अनुभावों में। जब वे भाव विषयालंबन संबंधी होते हैं तो उद्दीपन होते हैं, और जब आश्रयालंबन संबंधी तब अनुभाव। इन अलंकारों के नाम ये हैं—भाव, हाव, हेला, शोभा, कांति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य, धैर्य, लीला, विलास, विच्छित्ति, विब्वोक, किलकिंचित, मोट्टायित, कुतूहल, हसित, चकित, तथा केलि। इन अलंकारों में से कितने यत्नसाध्य हैं अर्थात् जो इच्छानुसार हो सकते हैं और कितने अयत्नसाध्य।

इनके अतिरिक्त जो साहित्यकारों ने आठ सात्विक भाव गिनाए हैं वे भी अयत्नसाध्य अनुभाव ही हैं। उनके नाम ये हैं—स्तंभ, स्वेद, रोमांच,

स्वरभंग, वेपथु (कंप), वैवर्ण्य, अश्रु, प्रलय। किसी किसी ने जृंभा (जम्हाई) को नवाँ सात्विक भाव माना है।

ऊपर कहे हुए अनुभावों के अतिरिक्त और भी अनेक प्रकार की चेष्टाएँ अनुभावों के अंतर्गत आ सकती हैं।

जब काव्य अथवा नाट्य में इन्हीं विभावों तथा अनुभावों का प्रदर्शन कवि अपनी प्रतिभा द्वारा ऐसी चातुरी से करता है कि उससे संचारी भाव तथा उनके मूल स्थायी भाव व्यक्त होकर सहृदयों को उनके हृदयस्थ वैसे ही भावों का आस्वादन निर्विकल्प रूप में करा देता है तो वही आस्वादन 'रस' कहलाता है। जैसे—

रह्यौ मोहु, मिलनौ रह्यौ, यौं कहि गहैं मरोर।
उत दै सखिहिं उराहनौ इत चितई मो ओर ॥४९३॥

इस दोहे में नायिका आलम्बन विभाव है, और उसका कुछ बनावटी रोष की चेष्टा से नायक की ओर देखना एवं सखी से उलाहने के वचन कहना उद्दीपन विभाव। नायक का अपने पीठमर्द सखा से उसकी चेष्टा का वर्णन करना अनुभाव है, जिससे स्मृति तथा उत्सुकता संचारियाँ व्यक्त होती हैं और विभाव अनुभाव तथा संचारियों से नायक का रति स्थायी भाव व्यक्त होकर इस दोहे के सहृदय श्रोता के हृदय में उसकी तद्रूप पूर्व संचित भावना को निर्विकल्प रूप में रसता प्रदान करती हैं।

कभी कभी किसी काव्य में विभावानुभाव तथा संचारी भावों में से किसी के साक्षात् वर्णन न होने पर भी उसका आकर्षण अर्थापत्ति प्रमाण से हो जाता है, जैसे—

चित पितमारक-जोगु गनि भयौ, भयैं सुत सोगु।
फिरि हुलस्यौ जिय जोइसी समुझैं जारज-जोगु ॥५७५॥

इस दोहे में ज्योतिषीजी आलंबन हैं और उनका यह समझकर कि उनके पुत्र के लग्न में पितृघातक योग पड़ा है शोक करना और फिर तत्क्षण ही यह विचार कर प्रसन्न हो जाना कि उक्त पुत्र के जन्म लग्न में जारज जोग

भी पड़ा है, बस यदि मरेगा तो स्त्री का जार मरेगा और मुझे सपति से छुट्टी मिलेगी, उद्दीपन है। जिसके हृदय में हास स्थायी उत्पन्न हुई अर्थात् आश्रय आलंबन का कथन इस दोहे में नहीं हुआ है, और इसीलिए उसके अनुभाव तथा संचारियों का विवरण किया जा सका। पर अर्थापत्ति प्रमाण से यहाँ आश्रय आलंबन कोई ज्योतिषीजी की उक्त दशा का देखनेवाला अथवा स्वयं कवि मान लिया जाता है। स्वयं कवि के आश्रय आलंबन होने की दशा में यह दोहा कवि का वचनरूप अनुभाव हो सकता है और असूया, चपलता हर्ष तथा गर्व संचारी।

इसी बात को साहित्यदर्पणकार ने इस प्रकार लिखा है—

विभावेनानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा।
रसतामेति इत्यादिः स्थायी भावः सचेतसाम्॥[1]

जैसा कि ऊपर कहा गया है काव्यत्व के निमित्त रस की प्रधानता का मान ध्वनिकार से आरंभ हुआ, पर ध्वनिकार ने यह बात स्पष्ट रूप से नहीं कही कि रस ही काव्य की आत्मा है। उसने ध्वनित्व को काव्य की आत्मा कहा है और ध्वनि कई प्रकार की मानी है जैसा कि ध्वनि प्रकरण में बतलाया जायगा। उन प्रकारों में से केवल एक प्रकार 'रस,' ध्वनि है जिसको प्रधानता अवश्य दी गई है, पर अन्य ध्वनियों का काव्यत्व नहीं माना गया है। ध्वनिकार के प्रथम वृत्तिकार आनन्दवर्धनाचार्य ने ध्वन्यालोक में रस को और भी अधिक प्रधानता प्रदान की है, तथा अभिनवगुप्त पादाचार्य ने अपनी टीका ध्वन्यालोक लोचन में रस को बहुत ही अधिक प्रधानता देने की चेष्टा की है। उनके पश्चात् के ग्रन्थकारों, श्री मम्मटाचार्य आदि ने भी रस ही की प्रधानता काव्यत्व के निमित्त स्वीकृत की है, पर यह बात स्पष्ट रूप से

---

१ इस श्लोक में जो संचारी को भी स्थायी के व्यक्त करने की सामग्रियों में परिगणित किया है वह भी ठीक ही है क्योंकि संचारी स्वयं विभावानुभाव से व्यक्त होकर स्थायी के व्यक्त करने में सहायक होते हैं।

नहीं कही है कि काव्यत्व के निमित्त रस ही आवश्यक पदार्थ है। इसी बात को घुमा फिरा कर कहा है, जैसे मम्मटाचार्य ने काव्य के लक्षण में शब्द तथा अर्थ का सगुण होना आवश्यक माना है और गुणों को रस का धर्म बतलाया है। इतना ही नहीं प्रत्युत रस का अंगी होना भी स्वीकृत किया है, बस फिर जब गुण काव्य के निमित्त अनिवार्य सामग्री हैं और गुण बिना रस के हो ही नहीं सक्ते तो रस ही काव्यत्व की मुख्य सामग्री ठहरता है। इसी बात को स्पष्ट रूप से ललकार कर विश्वनाथ महापात्र ने साहित्यदर्पण में कहा है—

वाक्यं रसात्मकं काव्यं दोषास्तस्यापकर्षकाः।
उत्कर्षहेतवः प्रोक्ता गुणालंकार रीतयः॥

रस का विशेष वर्णन तथा उसकी सामग्रियों विभावादि के भेद प्रभेद के लक्षणों तथा उदाहरणों के निमित्त पाठकों को संस्कृत के काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण इत्यादि तथा भाषा के रसिकप्रिया, जगद्विनोद, काव्यनिर्णय इत्यादि ग्रंथ द्रष्टव्य हैं। इस लेख में उनके विस्तृत कथन की समाई नहीं है।

ध्वनि-सम्प्रदाय

काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यःसमाम्नातपूर्व—
स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
केचिद्वाचां स्थितमविषये तत्वमूचुस्तदीयं
तेन ब्रूमः सहृदयमनः प्रीतये तत्स्वरूपम्।

ध्वनिकार के इस श्लोक से विदित होता है कि ध्वनि का ऊहापोह तथा उसके विषय में अनेक मतमतान्तरों का प्रचार उसके बहुत पूर्व ही से चला आता था। पर ध्वन्यालोक से प्राचीनतर उक्त विषय का कोई ग्रंथ इस समय प्राप्य नहीं है और न किसी अन्य ही ग्रंथ में ऐसे किसी ग्रंथ का उल्लेख देखने में आता है। अतः ध्वनि संप्रदाय का मुख्य प्रवर्तक एवं इस विषय का शास्त्र रूप से आदि लेखक ध्वनिकार ही माना जाता है। ध्वनिकार का समय विद्वानों ने विक्रम की आठवीं शताब्दी का अंत अथवा नवीं शताब्दी का आदि माना है।

ध्वनिकार का मत है कि काव्य की आत्मा ध्वनि है, अर्थात् उसमें ध्वन्यार्थ का होना ही उसके काव्यत्व का तत्व है। ध्वनि का विषय बड़ा गूढ़ तथा सूक्ष्म है। ध्वनिकार के मतानुसार उसका कुछ संक्षिप्त वर्णन यहाँ किया जाता है।

वाक्य में अर्थ दो प्रकार के होते हैं (१) वाच्य और (२) प्रतीयमान। वाच्य अर्थ वह है जो किसी वाक्य के शब्दों से उनके अर्थ जानने वाले को सुनते ही प्रतीत हो जाता है। जैसे—रामने रावण को मारा अथवा राम के बाण फुफकारते हुए सर्पों के समान चले। किसी वाक्य के वाच्यार्थ के प्रतीत हो जाने पर उसके अतिरिक्त जो कोई अन्य ही अर्थ वक्ता बोधव्य इत्यादि की विशेषता से सहृदय श्रोताओं को प्रतीत होता है वह प्रतीयमान अर्थ कहलाता है। इसी का दूसरा नाम ध्वन्यार्थ है। स्मरण रहे कि ध्वनि शब्द का प्रयोग प्रतीयमान अर्थ के निमित्त भी किया जाता है और ऐसे वाक्य के निमित्त भी जिसमें प्रतीयमान अर्थ होता है। उदाहरणार्थ—

> ढीठि परोसिनि ईठि ह्वै कहे जु गहे सयानु।
> सबै संदेसे कहि कह्यौ मुसकाहट मैं मानु॥

इस दोहे का वाच्यार्थ तो केवल इतना ही हुआ कि ढीठि पड़ोसिन ने नायिका की हितू बनकर जो संदेसे [उससे उसके पति से कहने के निमित्त] कहे वे सब संदेसे [उस नायिका ने अपने पति से] कहकर [अपनी] मुस्कराहट द्वारा [अपना] मान प्रकट किया। पर इस वाच्यार्थ के अतिरिक्त सखी वक्ता तथा नायक नायिका वर्णनीय की विशेपता एवं 'ढीठि' शब्द के प्रयोग से सहृदय श्रोता को वाच्यार्थ के अतिरिक्त यह अर्थ भी प्रतीत होता है कि पड़ोसिन से और नायिका के पति से गुप्त प्रेम था, पड़ोसिन ने नायिका से कुछ ऐसे संदेसे उसके पति से कहने के निमित्त कहे जिससे वह समझ जाय कि आज उक्त पड़ोसिन का घर सूना है और उससे मिलने का अच्छा अवसर है जिसकी सूचना उसने मुझको देकर बुलाया है। नायिका पड़ोसिन की यह धूर्तता समझ गई है अतः उसने नायक के आने पर पड़ोसिन के सब

संदेसे तो ज्यों के त्यों कह दिए, पर उसी के साथ मुस्करा भी दिया जिससे नायक पर विदित हो गया कि नायिका सब बातें समझ गई है और उसने रोष किया है। इस दोहे में पड़ोसिन के वचन उद्दीपन हैं, ईर्ष्या संचारी एवं नायक प्रति उसके वचन तथा एक विशेष प्रकार की मुस्कराहट अनुभाव। इन विभाव अनुभाव तथा संचारी से श्रृङ्गार रस व्यक्त होता है। ऐसे ही अर्थ तथा रस व्यक्त प्रतीयमान अर्थ कहलाते हैं।

ध्वनि शब्द का प्रयोग प्रतीयमान अर्थ के निमित्त भी किया जाता है और ऐसे वाक्य के निमित्त भी जिसमें प्रतीयमान अर्थ होता है।

जिस वाक्य में वाच्यार्थ अथवा शब्द को अप्रधानता तथा उक्त प्रतीयमान अर्थ को प्रधानता होती है, उसको आचार्यों ने उत्तम काव्य माना है; उसमें ध्वनि की विशेषता होती है अतः उसका नाम ही ध्वनि रखा है। ध्वनि के दो भेद माने गए हैं—(१) अविवक्षित वाच्य ध्वनि, और (२) विवक्षितान्य पर वाच्य ध्वनि।

जिस वाक्य के प्रतीयमान अर्थ की व्यंजना के निमित्त वाच्यार्थ की विवक्षा (आवश्यकता) नहीं होती उसको अविवक्षित वाच्य ध्वनि कहते हैं। यह ध्वनि लक्षणामूलक गूढ़ व्यंग्य के प्रधानता में होती है जैसे—

(अविवक्षित वाच्य ध्वनि)

तो पर वारौं उरबसी, सुनि, राधिके सुजान।
तू मोहन कैं उरबसी ह्वै उरबसी-समान ॥ २५ ॥

इस दोहे में 'सुनि राधिके सुजान' यह वाक्य खंड वाच्यार्थ में अनुपयुक्त है। क्योंकि बोधव्य से वक्तव्य विषय कह देना ही पर्याप्त था। 'सुनि राधिके सुजान' से यह ध्वनित होता है कि 'हे राधिके तैं सुजान है' अतः मेरे कथन पर ध्यान दे और उसको सत्य समझ। अतः यहाँ सुनि का अर्थ सुनकर ध्यान दें और मान होता है।

अविवक्षित वाच्य ध्वनि के दो भेद होते हैं (१) अर्थान्तर संक्रमित वाच्य और (२) अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य।

(१) अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि वह है जिसका वाच्यार्थ रहता तो है पर वह किसी दूसरे विशेष अर्थ के निमित्त कहा जाता है। यह ध्वनि उपादान लक्षणा में संभावित होती है। इसका उदाहरण 'तो पर वारौं' इत्यादि दोहे में दिखलाया गया है।

(२) अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य ध्वनि वह है जिसका वाच्यार्थ सर्वथा तिरस्कृत हो जाता है और ध्वन्यार्थ ही रह जाता है। पर ध्वनि उपादान लक्षणा के अतिरिक्त और लक्षणाओं के प्रयोग में सम्भावित होती है। जैसे—

पलनु पीक, अंजनु अधर, धरे महावरु भाल।
आजु मिले, सु भली करी; भले वने हौ लाल॥ २२॥

इस दोहे में 'भली' तथा 'भले' शब्दों में लक्षण लक्षणा है। 'आजु मिले सुभली करी' में यह ध्वनि है कि 'आज' जो तुम हमको इस वेष में मिले हो सो अच्छा नहीं है; और 'भले वने हो' में यह ध्वनि है कि तुमने यह वेष अच्छा नहीं धारण किया।

जिस ध्वनि में वाच्यार्थ भी बना रहे पर किसी गूढ़ व्यंग्यार्थ के निमित्त वह अप्रधान हो जाय वह विवक्षितान्य पर वाच्य ध्वनि है। यह ध्वनि अविधामूलक गूढ़ व्यंग्य के स्थान पर होती है। इसके भी दो भेद होते हैं (१) असंलक्षक्रम व्यंग्य और (२) संलक्षक्रम व्यंग्य।

(विवक्षितान्य पर वाच्य ध्वनि)

(१) असंलक्षक्रम व्यंग्य ध्वनि वह है जिसके वाच्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ का प्रतीति में क्रम लक्षित नहीं होता अर्थात् वाच्यार्थ से व्यंयार्थ की प्रतीति ऐसी शीघ्रता से होती है कि उनमें पूर्वापर क्रम का भेद नहीं ज्ञात होता। यह ध्वनि रस तथा भावादि की व्यंजना में होती है।

रस तथा भावादि का विषय रस सम्प्रदाय के विवरण में कहा गया है। रस सम्प्रदाय के मान तथा असंलक्षक्रम ध्वनि के मान में भेद यह है कि रस सम्प्रदाय में रस का प्रादुर्भाव वाच्यार्थ ही से माना जाता है, पर ध्वनि संप्रदाय में उसकी निष्पत्ति व्यंजना वृत्ति पर निर्भर की गई है। इस विषय

पाँचवाँ प्रकरण

सतसई के क्रम

बिहारी की सतसई की जो मूल अथवा सटीक प्रतियाँ मिलती हैं, उनमें दोहों का पूर्वापर क्रम एकसा नहीं मिलता। किसी में एक दोहा किसी संख्या पर दिखलाई देता है तो अन्य में अन्य संख्या पर।

क्रमों का संक्षिप्त विवरण

इसका मूल कारण यही है कि बिहारी ने न तो अपने दोहे किसी साहित्यिक क्रम से बनाए ही और न उनकी यथेष्ट संख्या पूर्ण हो जाने पर, उनको किसी विशेष क्रम से स्वयं लगाया ही। जब जब उनके हृदय में जो जो काव्योपयुक्त भाव, कुछ देख-सुनकर, उत्पन्न हुए, तब तब उन्होंने, उन भावों को, अपनी सुघर भाषा तथा प्रकृष्ट प्रतिभा के अनुसार, काव्य का स्वरूप देकर, भिन्न भिन्न दोहे बना डाले। ज्ञात होता है कि प्राकृत की गाथा-सप्तशती एवं संस्कृत की आर्या-सप्तशती तथा अमरुक-शतक इत्यादि, कोष काव्यों का अध्ययन तथा परिशीलन उन्होंने विधिपूर्वक किया था, अतः वे ग्रंथ उनके ध्यान पर भली भाँति चढ़े हुए थे, और यही कारण उनकी काव्य-भाषा के परम शुद्ध तथा एकरस होने का भी है। उन्हीं ग्रन्थों के ढंग पर उन्होंने भाषा में मुक्तक दोहों का एक ग्रंथ, मिर्जाराजा जयशाही के अनुरोध से, रचने का विचार किया और, जिस प्रकार उक्त ग्रंथों में कोई विशेष क्रम छंदों के पूर्वापर में नहीं हैं, उसी प्रकार उन्होंने भी अपनी सतसई में नहीं रखा।

एक यह भी बात यहाँ ध्यान देने योग्य है कि यदि बिहारी किसी विशेष क्रम से अपने दोहों की रचना करना चाहते तो, जिस उच्च कोटि तथा सौष्ठव-

संपन्न दोहों के बनाने में वे कृतार्थ हुए, कदाचित् वैसे दोहे न बना सकते, क्योंकि उनको, क्रम के बंधन में पड़कर, किसी विशेष दोहे के पश्चात् किसी विशेष ही भाव के दोहे के बनाने की आवश्यकता पड़ती। ऐसी दशा में, विशेष संभावना यही थी कि, जैसे सुन्दर तथा सूक्ष्म भाव उनके दोहों में भरे हैं वैसे न आ सकते, और न वैसी सुघर तथा सुष्ठु भाषा में उनकी व्यक्ति ही हो सकती, क्योंकि कवि की प्रतिभा एक ऐसी स्वतंत्र वस्तु है कि वह उसके इच्छानुसार कार्य करने पर बाधित नहीं की जा सकती। अभ्यास तथा शिक्षा के बल से, कवि कुछ न कुछ बना लेने में तो अवश्य समर्थ हो सकता है, पर जिन भावों का उसके हृदय में समयानुकूल स्वयं उद्गार होता है वे जैसे श्रेष्ठ तथा अलौकिक होते हैं, वैसे खींच-तानकर नहीं आ सकते, और न उनके प्रकाशित करने के निमित्त वैसे उत्तम शब्द तथा वाक्यविन्यास ही बन पड़ते हैं, क्योंकि खींचातानी के भावों के निमित्त शब्दों तथा वाक्य-विन्यासों का प्रयोग भी खींच-तान ही कर करना पड़ता है, अतः भावों तथा शब्दों में बहुधा वैषम्य आ जाता है। इसी कारण, प्रायः देखा जाता है कि बहुधा प्रबंध-काव्यों के अनेक स्थानों पर शिथिलता तथा अरोचकता आ जाती है; पर मुक्तक कविताओं के छंद, किसी क्रमादि का प्रतिबंध न होने के कारण, कवि की पूर्ण प्रतिभा तथा उसके अभ्यास एवं निपुणता से उत्पन्न हुए गुणों से संपन्न होते हैं।

हाँ, यह निस्संदेह संभव था कि बिहारी, अपने दोहों की यथेष्ट संख्या पूरी करने के पश्चात्, उनका कोई साहित्यिक अथवा वैषयिक क्रम लगा देते। पर उन्होंने ऐसा नहीं किया और अपनी आदर्श सतसइयों की भाँति, अपनी सतसई को भी एक मुक्तक दोहों का क्रमरहित संग्रह ही रहने दिया। इसी से, उनके पश्चात्, उनकी कविता के गुण-ग्राहकों तथा टीका-कारों ने, यह समझकर कि एक एक प्रकार के दोहों को एकत्र कर देने से उनकी शोभा कुछ विशेष बढ़ जायगी तथा उनके अर्थ समझने में भी कुछ सहायता प्राप्त होगी, अपनी अपनी रुचि के अनुसार उनके दोहों के

क्रम लगा लिए जैसा कि उनके प्रथम क्रमकर्त्ता कोविद कवि ने अपने संवत् १७४२ के बाँधे हुए क्रम की सतसई के अन्त में लिखा है—

किए सात सै दोहरा सुकवि बिहारीदास।
बिनुहि अनुक्रम ए भए महिमण्डल सुप्रकास॥
सत्तरह सै चालीस दुइ बरषे फागुन मास।
एकादसि तिथि सेत पख बुरहनपुर सुख-बास॥
तहँ कोविद सुभ ए लिखे भिन्न भिन्न अधिकार।
देखत ही कछु समुझियै जिन तैं अरथ-बिचार॥

और सतसई के दूसरे क्रमकर्त्ता, पुरुषोत्तमदास जी ने, अपने क्रम के अन्त में यह दोहा लिखा है—

जद्यपि है सोभा सहज मुक्तनि तऊ सु देखि।
गुहैं ठौर की ठौर तैं लर मैं होति बिसेषि॥

इसी कारण बिहारी की सतसई के दोहों के पूर्वापर क्रम भिन्न भिन्न प्रकार के दिखाई देते हैं। यदि बिहारी ने अपनी सतसई में विशेष क्रम संगठित कर दिया होता तो उसको परिवर्तित करने का कदाचित् कोई समझदार साहस न करता। उन्होंने अपने दोहों का वही क्रम रहने दिया, जिस क्रम से वे बने थे, जैसा कि ऊपर उद्धृत किए हुए कोविद कवि के प्रथम दोहे से प्रतीत होता है। इसी क्रम को बिहारी का निज क्रम कहना चाहिए। अब यह बात विचारने की है कि उक्त क्रम कौन सा है। हमारी समझ में, जो क्रम बिहारी-रत्नाकर में, नीचे लिखी पाँच पुस्तकों के आधार पर, स्वीकृत किया गया है, उसी को बिहारी का निज क्रम मानना समुचित है—

(१) जयपुर के निजी पुस्तकालय में विद्यमान सतसई की सबसे प्राचीन प्रति। इस पुस्तक के विषय में कहा तथा माना जाता है कि इसे, मिर्ज़ा राजा जयशाही के पुत्र कुमार रामसिंह जी के पढ़ने के निमित्त, बिहारी ने स्वयं लिख अथवा लिखवा दिया था। इसमें केवल ४९३ दोहे हैं, पर,

बीच में कुछ अंकों की गड़बड़ के कारण, अन्तिम दोहे पर अंक ५०० का दिया है। इसके विषय में यह भी अनुमान किया जा सकता है कि जिस समय यह लिखी गई, उस समय तक केवल उतने ही दोहे बन पाए थे। उसपर जो कुमार रामसिंह जी के अक्षर जहाँ तहाँ हैं, वे नौ-दस वर्ष के लड़के के चीते हुए से प्रतीत होते हैं। रामसिंह का जन्म संवत् १६९४ में हुआ था, अतः इस पुस्तक का लिखा जाना संवत् १७०३—४ में अनुमानित करना समीचीन है। हमारे अनुमान से बिहारी सतसई की रचना का आरंभ होना संवत् १६९२ में तथा उसका समाप्त होना १७०४—५ में ठहरता है। अतः संवत् १७०३—४ में सतसई के पाँच सौ दोहों तक के बनने का अनुमान असंगत नहीं है।

(२) जयपुर के निजी पुस्तकालय में विद्यमान संवत् १८०० की लिखी हुई प्रति। यह पुस्तक बिहारी के किसी शिष्य की संवत् १७३९ की लिखी प्रति की प्रतिलिपि है, जैसा कि इसके अन्त के लेख से विदित होता है।

(३) विजयगढ़ वाले मानसिंह कवि की टीका के सहित संवत् १७७२ की लिखी हुई प्रति, जो हमारे पास है। इसके अक्षर मारवाड़ी लेखकों के से हैं और इसके अन्त के लेख से ज्ञात होता है कि यह अजमेर में लिखी गई थी, इसके आदि के कुछ पत्रे नहीं हैं, जिससे २५० दोहों की टीका खंडित है। इसकी एक अन्य प्रति भी हमको, जोधपुर से प्राप्त हुई है। वह पूरी है।

(४) पंडित शंभुनाथ के हाथ की लिखी संवत् १७८९ की प्रति, जो हमारे पास है। इसके अक्षर भी मारवाड़ी ढंग के हैं।

(५) किसी लक्ष्मीरत्न नामक लेखक की लिखी संवत् १७९६ की पुस्तक। यह पुस्तक अलवर की किसी राजकुमारी रत्नकुँवरि जी के पठनार्थ लिखी गई थी। इसमें जहाँ तहाँ दोहों के भाव के चित्र भी बने हैं। अक्षर इसके भी मारवाड़ी छटा के हैं; पर स्पष्ट और सुन्दर हैं।

इन पाँचों पुस्तकों में से, तीसरी तथा पाँचवीं पुस्तकों में दोहों का पूर्वापर क्रम एक ही है। केवल दो दोहों के स्थानों में सामान्य अन्तर है, अर्थात्,

तीसरी पुस्तक के १८९ तथा ४८३ अंकों के दोहे पाँचवीं पुस्तक की १८५ तथा ४८९ संख्याओं पर आए हैं और, इस अन्तर के कारण, बीच के दोहों के स्थानों में एक एक संख्या का अन्तर पड़ गया है। इन दोनों पुस्तकों में दोहों की गिनती भी एक ही है, अर्थात् दोनों ही में ७१३ दोहे हैं, और इनके पाठों में भी बहुत साम्य है।

पहली संख्या की पुस्तक में यद्यपि केवल ४९३ दोहे हैं, पर जो हैं उनका क्रम तीसरी तथा पाँचवीं पुस्तकों के क्रम से बहुत मिलता है। कहीं कहीं दोहों में कुछ आगा-पीछा अवश्य हो गया है, पर ४५३ वाँ दोहा तीनों पुस्तकों में वही है। इससे यह व्यंजित होता है कि इस पुस्तक में बिहारी के चुने दोहों का संग्रह नहीं किया गया था, प्रत्युत यह सतसई की एक सिरे से प्रतिलिपि है। इसी से यह भी अनुमान होता है कि कदाचित् उस समय तक इतने ही दोहे बने थे।

२ संख्यक पुस्तक में भी दोहों का क्रम वास्तव में वही है जो पहली, तीसरी तथा पाँचवीं पुस्तकों में। केवल भगवत् सम्बन्धी कुछ दोहे, जो प्रथम, तृतीय, चतुर्थ तथा पंचम पुस्तकों में बीच बीच में आए हैं, उसमें अन्त में एकत्र रख दिए गए हैं, और ११७, २०१, ६०४ तथा ७१३ अंकों के दोहे उसमें नहीं हैं, और ६८१ दोहों के पश्चात् ७३ दोहे उसमें अधिक लिखे हैं, जो बिहारी-रत्नाकर के दूसरे उपस्करण के आदि में संगृहीत हैं। ये वास्तव में बिहारी के दोहे नहीं हैं।

४ अंक की पुस्तक में भी पूर्वापर क्रम वही है। केवल ५, ७ दोहे इधर के उधर हो गए हैं, जिसका कारण लेखक का प्रमाद मात्र समझना चाहिए। इस प्रमाद का कारण प्रायः यह होता है कि जब किसी लेखक से कोई दोहा लिखते समय छूट गया, और उसके पश्चात् के दो एक दोहे लिखने पर उसका ध्यान उस छूट पर गया, तो उसने छूटे हुए दोहे को उन दोहों के पश्चात् लिख दिया, और यदि उसका ध्यान सर्वथा उस छूट पर नहीं ही गया, तो उस दोहे का लिखना ही रह गया। ४६४, ४९८, और ५६३

से ५६९ तक तथा ७१३ अंकों के दोहे उसमें नहीं हैं, और ये दो दोहे अधिक हैं—

मान छुटैगौ मानिनी पिय-मुख देखि उदोतु।
जैसें लागैं घाम के पाला पानी होत।
प्यौ बिछुरत तनु थकि रह्यौ लागि चल्यौ चितु गैल।
जैसैं चीर चुराइ लै चलि नहिं सकै चुरैल॥

न्यूनता का कारण तो लेखक का छोड़ जाना तथा भूल से पत्रा उलट देना प्रतीत होता है और अधिकता का कारण यह हो सकता है कि कदाचित् किसी ने इनको बिहारी के दोहे समझकर अपनी पुस्तक के पार्श्व-भाग पर लिख लिया हो, और इस प्रतिलिपि के लेखक ने लिखते समय उनको भी बीच में लिख दिया हो। इन दो दोहों में से 'मान छुटैगौ' इत्यादि दोहा अमरचंद्रिका में भी मिलता है।

इन पाँचों प्राचीन पुस्तकों के अतिरिक्त, दो और सटीक पुस्तकें भी हमको, अपनी टीका समाप्त करने के पश्चात् मिलीं, जिनका विशेष वर्णन अन्य टीकाओं के साथ किया जायगा। उनमें से एक पुस्तक ब्रजभाषा-टीका-सहित है जिसका कृष्णलाल की टीका होना सम्भावित है। उस पुस्तक में भी दोहों का क्रम वस्तुतः वही है जो ऊपर लिखी हुई पाँच पुस्तकों में। केवल ६७८ संख्यक दोहा उसमें नहीं है, और यह दोहा अधिक है—

सिसुता-अमल-तगीर सुनि भए और मिलि मैन।
कह्यौ होत हैं कौन के ए कसबाती नैन॥

यह अधिक दोहा सतसई की और किसी प्रति में नहीं मिलता। इस पुस्तक में भी पाँच, सात दोहों के स्थानों में तीसरी तथा पाँचवीं पुस्तकों के क्रम से कुछ भेद पड़ता है।

दूसरी पुस्तक श्री जोशी आनंदीलाल जी की फ़ारसी-टीका-सहित है। ये महाशय अलवर राजसभा के फारसी-कवि थे। इनकी पुस्तक में केवल ६४० दोहे हैं जिनका पूर्वापर क्रम, पाँच-सात दोहों का आगा-पीछा

छोड़कर, वही है जो ३ तथा ५ अंक की पुस्तकों में। इसमें बिहारी-रत्नाकर के ६४० तक के दोहों में से ११६, तथा ४९२ से ४९७ तक के अंकों के दोहे नहीं हैं और अंत के ६६ दोहे छूटे हुए हैं। उक्त पंडित जी को जो प्रति सतसई की मिली थी कदाचित् उसमें ये ही ६४० दोहे थे। उसमें ११६ वाँ दोहा तो लेखक की भूल से छूटा हुआ ज्ञात होता है, और ४९२ से ४९७ तक के ६ दोहों के विषय में अनुमान होता है कि लेखक से लिखते समय पत्रा उलटने में प्रमाद हो गया। अंत के ६६ दोहों की टीका के न होने का कारण या तो टीकाकार की प्रति का अंत में खंडित होना या स्वयं उसका उकता जाना प्रतीत होता है।

हमारी पाँचवीं अंक की पुस्तक अलवर की किसी राजकुमारी के निमित्त संवत् १७९७ में लिखी गई थी। उसके क्रम से इस फारसी टीकावाली पुस्तक का क्रम मिलता है जिससे प्रमाणित होता है कि अलवर में कोई प्राचीन प्रति सतसई की विद्यमान थी जिससे ये दोनों प्रतियाँ उतारी गईं। इस प्रति से भी बिहारी का निज क्रम वही प्रमाणित होता है जो हमने स्वीकृत किया है।

इन सातों पुस्तकों पर विचार करने से यही निर्धारित होता है कि ये किसी ऐसी प्रति की प्रतिलिपियाँ, अथवा पारंपरिक प्रति प्रतिलिपियाँ हैं, जिसमें बिहारी के दोहे अपने रचना-क्रम के अनुसार संग्रहीत थे। इनके क्रमों में जो कहीं कहीं कुछ अंतर दृष्टि-गोचर होता है उसका कारण केवल लेखकों का प्रमाद अथवा छाँटने की चेष्टा मात्र है। इन पुस्तकों में से भी ३ तथा ५ अंकों की पुस्तकों में केवल दो ही दोहों के स्थानों में अंतर होने के कारण, वे ही बिहारी के निज क्रम की मुख्य प्रतियाँ मानने के योग्य हैं, और उन दोनों में भी ३ अंक की पुस्तक सटीक होने के कारण विशेष मान्य है। इसी कारण बिहारी-रत्नाकर के क्रमस्थापन में वही आधार मानी गई है।

इस क्रम में किसी साहित्यिक अथवा वैषयिक क्रम के लेश मात्र का भी दर्शन नहीं होता। कहीं मुग्धा का एक दोहा है तो उसी के पश्चात् कोई

दोहा प्रौढ़ा का; कहीं शृंगार रस के दोहे के पास ही कोई नीति का दोहा दिखाई देता है; और बीच बीच में भगवत्-संबंधी, शांत-रस-पूरित तथा नृपस्तुति-विषयक दोहे मिश्रित हैं। किसी अन्य व्यक्ति को इस प्रकार के क्रम के स्थापित करने का कोई कारण नहीं हो सकता था, अतः यह अनुमान करना कि बिहारी का निज क्रम यही है, सर्वथा संगत तथा उचित है।

यह बात भी ध्यान देने के योग्य है कि, ३ अंक की पुस्तक, संवत् १७७२ में, अजमेर में लिखी गई थी, और उसमें मानसिंह विजयगढ़वाले की टीका भी है; और ५ अंक की पुस्तक, संवत् १७९६ में, अचलगढ़ (अलवर) में, रतनकुँवरि नामक किसी राजकन्या के पढ़ने के लिए। इतने देश तथा काल के अंतर होने पर भी, इन दोनों प्रतियों के क्रमों में साम्य होना इस बात को पूर्णतया प्रमाणित करता है कि, ये दोनों ही किन्हीं ऐसी प्रतियों से लिखी गई हैं जिनका आदि मूल एक ही प्रति थी। यह बात इससे भी प्रमाणित होती है कि, इन दोनों प्रतियों के पाठों में भी बहुत साम्य है। इसके अतिरिक्त मानसिंह ने जो अपनी टीका के अंत में लिखा है कि बिहारी ने ७१२ दोहे बनाए, वे ही ७१२ दोहे इन दोनों पुस्तकों में मिलते भी हैं। मानसिंह की टीका का बनना हमने संवत् १७३० तथा १७३५ के बीच में अनुमानित किया है, जिसका कारण यथास्थान लिखा जायगा। अतः यह संभव है कि बिहारी उक्त टीका के लिखते समय जीवित रहे हों। यह एक किंवदंती भी है कि मानसिंह बिहारी से परिचित थे। अतः मानसिंह का क्रम तथा उनका यह लेख कि बिहारी ने ७१२ दोहे बनाए, माननीय ज्ञात होता है, विशेषतः ऐसी दशा में जब कि उनके क्रम तथा संख्या का ठीक होना ५ संख्यक पुस्तक से भी प्रमाणित होता है, और १ संख्या की पुस्तक भी उसके क्रम के ठीक होने की साक्षी दे रही है।

एक यह बात भी इस अनुमान को पुष्ट करती है कि कोविदकवि ने जो संवत् १७४२ में क्रम लगाया उसमें जो ७०९ दोहे रखे हैं वे इन्हीं ७१२ दोहों में से हैं यद्यपि क्रम उन्होंने अपने मत के अनुसार बाँधा है।

यद्यपि विहारी ने सतसई में अधिकांश दोहों का पूर्वापर क्रम तो वही रहने दिया, जिस क्रम से उनकी रचना हुई थी, तथापि प्राचीन पुस्तकों के देखने से प्रतीत होता है कि, उनके हृदय में इतना क्रम स्थापित करने की अभिलाषा अवश्य थी कि प्रति दस दस अथवा बीस बीस दोहों के पश्चात् एक एक भगवत्-संबंधी, अथवा नीति-विषयक, दोहे आ जायँ। ज्ञात होता है कि, बनाते समय भी उन्होंने इस बात पर ध्यान रखा था, पर रचना-काल में, भावों के उद्गार के कारण, जहाँ कहीं वे इस बात को न कर सके, वहाँ वहाँ उसकी पूर्ति उन्होंने ग्रंथ समाप्त होने पर कर दी, अर्थात् जहाँ जहाँ दस दस अथवा बीस बीस पर भगवत्-संबंधी अथवा नीति-विषयक दोहे नहीं पड़े, वहाँ वहाँ नए दोहे बनाकर, अथवा अन्य स्थानों से उठाकर, रखने का प्रयत्न किया। विहारी का यह अभिप्राय २ अंक की अर्थात् शिष्यवाली पुस्तक में भगवत्संबंधी कुछ दोहों के एकत्र कर देने से भी लक्षित होता है। इस कार्य में, ज्ञात होता है कि, उन्होंने अधिकांश ऐसे दोहों को तो अपनी चौपतिया के पार्श्वभाग पर, जिन स्थानों पर ऐसे दोहे स्थापित होने चाहिए थे उनके संमुख, लिख दिया और किसी किसी दोहे के सामने केवल वह संख्या लिख दी, जिस पर उनको वह दोहा रखना अभीष्ट था। चौपतिया की प्रतिलिपि उतारनेवाले ने जो दोहे पार्श्वभाग पर लिखे थे उनको, विहारी का यह अभिप्राय न समझकर कि ऐसे दोहों का दस दस या बीस बीस पर रखना अभीष्ट है, कहीं कहीं उचित स्थानों से दो एक संख्या आगे पीछे लिख दिया, और जिन दोहों सामने केवल अभीष्ट संख्या मात्र लिखी थी, कि यह दोहा अमुक स्थान पर जाना चाहिए, उनको प्रमाद से जहाँ का तहाँ रहने दिया, अर्थात् उनको विहारी के अभीष्ट स्थान पर नहीं रखा। इन चूकों में से पहली चूक का कारण तो यह अनुमानित हो सकता है कि पार्श्वभाग में लिखे हुए दोहे एक ही दोहे के सामने नहीं समा सकते वरन् तीन चार दोहों के सामने पड़ जाते हैं, अतः ऐसे किसी लेखक का, जिसको इस बात का भान न रहा हो कि पार्श्व भाग पर ये दोहे किस स्थान

पर रखने के अभिप्राय से लिख दिए गए हैं, उनका उचित अंकों के दो चार अंक आगे पीछे समावेश कर देना पूर्णतया संभव और स्वाभाविक ही है। ऐसी चूकों के उदाहरण ११, ४१, ६१, ७१, ९१ इत्यादि अंकों के दोहों में दृष्टिगोचर होते हैं जो कि ३ तथा ५ संख्यक पुस्तकों में १०, ४२, ६२, ६९, ८७ इत्यादि अंकों पर लिखे मिलते हैं। दूसरी चूक का कारण, लेखक का पार्श्व टिप्पणी पर ध्यान न देना, अथवा, यदि कोई दोहा पीछे से आगे आया है तो उस पीछेवाले दोहे के सामने की टिप्पणी का उचित स्थान के आस पास के दोहों के लिखते समय न देखना प्रतीत होता है। ऐसी चूकों के उदाहरण १२१, १३१, १८१, २६१, ४०१ इत्यादि अंकों के दोहों में दिखाई देते हैं, जो कि ३ तथा ५ अंकों की पुस्तकों में ५२, ११७, १६२, २१६, ३६९ इत्यादि अंकों पर हैं।

क्रमों के विषय में सामान्य बातें निवेदन करके, अब हम सतसई के भिन्न भिन्न क्रमों का वर्णन नीचे आरंभ करते हैं।

बिहारी का निज क्रम

सतसई का प्रथम क्रम तो बिहारी का निज क्रम ही है, जिसका वर्णन ऊपर हो चुका है। इस क्रम पर अद्यावधि हमारे देखने में तीन प्राचीन टीकाएँ आई हैं। उनमें से एक टीका के कर्त्ता का नाम तो निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है; पर संभवतः वह कृष्णलाल की टीका है, जिसको लल्लूलालजी ने अपनी लालचंद्रिका की भूमिका में गिनाया है। दूसरी टीका मानसिंह विजयगढ़वाले की है और तीसरी टीका फारसी भाषा में पंडित आनंदीलाल जोषी अलवरवाले की। इन टीकाओं का विशेष वर्णन यथास्थान किया जायगा। चौथी टीका इस क्रम पर अब बिहारीरत्नाकर नाम की हुई है, जो प्रकाशित होकर पाठकों के सामने उपस्थित हो चुकी है।

बिहारीरत्नाकर में हमने ३ अंक की पुस्तक के अनुसार बिहारी का निज क्रम ही रखा है। पर बिहारी का यह अभिप्राय लक्षित करके कि दस दस अथवा बीस बीस पर एक एक भगवत्-संबंधी अथवा नीति-विषयक दोहा

रखा जाय, जहाँ जहाँ ऐसे स्थानों से अभीष्ट दोहे कुछ विचलित मिले, वहाँ वहाँ उनके स्थान अपनी बुद्धि के अनुसार ठीक कर दिए हैं। इस स्थान-संशोधन में यह संभावना अवश्य है कि जिस स्थान पर हमने कहीं दूर का कोई दोहा स्थापित किया है वहाँ के निमित्त विहारी ने कोई अन्य दोहा सोचा रहा हो। इसी विचार से पुस्तकान्त में जो दोहों के अकारादि क्रम की सूची लगाई गई है, उसमें एक कोष्ठ तीसरी पुस्तक, अर्थात् मानसिंह की टीका वाली प्रति, का भी रख दिया गया है, जिसमें पाठकों को यह बात विदित हो सके कि हमने किस किस दोहे के स्थान परिवर्तित करने का साहस किया है।

उक्त संस्करण, में रचना-काल के अनुसार दोहों के क्रम के रखने से एक यह भी लाभ संभावित है कि इससे रचनाकाल के भिन्न भिन्न समय पर कवि की मनोवृत्ति तथा उसकी प्रतिभा-शक्ति की प्रबलता तथा निर्बलता व्यंजित हो सकती है, और यदि किसी ऐतिहासिक विषय का वर्णन किसी दोहे में आ गया है तो उसके निश्चित समय से दोहे के निर्माण-काल का भी कुछ पता चल जाता है; और फिर दोहे के निर्माण-काल के अनुमान से उक्त ऐतिहासिक घटना के समय का कुछ मोटा मोटा पता लग सकता है। जैसे "रहति न रन" इत्यादि दोहा विहारी के क्रम में ८० अंक पर पड़ता है, तो इस पर निम्नलिखित अनुमान निर्भर किए जा सकते हैं। विहारी ने अपनी सतसई-रचना का प्रारंभ संवत् १६९२ में किया था और समाप्ति संवत् १७०४—५ में। यदि हमारा यह अनुमान ठीक हो तो, सतसई की रचना का काल १२--१३ वर्ष ठहरता है। इस गणना से प्रति वर्ष में ५०, ६० दोहों की रचना मानी जा सकती है। अतः ८० अंक के दोहे का संवत् १६९४ में बनना कहा जा सकता है, और उक्त दोहे में वर्णित घटना भी संवत् १६९४ की मानी जा सकती है। इस बात का कह देना यहाँ आवश्यक है कि, यद्यपि कवियों की कविता सदैव एक परिमित संख्या में प्रति वर्ष की गणना से नहीं बनती—कभी उनकी प्रतिभा थोड़े ही काल में

अधिक कविता बना देता है और कभी कुछ काल तक सुषुप्ति अवस्था में पड़ी रहती है—तथापि सामान्यतः ऊपर कहा हुआ अनुमान कुछ विशेष अनुचित भी नहीं है।

सतसई के दोहों के सौष्ठव तथा उनकी सर्वकाव्य-गुण-संपन्नता से आकर्षित होकर समय समय पर, भिन्न भिन्न भाषा-काव्य-प्रेमी विद्वानों तथा राजाओं महाराजाओं ने उसका बड़े आदर तथा चाव से पठन-पाठन किया, और अनेक महाशयों ने, उसके दोहों में कोई साहित्यिक अथवा वैषयिक क्रम न पाकर, अपनी अपनी मति तथा बुद्धि के अनुसार, उसके दोहों के मूल पूर्वापर-क्रम में परिवर्तन करके, अपने अपने विशेष क्रम स्थापित किए। उनमें से जितने हमारे दृष्टिगोचर हुए हैं उनका संक्षिप्त विवरण नीचे लिखा जाता है।

विहारी के निज क्रम में परिवर्तन करके, सबसे पहले चंद्रमणि मिश्र, उपनाम कोविद कवि ने, संवत् १७४२ में अपनी रुचि के अनुसार, सतसई का एक नया क्रम बाँधा। यह क्रम यद्यपि साहित्य-दृष्टि से कुछ विशेष गौरव का नहीं है, तथापि इसको सतसई के प्रथम बाँधे हुए क्रम होने का गौरव प्राप्त है। इससे भी विहारी के निज क्रम के वही होने का, जो हमने विहारी रत्नाकर में ग्रहण किया है, पोषण होता है, क्योंकि इसमें, यद्यपि दोहों का पूर्वापर क्रम विषयानुरोध से परिवर्तित कर दिया गया है तथापि, जो ७०९ दोहे रखे गए हैं वे सब विहारी के निज क्रम की प्रतियों में पाए जाते हैं, और जो विहारीरत्नाकर में ग्रहण किए गए हैं। विहारीरत्नाकर के स्वीकृत दोहों में से ५०, १२५, १४१, १८७, ३८९, ४५५, ५११, ६७९ तथा ७१३ अंकों के नौ दोहे इसमें नहीं पाए जाते। इन नौ दोहों में से पाँच तो लेखक की असावधानी से हमारी प्रति में छूट गए हैं जो कि बीच में अंकों की शृंखला के बिगड़ जाने से प्रमाणित होता है, और शेष चार दोहे इस क्रम में वस्तुतः नहीं लिए गए हैं। इसके अतिरिक्त इसके प्रति शीर्षक में जो दोहे

कोविद कवि का क्रम

आए हैं वे प्रायः इस क्रम से आए हैं कि जो दोहे बिहारी के निज क्रम में पहले पड़ते हैं वे पहले, और जो पीछे पड़ते हैं वे पीछे। यह बात पुरुषोत्तम-दास जी के अथवा अन्य किसी क्रम में नहीं पाई जाती। अतः इससे इसका पुरुषोत्तमीय क्रम के पहले का क्रम होना निर्धारित किया जा सकता है।

इस क्रम के अंत में क्रमकर्त्ता के ये दोहे पाए जाते हैं—

किए सात सै दोहरा सुकवि बिहारीदास।
बिनुहिं अनुक्रम ए भए महि-मंडल सु-प्रकास॥
सतरह सै चालीस दुइ बरषे फागुन मास।
एकादसि तिथि सेत पख बुरहनपुर सुखबास॥
तहँ कोबिद सुभ ए लिखे भिन्न भिन्न अधिकार।
देखत ही कछु समुझियै जिन तैं अर्थ-बिचार॥
सुनि कवि के ए सुभ बचन अवगुन तजि गुन लेइ।
जग मैं सो नीकौ पुरुष पुन्य-सीख जो देइ॥

इनसे विदित होता है कि यह क्रम कोविद कवि ने संवत् १७४२ में लगाया था, और वे 'बुरहनपुर' के रहनेवाले थे। मिश्रबंधुविनोद मे कोविद कवि के विषय में लिखा है कि इनका नाम चन्द्रमणि मिश्र था और ये महाराजा पृथ्वीसिंह दतिया नरेश तथा उदोतसिंह के यहाँ थे। इनका रचना-काल संवत् १७३७ बतलाया है और इनके बनाए दो ग्रंथ लिखे हैं— (१) भाषा हितोपदेश, तथा (२) राजभूषण। इनको सुकवि भी कहा है।

इस क्रम की केवल एक प्रति हमको प्राप्त हुई है। यह संवत् १८५० की लिखी हुई है। इस क्रम पर कोई टीका अद्यावधि हमको नहीं मिली है।

पुरुषोत्तमदास जी का क्रम

तीसरा क्रम पुरुषोत्तमदास जी का बाँधा हुआ है। इस क्रम की, मूल तथा सटीक, प्रतियाँ कई एक हमारे पास हैं। इनमें से हरिप्रकाश टीका के अतिरिक्त और किसी में भी यह नहीं लिखा है कि यह क्रम पुरुषोत्तमदास का लगाया हुआ है। केवल हरिप्रकाश टीका के आदि में यह लिखा है कि "पुरुषोत्तम दास जी

कौ बांध्यौ क्रम है ताके अनुसार टीका।" हमारी मूल की प्रतियों में से सबसे प्राचीन प्रति अनुमान से १५० वर्ष की लिखी हुई ज्ञात होती है। इसी प्रति के अनुसार हम इस क्रम का विवरण करते हैं। इसमें ७०० दोहे हैं, जिनमें से ये तीन दोहे बिहारीरत्नाकर में नहीं आए हैं—

ताहि देखि मन तीरथनि बिकटनि जाइ बलाइ।
जा मृगनैनी के सदा बेनी परसति पाइ॥
पावस कठिन जु पीर अबला क्यों करि सहि सकै।
तेऊ धरत न धीर रक्तबीज-सम ऊपजै॥
सपत बड़े फूलत सकुचि सब-सुख केलि-निवास।
अपत सु कैर फलै बहुत मन मैं मानि हुलास॥

और बिहारीरत्नाकर के ८०, १३९, १८२, ४१८, ५०३, ६१४, ६१९, ६७८, ६९२, ७०५, ७०७, ७०९, ७१०, ७११, ७१२, तथा ७१३ अंकों के दोहे इसमें नहीं हैं। इस गणना से ७१३ दोहों का लेखा पूरा लग जाता है। अंत में क्रम-कर्त्ता के १२ दोहे दिए हैं। उनमें से अंत के दो दोहे ये हैं—

रस-सुखदायक भक्तिमय जामैं नवरस-स्वाद।
करी बिहारी सतसई राधाकृष्ण-प्रसाद॥
जद्यपि है सोभा सहज मुक्तनि तऊ सु देखि।
गुहैं ठौर की ठौर तैं लर मैं होति बिसेषि॥

इनमें से दूसरे दोहे से बिहारी के दोहों का पहले बिना किसी साहित्यिक क्रम के होना तथा पुरुषोत्तमदास जी का उनको अपने मतानुसार एक क्रम में स्थापित करना व्यंजित होता है। इस क्रम की और प्रतियाँ जो हमारे पास हैं उनमें दो चार दोहों का न्यूनाधिक्य तथा स्थान-परिवर्त्तन दृष्टिगोचर होता है। पर यह ७०० संख्या पुरुषोत्तमदास जी के क्रम ही की ज्ञात होती है, क्योंकि हरिचरनदास जी ने भी अपनी टीका के अंत में

लिखा है कि "श्री बिहारी जी की करी प्राचीन पोथी है तामें ७०० दोहा हैं। और दोहा बीच बीच में और लोगनि नै राखे हैं, तासौं वढ्यौ है।"

ज्ञात होता है कि हरिचरनदास जी को जो पुरुषोत्तमदास जी के क्रम की पुस्तक मिली थी, उसमें ७०० ही दोहे थे। पर अन्य पुस्तकों में उनके देखने में इससे अधिक दोहे आए, जिसके कारण उन्होंने जहाँ तहाँ कुछ परिवर्तन तथा न्यूनाधिक्य करके अपनी टीका में ७१२ दोहे ग्रहण किए, और अंत में पुरुषोत्तमदास जी का "जद्यपि है सोभा इत्यादि" दोहा लिख कर और कृष्ण कवि का "ब्रजभाषा बरनी इत्यादि" दोहा कुछ परिवर्तित रूप में रखकर ग्रंथ की समाप्ति की। हरिप्रकाश टीका का विशेष विवरण अन्य टीकाओं के साथ यथास्थान किया जायगा।

पुरुषोत्तमदास जी महाराज छत्रसाल बुँदेला की सभा के कवि थे। शिवसिंहसरोज में इनका यह कवित्त श्री छत्रसाल की प्रशंसा का दिया है—

कवि पुरुषोतम तमासे लगि रह्यौ भानु,
    वीर छत्रसाल अद्भुत जुद्ध ठाटे हैं।
बाहर नरेस के सवाद (?) रजपूत लरैं,
    मारैं तरवारैं गज बादर से फाटे हैं।
सिंधु लोहू कुंडनि गगन झुंडा-झुंडनि सौं,
    रिपु रुंडा-मुंडनि सौं खंड सबै पाटे हैं।
चरवी-चखैयनि की परवी समरबीच,
    गरबी मगरबी सो करवी से काटे हैं॥

देवकीनंदन-टीका में बिहारी का छत्रसाल के यहाँ जाना तथा उनकी कविता का वहाँ आदर होना लिखा है। यदि यह बात सच है तो यह

अनुमान करना चाहिए कि सतसई की कोई प्रति वहाँ रख ली गई थी, उसमें पुरुषोत्तमदास जी ने कोई क्रम न देखकर, अपनी मति के अनुसार यह क्रम बाँध डाला। यह क्रम साहित्यिक दृष्टि से विशेष गौरव का नहीं है। इसको भी कोविद कवि के क्रम के प्रकार का एक सामान्य क्रम समझना चाहिए।

इस क्रम की रचना का संवत् कहीं लिखा नहीं मिलता, पर पुरुषोत्तमदास जी के महाराज छत्रसाल बुंदेला की सभा के कवि होने के कारण, हमने अनुमान से इस क्रम की रचना संवत् १७४० तथा १७५० के बीच में मानी है, क्योंकि लाल कवि के छत्रप्रकाश के अनुसार छत्रसाल ने संवत् १७२८ में, जब कि वह २२ वर्ष के थे, अपना विजय संग्राम आरंभ किया था। उनको प्रसिद्ध होने तथा इस प्रकार की शांति प्राप्त करने में, कि उनकी सभा के कवियों को सतसई के क्रम लगाने की सूझे, पंद्रह बीस वर्ष अवश्य ही लगे होंगे। पर यह भी संभव है कि यह क्रम कोविद कवि के क्रम के पहले ही लगाया गया हो। क्योंकि यदि बिहारी का बुंदेलखंड जाना सत्य है तो वह वहाँ संवत् १९३० के आस-पास गए होंगे। इस अनुमान का यह कारण है कि उस समय उनकी अवस्था ७५—८० वर्ष की रही होगी। पर ऊपर लिखे हुए कारण तथा कोविद कवि के क्रम में पुरुषोत्तमदास जी के क्रम की अपेक्षा बिहारी की निज क्रम की प्रतियों से अधिक मिलान पाकर, हमने पुरुषोत्तमदास जी के क्रम का समय कोविद कवि के समय के पश्चात् अनुमानित किया है।

इस क्रम पर ६ टीकाएँ हमारे देखने में आई हैं—(१) अमरचन्द्रिका, (२) हरिप्रकाश, (३) जुल्फ़क़ार ख़ाँ की कुण्डलिया, (४) बिहारी-बोधिनी, (५) गुलदस्तए बिहारी तथा (६) श्री रामवृक्ष शर्मा की टीका और यदि रस-चंद्रिका का क्रम हमारी प्रति का ठीक माना जाय तो वह भी। इन टीकाओं का विवरण अन्य टीकाओं के साथ यथास्थान किया जायगा।

सतसई का चौथा क्रम, संवत् १७७१ में, अनवर-चंद्रिका टीका के कर्त्ताओं, शुभकरण तथा कमलनयन कवियों, ने बाँधा। यह क्रम रसनिरूपण-क्रम के अनुसार है, और इसको सतसई के

अनवर-चंद्रिका का क्रम

सम्यक् साहित्यिक क्रम होने की प्रतिष्ठा प्राप्त है। अनवर-चंद्रिका को वास्तव में एक रस-निरूपण का ग्रन्थ कहना चाहिए, जिसके उदाहरणों में बिहारी के दोहे रखे गए हैं। जहाँ जहाँ ग्रन्थकर्त्ताओं को बिहारी के दोहों में, अपनी समझ के अनुसार, उपयुक्त उदाहरण नहीं मिले, अथवा ऐसे दोहे, जो उन स्थानों पर रखे जा सकते हैं, पर और विषयों के उदाहरणों में आ चुके थे, वहाँ वहाँ उन्होंने अन्य कवियों के अथवा अपने दोहे इत्यादि रख दिए हैं।

अनवर-चंद्रिका की भिन्न भिन्न प्रतियों में कई एक दोहों का न्यूनाधिक्य तथा कई एक दोहों के स्थानों में परिवर्तन दिखाई देता है। अतः हमने कई एक प्रतियों के आधार पर एक प्रति दोहों की संख्या तथा क्रम ठीक करके बनाई है। उसी के अनुसार अनवर-चंद्रिका के क्रम तथा संख्या के विषय में लिखा जाता है।

अनवर-चंद्रिका १६ प्रकाशों में विभक्त है, जिनका ब्योरा यह है—

(१) प्रथम प्रकाश, प्रभुवंश-वर्णन, १३ छंद।

(२) द्वितीय प्रकाश, साधारण नायिका-वर्णन, २५ छंद।

(३) तृतीय प्रकाश, सिख-नख-वर्णन, ८७ छंद।

(४) चतुर्थ प्रकाश, मुग्धादि-त्रिविधनायिका-वर्णन, २१ छंद।

(५) पंचम प्रकाश, अष्टनायिका-वर्णन, ११७ छंद।

(६) षष्ठ प्रकाश, गर्विता-वर्णन, ४ छंद।

(७) सप्तम प्रकाश, मानिनी वर्णन, ४४ छंद।

(८) अष्टम प्रकाश, सुरति-सुरतान्त-वर्णन, २६ छंद।

(९) नवम प्रकाश, परकीया-वर्णन, १३८ छंद।

(१०) दशम प्रकाश, दशदशा-वर्णन, ११ छंद।

(११) एकादश प्रकाश, सात्विकभाव-वर्णन, ९ छंद ।

(१२) द्वादश प्रकाश, मद्यपान-वर्णन, ६ छंद ।

(१३) त्रयोदश प्रकाश, हाव-वर्णन, ११ छंद ।

(१४) चतुर्दश प्रकाश, नवरसादि-वर्णन, ८० छंद ।

(१५) पंचदश प्रकाश, षट्ऋतु-वर्णन, ४३ छंद ।

(१६) षोडश प्रकाश, अन्योक्ति-वर्णन, ७२ छंद ।

इन सोलह प्रकाशों में से प्रथम प्रकाश के १२ छंद तो स्वयं टीकाकारों के हैं। उनमें ग्रन्थ की अवतरणिका कही गई है। शेष पन्द्रह प्रकाशों में मुख्य ग्रंथ-भाग रचा गया है। इनमें ७०४ छंद संकलित किए गए हैं। इन ७०४ छंदों में २२ छंद तो ऐसे हैं जो बिहारी-रत्नाकर में नहीं आए हैं, और ३१ दोहे बिहारी-रत्नाकर के इनमें नहीं हैं। वे दोहे इन अंकों के हैं—३९, ४७, ५७, ९२, १०८, १२६, १२९, १७०, १९३, २३४, २८९, ३५६, ३८५, ४१६, ४५३, ५०३ ५३३, ५६८, ५९९, ६११, ६१४, ६४२, ६७८, ६९२, ७०४, ७०५, ७०७, ७०९, ७१०, ७१२ तथा ७१३। इस प्रकार बिहारी-रत्नाकर के ७१३ दोहों का लेखा लग जाता है। २२ छंद जो अनवर-चंद्रिका में बिहारीरत्नाकर से अधिक ठहरते हैं उनमें ये तीन छंद स्वयं ग्रन्थकर्ता शुभकरण जी के हैं—

लखि दुर्जन अनवर प्रबल कीन्यौं कोप कराल।
चढ़ीं भृकुटि फरके अधर भए नैन जुग लाल ॥ ५२९ ॥
अनवर खाँ के खेत अरि-सिरदारनि सिर वए।
फिरि उपजे इहिं हेत अरि-तिय-दृग जल थल भरत ॥ ५३४ ॥
देखत अनवर खाँ बदन दुवन दवे हहराइ।
बढ्यौ कंप रोवाँ उठे बदन गयौ पियराइ ॥ ५३६ ॥

और यह बरवै खानखानाँ का है—

वारि गइ हाथ उपरिया रहि गइ आगि।
घर की बाट बिसरि गइ गहनै लागि ॥ ४८३ ॥

शेष १८ दोहे बिहारी-रत्नाकर के द्वितीय उपस्करण के ८,७६ से ८२ तक तथा १३३ से १४२ तक के अंकों पर दिए हैं। उनमें से ८ तथा १३३ से १४२ तक के अंकों के ११ दोहे तो मतिराम के हैं और ७ दोहे संदिग्ध हैं। इन सात दोहों में से कई एक के स्वयं ग्रंथकार के होने की सम्भावना है।

आज तक जितने क्रम बिहारी सतसई के हमारे देखने में आए हैं उनमें, आज़मशाही क्रम को छोड़कर, अनवरचंद्रिका का क्रम, साहित्यिक दृष्टि से, सभों से उत्तम तथा सशृंखल है, प्रत्युत किसी किसी बात में तो वह आज़मशाही क्रम से भी अच्छा है। इस क्रम पर चार टीकाएँ, हमारे देखने में आई हैं—(१) स्वयं अनवरचंद्रिका, (२) साहित्यचंद्रिका, (३) प्रतापचंद्रिका और (४) रणछोड़ जी दीवान की टीका। इन टीकाओं तथा इनके टीकाकारों का वर्णन अन्य टीकाओं के साथ आगे किया जायगा।

आज़मशाही क्रम

पाँचवाँ क्रम आज़मशाही कहलाता है। यह जौनपुर के रहनेवाले हरजू नामक कवि ने आज़मगढ़ के तत्सामयिक अधिकारी, आज़म खाँ के अनुरोध से संवत् १७८१ में लगाया था। यह क्रम विभावानुभावादि साहित्यिक श्रृङ्खला के अनुसार है, और अद्यावधि जितने क्रम हमारे देखने में आए हैं, उन सभों में श्रेष्ठ है। इस क्रम की कई एक हस्तलिखित तथा छपी हुई, मूल एवं सटीक पुस्तकें हमारे पास हैं। लालचंद्रिका टीका इसी क्रम पर बनाई गई है। इस क्रम की सबसे प्राचीन पुस्तक जो हमारे पास है वह संवत् १७९१, अर्थात् क्रम बाँधे जाने के दस ही वर्ष पीछे की लिखी हुई है। उसी को प्रामाणिक मानकर, उक्त क्रम का विवरण नीचे लिखा जाता है।

इस क्रम के अन्तिम दोहे पर ७१८ अंक है। इन ७१८ दोहों में एक दोहा अर्थात् "यौं दल काढ़े इत्यादि" तो दो बार आया है। उसके घटा देने पर जो ७१७ दोहे बच जाते हैं उनमें से ९ दोहे ऐसे हैं जो बिहारी-रत्नाकर में नहीं आए हैं, और बिहारी-रत्नाकर के १७०, २६२, ३२४, ४१५, तथा ५९५ संख्याओं के दोहे इसमें नहीं आए हैं। पर लालचंद्रिका में ये

पाँचों दोहे पाए जाते हैं, और इस क्रम की और किसी किसी प्रति में भी इनमें से कोई कोई मिलते हैं। इस प्रति के नौ अधिक दोहों में से ८ तो दूसरे उपस्करण के ७१, ८२ तथा ८५ से ९० तक के अंकों पर समाविष्ट हैं, और एक दोहा, जो उक्त उपस्करण में छूट गया है, यह है—

"को कहि सकै बड़नु सौं बड़े बंस की खानि।
भलौ भलौ सब कोउ कहै धुवाँ अगर कौ जानि॥

इस प्रति के अंत में ये तीन दोहे हैं—

जद्यपि है सोभा घनी मुक्ताहल मैं देखि।
गुहैं ठौर की ठौर तें लर मैं होति बिसेपि॥
सतरह से एकासिया अगहन पाँचैं सेत।
लिखि पोथी पूरन करी आज़म खाँ के हेत॥
धर्यौ कछुक क्रम जानि कै नायिकादि-अनुसारि।
सहर जौनपुर मैं बसत हरजू सुकवि विचारि॥

इन तीनों दोहों में से पहला दोहा तो हरजू ने पुरुषोत्तमदास जी के क्रम की किसी प्रति से उद्धृत कर लिया है, और अवशिष्ट दो दोहे उनके अपने लिखे हैं।

एक यह बात यहाँ पर ध्यान देने योग्य है कि, "संवत् ग्रहससि जलधि इत्यादि" दोहा न तो इस प्रति में है और न इसके भी पूर्व की प्रति में ही है जो कि क्रमकर्त्ता के क्रम लगाते समय की पांडुलिपि (मस्वदा) प्रतीत होती है।[1]

आज़मशाही क्रम के विषय में प्रायः लोगों की धारणा है कि यह बादशाह औरंगजेब के बेटे आज़मशाह ने, बहुत से कवियों को एकत्र करके, बँधवाया था। पर यह बात सर्वथा निर्मूल तथा अप्रामाणिक है। इस धारणा के प्रचार के मुख्य तथा आदि कारण लालचंद्रिका के कर्त्ता लल्लूलाल

---

१. यह प्रति काशी के पंडित चुन्नीलाल जी के पास है।

जी हैं। उन्होंने अपनी टीका की भूमिका के 'ग्रंथ-वर्णन' शीर्षक के अंतर्गत यह लिखा है—"क्योंकि आज़मशाह ने बहुत कवियों को बुलवाया, बिहारी सतसई को शृंगार के और ग्रंथों के क्रम से क्रम मिलाय लिखवाया इसी से आज़मशाही सतसई नाम हुआ।" लल्लूलाल जी ने, आज़मशाह के विषय में, उसका औरंगजेब का बेटा, अथवा दिल्ली का बादशाह होना स्पष्ट रूप से तो नहीं लिखा है, तथापि शाह शब्द के प्रयोग और लिखने के ढंग से व्यंजित यही होता है। कदाचित् उनके इसी वाक्य से धोखा खाकर, सर जी० ए० ग्रियरसन साहब ने भी इसको आज़मशाह बादशाह ही का बँधवाया हुआ क्रम मान लिया, और लालचंद्रिका के निज संस्करण की भूमिका में यही बात लिख दी। ग्रियरसन साहब की देखादेखी, स्वर्गवासी साहित्याचार्य सुकवि पंडित अम्बिकादत्त व्यास जी ने भी, अपने बिहारी-बिहार की भूमिका में, यही मत स्वीकृत कर लिया।

वास्तव में आज़मशाही क्रम जौनपुर-निवासी हरजू कवि ने आजमगढ़ के प्रांताधिपति आज़मखाँ के निमित्त, जो कि अपने भाई के डर से भागकर बहुत दिनों तक जौनपुर में रहा था, बाँधा था। आज़मगढ़ के गजेटियर से ज्ञात होता है कि मुहब्बत खाँ नामक कोई व्यक्ति संवत् १७५७ के आस पास आज़मगढ़ का प्रान्तपति था। उसके पश्चात् उसका बेटा, इरादत खाँ, उपनाम अकबर शाह उसका स्थानापन्न हुआ। इरादत खाँ के तीन भाई और थे जिनके नाम सूफ़ी बहादुर, जहाँगीर तथा हुसेन थे। सूफ़ी बहादुर तथा हुसेन के कोई संतान नहीं हुई। पर जहाँगीर के दो बेटे थे—आज़म और जहाँयार, और इरादत खाँ के एक दासीपुत्र जहाँशाह था। इरादत खाँ के मरने के पश्चात्, जहाँशाह को दासीपुत्र समझकर, आज़म खाँ अपना प्रभुत्व जमाने लगा। पहले तो इन दोनों का झगड़ा बटवारा होकर निबट गया, पर फिर जहाँशाह ने आज़म खाँ को भगा दिया और वह जौनपुर में जा रहा। यह घटना संवत् १७८१ से १०-५ वर्ष पूर्व की अनुमानित होती है, क्योंकि हरजू कवि ने अपना क्रम संवत् १७८१ में बाँधा। आजम खाँ के

मरने का संवत् उक्त गजेटियर में १८२८ लिखा है।

मिश्रबंधु-विनोद में लिखा है कि हरजू कवि आज़मगढ़ के ब्राह्मण थे। उन्होंने संवत् १७१२ में भाषा-अमरकोष बनाया। उनके आश्रयदाता आज़म-गढ़ाधीश आज़म ख़ाँ थे।

शिवसिंहसरोज में, हरजू की उपस्थिति संवत् १७०५ में लिखी है, और इनके कवित्तों का कालिदास के हज़ारे में होना बतलाया है। इस संवत् के उल्लेख में कुछ अशुद्धि प्रतीत होती है। इनका बनाया हुआ यह कवित्त भी शिवसिंह ने उद्धृत किया है—

माया के निसान जे निसान अपकीरति के,
जानत जहान कहूँ कहूँ उसरन सों।
क्रुंज सी कुए हो अंग ऐसी गुमराही गुनी,
देखि अनखाइ परो पाप करुरन सों॥
हरजू सु कवि कहै वचन अमोलन के,
जाति कुरवान न वसाति असुरनि सों।
माँगत इनाम कतार पैं पुकारि कहौं,
परै जनि काम ऐसे सूम ससुरन सों[1]॥

इस क्रम का 'आज़मशाही' नाम भी धोखे का एक कारण है। वास्तव में इसका नाम 'आज़मखानी' होना समुचित है, और इस क्रम के बाँधने वाले हरजू ने स्वयं लिखा भी है कि यह क्रम 'आज़म ख़ाँ' के लिए बाँधा गया। उन्होंने इसका नाम आज़मशाही कहीं नहीं कहा है। यह नाम इसको कदाचित् लल्लूलाल जी ही ने प्रदान किया हो तो आश्चर्य नहीं, अथवा उनके पूर्व भी, संभव है कि, यह क्रम इसी नाम से विख्यात रहा हो, क्योंकि आज़म ख़ाँ के कई एक पूर्वज शाह भी कहलाते थे, अतः संभव है कि वह आज़मशाह भी कहलाता हो।

---

१ इस कवित्त के पाठ में बहुत अशुद्धि है।

इस क्रम पर पाँच टीकाएँ हमारे पास हैं—(१) लल्लूलालजी की लालचंद्रिका, (२) पंडित ज्वालाप्रसाद मिश्र जी की भावार्थप्रकाशिका, (३) पंडित अंबिकादत्त व्यास जी की बिहारीविहार टीका, (४) पंडित पद्मसिंहजी का संजीवन भाष्य, जो कि अभी पूरा नहीं हुआ है, तथा (५) पंडित परमानंद भट्ट जी की शृंगार-सप्तशती। इनका विवरण अन्य टीकाओं के साथ किया जायगा।

छठा क्रम कृष्णदत्त कवि ने संवत् १७८२ में लगाकर उसपर कवित्तबंध टीका की। यह टीका नवलकिशोर प्रेस में कई बार छप चुकी है, पर ऐसी अशुद्ध तथा छोड़-छाड़ कर छपी है कि जिसका कुछ

कृष्णदत्त का क्रम

ठिकाना नहीं। हमने कई एक हस्तलिखित प्रतियों से अपनी प्रति यथासंभव शोध कर तथा क्रम ठीक करके, बिहारीरत्नाकर के दोहों की सूची में उसी के अंक दिए हैं। पाठकों को यद्यपि ये अंक ज्यों के त्यों तो छपी हुई पुस्तक में न मिलेंगे तथापि इन अंकों के दस पाँच अंक आगे पीछे अभीष्ट दोहा मिल जायगा। कृष्ण कवि का क्रम उनकी छपी हुई पुस्तक में द्रष्टव्य है। शुद्ध की हुई प्रति के अनुसार उसका वर्णन यहाँ किया जाता है।

इस क्रम में ६९९ दोहे ग्रहण किए गए हैं, जिनमें से एक दोहा ऐसा है जो बिहारीरत्नाकर में नहीं आया है। वह दोहा बिहारी-रत्नाकर के दूसरे उपस्करण की ८२ संख्या पर दिया गया है, और पंद्रह दोहे इसमें बिहारी-रत्नाकर के नहीं आए हैं, जिनका ब्योरा बिहारीरत्नाकर की सूची से ज्ञात हो सकता है।

यह क्रम कोविद कवि तथा पुरुषोत्तमदास जी के क्रमों की भाँति वैषयिक ही है, और साहित्यिक दृष्टि से कुछ विशेष उपयोगी तथा गौरवान्वित नहीं है। इस क्रम पर तीन टीकाएँ हमारे पास हैं—(१) स्वयं कृष्णदत्त कवि की टीका, (२) प्रभुदयाल पांडेजी की टीका और (३) कवि सवितानारायण की गुजराती टीका। इनका विवरण अन्य

टीकाओं के साथ किया जायगा।

रसचंद्रिका के विषय में पंडित अंबिकादत्त व्यास ने विहारी-विहार की भूमिका में लिखा है कि इसका क्रम सबसे विलक्षण है, अर्थात् इसमें दोहे अकारादि क्रम से हैं। पर हमारे पास जो रसचंद्रिका की प्रति है उसमें दोहे पुरुषोत्तमदास जी के क्रम के अनुसार हैं। अतः हम इसके क्रम के विषय में कुछ विशेष नहीं कह सकते। यदि वास्तव में टीकाकार ने अकारादि क्रम से दोहे रखे हैं तो इस क्रम को सातवाँ क्रम मानना चाहिए, क्योंकि यह टीका संवत् १८०९ में बनी थी। इस क्रम, टीका तथा टीकाकार का विशेष वर्णन अन्य टीकाओं के साथ किया जायगा।

रसचंद्रिकाकार ईस्वी खाँ का क्रम

स्वर्गवासी साहित्याचार्य पंडित अंबिकादत्त व्यास ने विहारीविहार की भूमिका में एक गद्य-संस्कृत टीका का वर्णन किया है। उसकी जो प्रति उनको प्राप्त हुई थी उसमें उसके रचना-काल तथा रचयिता का नाम इत्यादि कुछ नहीं लिखा था। अतः उसके समय के विषय में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। पर व्यास जी को जो उसकी प्रति मिली थी वह संवत् १८४४ की लिखी हुई थी। अतः हम उस क्रम के बाँधे जाने का काल संवत् १८४४ के दस बीस वर्ष पूर्व मानकर उसको रसचंद्रिका के पश्चात्, अर्थात् आठवाँ, स्थान देते हैं।

गद्य संस्कृत टीका का क्रम

यद्यपि व्यास जी ने इसके दोहों के अंक जो अपनी सूची में दिए हैं, उनके अन्वेषण से इसका क्रम ज्ञात हो सकता है तथापि हम उक्त पुस्तक को बिना देखे उसके क्रम के विषय में कुछ विशेष कहना समुचित नहीं समझते। व्यास जी ने जो इसके २५ अधिक दोहे विहारीविहार के अंत में लिखे हैं उनमें से दो तो विहारीरत्नाकर में विद्यमान हैं और शेष २३ हमने विहारीरत्नाकर के द्वितीय उपस्करण के ३७, ८५ तथा ९१ से १११ तक के अंकों पर सन्निविष्ट कर दिए हैं।

इस क्रम पर केवल एक यही टीका हमको ज्ञात हुई है जिसका कुछ विवरण अन्य टीकाओं के साथ किया जायगा।

नवाँ क्रम आर्यगुंफ में देखने में आता है। यह क्रम काशीराज महाराज चेतसिंह के सभा-पंडित हरिप्रसाद ने संवत् १८३७ में लगाकर उसके एक एक दोहे का संस्कृत-अनुवाद एक एक आर्या छंद में किया था। यह पुस्तक स्वयं हमने नहीं देखी है। पर पंडित अंबिकादत्त व्यास जी ने जो इसके दोहों के अंक अपने बिहारीविहार की सूची में दिए हैं, तथा जो इसके ८ अधिक दोहे बिहारीबिहार के अंत में लिखे हैं, उनसे ज्ञात होता है कि ऊपर कहे हुए क्रमों से इसका क्रम कुछ पृथक् ही है, और इसमें सब मिलकर ६५८ दोहे रखे गए हैं। जो ८ दोहे अधिक हैं उनको तो हमने बिहारी-रत्नाकर के दूसरे उपस्करण के ८९ एवं ११२ से ११८ तक के अंकों पर सन्निविष्ट कर दिया है, पर उक्त पुस्तक को बिना स्वयं देखे हम उसके क्रम के विषय में कुछ विशेष लिखना उचित नहीं समझते।

आर्यगुंफ का क्रम

इस क्रम पर केवल एक दूसरी आर्यगुंफ टीका का विवरण हमको मिला है, जिसका वर्णन अन्य टीकाओं के साथ होगा।

दसवाँ क्रम देवकीनंदन की टीका में मिलता है। यह क्रम काशी के बाबू देवकीनंदनसिंह जी के कवि ठाकुर का बाँधा हुआ है। उन्होंने संवत् १८६१ में यह क्रम लगाकर इस पर एक टीका भी की थी। ठाकुर कवि का वृत्तांत इस टीका के विवरण में द्रष्टव्य है।

देवकीनंदन का क्रम

इसका क्रम पुरुषोत्तमदास जी के क्रम से बहुत कुछ मिलता जुलता है। पर तो भी है पृथक् ही। इस क्रम को भी वैषयिक क्रम समझना चाहिए जिसको विशेष गौरव का क्रम नहीं कह सकते। इसमें सब ७०८ दोहे रखे गए हैं, जिनमें चार दोहे दोहराकर आए हैं। शेष ७०४ दोहों में ८ दोहे ऐसे हैं जो बिहारीरत्नाकर में नहीं हैं, और बिहारीरत्नाकर के, १९, १२९,

१७०, २६२, ३०५, ३२४, ३३१, ३४५, ३६७, ४१५, ४३२, ४८१, ५११, ५२१, ५७०, ५९५ तथा ६१४ अंकों के १७ दोहे इसमें नहीं हैं। बिहारी-रत्नाकर से जो ८ दोहे इसमें अधिक रखे गए हैं, वे बिहारी-रत्नाकर के दूसरे उपस्करण के ८२, ८५, ८६, ८७, ८८, ९० ११९ तथा १२० अंकों पर दे दिए गए हैं।

इस क्रम पर दो टीकाएँ हमारे पास हैं—(१) यही देवकीनंदन की सतसैया-वर्णार्थ-टीका, तथा (२) संस्कृत गद्य टीका; जिनका वर्णन अन्य टीकाओं के साथ आगे किया जायगा।

ग्यारहवाँ क्रम प्रेम पुरोहित जी का बाँधा हुआ है। इसमें क्रम लगाने का समय नहीं दिया है, पर क्रम लगाने वाले का नाम प्रेम पुरोहित लिखा है, और आदि में जो ७ दोहे भूमिका-स्वरूप लिखे हैं उनसे इसके क्रम तथा क्रमकर्त्ता का कुछ वृत्तांत विदित होता है। पर उन दोहों में जो दोहों की गिनतियाँ लिखी हैं वे पुस्तक की गिनतियों से नहीं मिलतीं। उनमें से दूसरे तथा तीसरे दोहे ये हैं—

प्रेम पुरोहित का क्रम

> विप्र बिहारी नाम हुव सोती ख्याति प्रवीन।
> तिन कवि साड़े सात सै दोहा उक्तिम कीन॥
> बीते काल अपार तैं भए व्यतिक्रम देखि।
> करे अनुक्रम फेरि ते प्रोहित प्रेम बिसेषि॥

इनसे प्रकट होता है कि बिहारी के बहुत दिनों पश्चात् प्रेम पुरोहित नामक किसी कवि ने यह क्रम बाँधा था।

सातवें दोहे का उत्तरार्ध यह है—

> करे अनुक्रम राम जू जातैं समुझैं छिप्र॥

इससे ज्ञात होता है कि 'राम जू' नामक किसी प्रतिष्ठित व्यक्ति के समझने के निमित्त यह क्रम लगाया गया था। इसमें जो 'राम जू' शब्द पड़ा है, उसको, कदाचित्, 'करे' क्रिया का कर्त्ता मानकर इस क्रम के कर्त्ता का

नाम 'राम जू' तथा इस क्रम को टीका समझकर, मिश्रबंधुविनोद में १९८४ अंक पर राम जू को बिहारी सतसई का एक टीकाकार लिखा है, और उनका कविता-काल, संवत् १९०१ माना है। पर ऊपर लिखे हुए दोहों से प्रतीत होता है कि, यह एक क्रम विशेष मात्र है, और इस क्रम लगाने वाले का नाम प्रेम पुरोहित था। यह भी विदित होता है कि यह क्रम किसी 'राम जू' नामक प्रतिष्ठित पुरुष के समझने के निमित्त लगाया गया था। ये राम जू हमारे अनुमान से जयपुर के वे महाराज रामसिंह हो सकते हैं जो संवत् १८९१ में सिंहासनारूढ़ हुए थे, और बड़े विद्यानुरागी तथा कविता के गुण-ग्राहक थे, क्योंकि यह राम जू मिर्जा राजा जयशाही के पुत्र रामसिंह नहीं हो सकते। उनके समय में बिहारी को हुए अधिक दिन नहीं बीते थे, और इस पुस्तक के आरंभ के तीसरे दोहे से ज्ञात होता है कि इस क्रम के बाँधते समय बिहारी सतसई को बने बहुत दिन हो चुके थे।

इस क्रम में ७५३ दोहे रखे गए हैं। उनमें से ७ दोहे तो दोहराकर आए हैं, और शेष ७४६ दोहों में से ७१ ऐसे हैं, जो बिहारी-रत्नाकर में नहीं आए हैं। इनके निकाल देने पर ६७५ दोहे रह जाते हैं। बिहारीरत्नाकर के ३८ दोहे इसमें नहीं हैं, जिनके मिला देने से ७१३ की संख्या पूरी हो जाती है। ७१ दोहे जो इसमें बिहारीरत्नाकर से अधिक हैं, उनमें ३ तो ऐसे हैं जो अन्य किसी पुस्तक में देखने में नहीं आते। ये बिहारीरत्नाकर के द्वितीय उपस्करण में ११३, १२१ तथा १२२ अंकों पर दिए हुए हैं। शेष ६८ उन ७३ दोहों में से हैं जो हमारी २ संख्यक प्राचीन पुस्तक में बिहारीरत्नाकर से अधिक पाए जाते हैं, और जो बिहारी-रत्नाकर के दूसरे उपस्करण के आदि में रखे गए हैं। उक्त उपस्करण के ४, १०, १३, ५० तथा ७० अंकों के दोहे इस पुस्तक में नहीं हैं। बिहारी-रत्नाकर के ३८ दोहे जो इसमें नहीं हैं वे बिहारी-रत्नाकर के इन अंकों के हैं,—३५, ४८, ४९, ६४, ७६, ८९, १३६, १८१, १८९, १९७, २५८, २५९, २६७, २७०, २८१, ३११, ३२७, ३९७, ४०८, ४४६, ४८३, ५११,

५७५, ५८१, ५८५, ५८६, ५९३, ५९९, ६०५, ६१४, ६२७, ६३४, ६५०, ६५९, ६६५, ६९२, ७०२ तथा ७१३। अधिक दोहों पर ध्यान देने से यह प्रतीत होता है कि यह संग्रह उस प्रति से किया गया है जो बिहारी के किसी शिष्य ने सम्वत् १७३९ में लिखकर गुरुद्वारे में अर्पित की थी, और जिसकी प्रतिलिपि अद्यावधि जयपुर में विद्यमान है। उक्त पुस्तक के विषय में जयपुर में यह प्रसिद्ध है कि, सम्वत् १७३९ में उसको, बिहारी के किसी शिष्य ने लिखकर श्री सम्राट् जी नामक जयपुर के गुरुद्वारे के तत्कालीन अधिकारी को भेट किया था। अनुमान होता है कि प्रेम पुरोहित नामक कोई महाशय भी पीछे उक्त गुरुद्वारे के अधिष्ठाता हुए। उन्होंने उक्त प्रति से यह क्रम विषयानुक्रम के अनुसार महाराज रामसिंह के पढ़ने के निमित्त लगाया। इससे सम्वत् १७३९ वाली प्रति का अस्तित्व तथा उसका प्रामाणिक होना प्रतीत होता है। इस क्रम में यह विलक्षणता है कि मंगलाचरण का दोहा "मेरी भव-बाधा इत्यादि" न होकर "प्रगट भए द्विजराजकुल इत्यादि" है। इस क्रम का सम्वत् १८९१ के पश्चात् लगाया जाना अनुमानित करके यह स्थान इसको दिया गया है।

इस क्रम पर कोई टीका हमारे देखने में नहीं आई।

बारहवाँ क्रम रसकौमुदी में देखने में आता है। यह ग्रंथ श्री अयोध्या जी के कनक भवन नामक स्थान के महंत, श्री प्यारेराम जी के शिष्य, बाबा जानकीप्रसाद जी ने संवत् १९२७ में रचा था। इसमें ३१६ दोहों के अर्थ सवैयों तथा कवित्तों में विस्तृत किए गए हैं, और वे दोहे एक नवीन क्रम से रखे गए हैं। इन ३१६ दोहों में ११ दोहे ऐसे हैं जो बिहारी-रत्नाकर में नहीं आए हैं। वे दोहे बिहारीरत्नाकर के द्वितीय उपस्करण में दिए हुए हैं। उनका ब्योरा बिहारीरत्नाकर के प्रथम उपस्करण से विदित हो सकता है। रसकौमुदी का विशेष वर्णन अन्य टीकाओं के साथ किया जायगा।

रसकौमुदी का क्रम

कुलपति मिश्र के घराने वाली प्रति का क्रम

यह पुस्तक कुलपति मिश्र जी के वंशज श्री पंडित प्यारेलाल जी से जयपुर में प्राप्त हुई थी। इसके अंत में पुस्तक लिखे जाने का संवत् भी नहीं लिखा है। पर इसके अंत में 'सत्रह सै चालीस दुइ' इत्यादि दोहा जो कोविद कवि के क्रमवाली पुस्तक के अंत में मिलता है, लिखा है। इससे प्रतीत होता है कि यह क्रम, कोविद कवि के क्रम वाली किसी प्रति से, उसी के क्रम में कुछ हेरफेर तथा न्यूनाधिक्य करके, लगाया गया है। यह अनुमान इस बात से भी पुष्ट होता है कि यह क्रम कोविद कवि के क्रम से प्रायः मिलता है। आश्चर्य नहीं कि इस क्रम के बाँधने के निमित्त कुलपति मिश्र ने स्वयं ही कोविद कवि के क्रमवाली किसी प्रति पर दोहों के आगे पीछे करने के निमित्त कुछ चिह्न कर दिए हों, और फिर लेखक ने प्रमाद से कोविद कवि का संवत् वाला दोहा भी अंत में लिख दिया हो।

इस प्रति में सब ७०१ दोहे हैं, जिनमें २ दोहे दोहराकर आए हैं। उनके निकाल देने पर इसमें ६९९ दोहे रह जाते हैं। बिहारीरत्नाकर के ३९,४९,५०,२०४,२२१,२२९,३२७,३३२,३४५,४३०,४५१,४६४,४६७तथा ६७९ अंकों के १४ दोहे इसमें नहीं आए हैं। इस गणना से ७१३ दोहों का लेखा पूरा हो जाता है। जो १४ दोहे बिहारीरत्नाकर के इसमें नहीं आए हैं, वे कदाचित् लेखक के प्रमाद से छूट गए हैं क्योंकि कोविद कवि के क्रमवाली प्रति में पूरे ७१३ दोहे विद्यमान हैं। इस क्रम की दूसरी प्रति हमको श्रीयुत रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंद जी ओझा से प्राप्त हुई है। इस प्रति के तथा कुलपति मिश्र जी के घरानेवाली प्रति के केवल दो चार दोहों में कुछ हेर फेर है। यह प्रति संवत् १८५७ को लिखी हुई है, और इसके अंत में कोविद कवि का संवत् वाला दोहा नहीं है। यदि इस क्रम के कुलपति मिश्र के द्वारा लगाए जाने का अनुमान ठीक हो तो इस क्रम का लगाया जाना संवत् १७५० के आस पास मानना चाहिए, और इस

गणना पर कालक्रम के अनुसार इसको दूसरा अथवा तीसरा क्रम मानना उचित है। इस क्रम के पुराने होने का एक यह भी प्रमाण है कि इसमें बिहारी के निजक्रम की प्रतियों के दोहों से अधिक दोहा कोई नहीं है।

कुलपति मिश्र आगरे के रहनेवाले प्रसिद्ध कवि श्री बिहारीदास जी के भानजे थे। संवत् १७२७ में उन्होंने रस-रहस्य नाम का एक सुन्दर रीति-ग्रंथ जयपुराधीश रामसिंह जी की आज्ञा से रचा। उसमें उन्होंने अपना परिचय यों दिया है—

"बसत आगरे आगरे गुनियनु को जहँ रास।
बिप्र मथुरिया मिश्र हैं हरिचरननु के दास॥ २०८॥
अभय मिश्र, तिन बंस मैं परसुराम जिमि राम।
तिनकैं सुत कुलपति कियौ रस-रहस्य सुखधाम॥ २०९॥
जिते साज हैं कवित के मम्मट कहे बखानि।
ते सब भाषा में कहे रस-रहस्य मैं जानि॥ २१०॥
संवत् सत्रह सौ बरस बीते सत्ताईस।
कातिक बदि एकादसी बार बरनि बागीस॥ २११॥"

फिर संवत् १७३३ में महाराज रामसिंह ही के कहने से उन्होंने संग्राम-सार नामक ग्रंथ बनाया। उक्त ग्रन्थ में उन्होंने पंडितराज श्री जगन्नाथ त्रिशूली की वंदना की है जिससे विदित होता है कि वे उक्त पंडितराज के शिष्य एवं संस्कृत के भी पंडित थे।

"सब्द, जोग, नय, सेस-नाग, गौतम, कनाद मुनि।
सांख्य कपिल, औ ब्यास ब्रह्म-पथ, कर्मनु जैमुनि॥
बेद अंगजुत पढ़े सील-तप रिषि बसिष्ट-सम।
अलंकार-रस-रूप, अष्ट-भाषा-कबित्त-छम॥
तैलंग बेलनाड़ीय द्विज जगन्नाथ तिरसूलि बर।
साहिजहान दिल्लीस किय पंडितराज प्रसिद्ध धर॥ ४॥

उनके पद कौ ध्यान धरि इष्ट-देव-सम जानि।
उकति जुकति वहु भेद भरि ग्रंथहिं कहौं वखानि ॥ ५ ॥"

अपनी संस्कृतज्ञता के विषय में उन्होंने स्वयं भी यों कहा है—

"हुते तहाँ पंडित वहुत भाषा कव्यौं अनेक।
दुहूँ ठौर परवीन नृप देख्यौं कुलपति एक ॥"

उसी ग्रन्थ में उन्होंने अपने मातामह केशव का भी स्मरण किया है, और उनको कविवर कहा है—

"कविवर मातामह सुमिरि केसौ केसौ-राइ।
कहौं कथा भारत्थ की भाषा-छंद वनाइ ॥"

इस दोहे को विहारी के सुप्रसिद्ध दोहे—

"प्रगट भए द्विजराज-कुल, सुवस वसे व्रज आइ।
मेरे हरौ कलेस सव केसौ केसौ-राइ ॥"

से मिलाने पर दोनों दोहों के केशव के एक ही होने की प्रतीति होती है, और कुलपति मिश्र के विषय में जो उनका विहारी का भानजा होना कहा जाता है, उसकी पुष्टि। यह केशव कौन थे, यह प्रश्न बड़ा गूढ़ है और इसके उत्तर पर बहुत कुछ निर्भर है। इसके विषय में विहारी की जीवनी में यद्यपि विचार किया गया है, तथापि इसका सन्तोषजनक निर्णय अभी तक नहीं हो सका।

संवत् १७४३ में कुलपति मिश्र ने 'जुगतितरंगिनी' नामक दोहों का एक ग्रन्थ वनाया। उसमें ७०४ दोहे हैं। ज्ञात होता है कि यह ग्रन्थ उन्होंने विहारी सतसई के जोड़ पर रचा। इसके आदि में उन्होंने संस्कृत तथा भाषा के सुप्रसिद्ध कवियों की वंदना की है। उन कवियों में केशवराय तथा विहारी के नाम भी आए हैं। विहारी का नाम केशव के पश्चात् ही आया है—

"जौं भाषा जान्यौं चहत रसमय सरल सुभाइ।
कविता केसौंराय की तौं साँचौं चितु लाइ॥
भाँति भाँति रचना सरस देव-गिरा ज्यौं व्यास।
तौं भाषा सब कविनु मैं बिमल विहारीदास॥"

कुलपति मिश्र के समय तक सुप्रसिद्ध कवि केशवदास के अतिरिक्त और कोई कवि केशव नामधारी ऐसा विख्यात नहीं हुआ था जिसका नाम वे सूरदासादि के साथ गिनाते। अतः इस दोहे के केशवराय से तो अवश्य ही सुप्रसिद्ध कवि, ओरछेवाले केशवदास ही, जो कि अपने को प्रायः केशवराय भी लिखते थे, अभिप्रेत हैं। फिर यदि जिन केशव को कुलपति ने अपना नाना कहा है वे भी यही हों तो कुलपति मिश्र उन्हीं प्रसिद्ध केशवदास के दौहित्र ठहरते हैं और विहारी उन्हीं के पुत्र। केशव तथा विहारी के नामों का सान्निध्य भी इसी बात की झलक देता है। पर इस संबंध के मानने में बाधा इतनी ही पड़ती है, जैसा कि विहारी की जीवनी में कहा गया है कि केशवदास ने अपने को सनाढ्य लिखा है और कुलपति मिश्र ने अपने को माथुर विप्र। इसके अतिरिक्त विहारी के विषय में भी जहाँ तहाँ माथुर विप्र ही लिखा मिलता है। यह सुना गया है कि चौबों में सनाढ्य भी होते हैं। यदि सनाढ्य चौबों में विहारी के गोत्र इत्यादि भी होते हों तो, विहारी के सुप्रसिद्ध केशवदास के पुत्र तथा कुलपति मिश्र के उन्हीं के दौहित्र मानने में कोई बाधा नहीं पड़ती। जो हो, यह बात है अभी संशयात्मक ही, जैसा कि विहारी की जीवनी में भी लिखा गया है।

संवत् १७४९ में कुलपति मिश्र ने रामसिंह जी के पौत्र, विष्णुसिंह जी की आज्ञा से दुर्गाभक्ति-चंद्रिका नामक ग्रन्थ बनाया। यह संस्कृत दुर्गापाठ का अनुवाद-स्वरूप है। इसमें भी उन्होंने अपने को माथुर लिखा है।

कुलपति जी ने जो विहारी-सतसई का क्रम लगाया है उस पर कोई टीका हमारे देखने सुनने में नहीं आई है।

केवलराम कवि का क्रम

इस क्रम की जो पुस्तक हमारे पास है उसमें भी क्रम बाँधने का कोई संवत् नहीं दिया है। अंत में पुस्तक लिखे जाने का संवत् १९१२ लिखा है। सतसई आरंभ होने के पूर्व जो नौ दोहे क्रम-कर्त्ता ने भूमिका-स्वरूप रखे हैं, उनमें के अंत के दो दोहों से विदित होता है कि इस क्रम के कर्त्ता केवल राम थे। ये दोहे ये हैं—

वहै वचनिका-रचन-रँग रसिक रँगे जिहिं सुष्ट।
जो रस कौं पोषित करै 'केवल' वह रस-पुष्ट॥
'केवल' कहु केते कहित यह दयाल के हेत (?)।
बिविध बिहारी-दोहरा बिलसत सुरस-समेत॥

नवें दोहे के पूर्वार्ध का पाठ कुछ ऐसा अशुद्ध हो गया है कि उससे जिसके निमित्त यह क्रम लगाया गया उसका पता नहीं लगता। पर इस क्रम का बहुत प्राचीन होना इस बात से प्रमाणित होता है कि इसमें ७११ दोहे तो वे ही हैं जो बिहारी के निज क्रम की प्रतियों में मिलते हैं, और बिहारीरत्नाकर के केवल दो दोहे अर्थात् "चलत देत आभारु इत्यादि", तथा "हुकुम पाइ जयसाहि इत्यादि", नहीं हैं, और केवल एक दोहा "सघन कुंज जमुहाति इत्यादि" बिहारीरत्नाकर से इसमें अधिक है। इस न्यूनाधिक्य की स्वल्पता से यह कहा जा सकता है कि इस क्रम के लगाते समय सतसई में विशेष न्यूनाधिक्य नहीं हो चुका था। इसके क्रम में भी यह विलक्षणता है कि पहला दोहा "मेरी भव-बाधा इत्यादि", न होकर "सामाँ सेन सयान इत्यादि", है।

इस क्रम पर कोई टीका हमारे देखने में नहीं आई है।

इन चौदह क्रमों के अतिरिक्त जिनका विवरण ऊपर हुआ है, (१) पठान सुल्तान की कुंडलिया, (२) राजा गोपालशरण सिंह की टीका, (३) कवि रघुनाथ बंदीजन की टीका, (४) सर्दार कवि की टीका, (५) धनंजय टीका, (६) गिरिधर की टीका, (७) रामबख्श की टीका, (८) छोटू

राम की वैद्यक टीका, (९) गंगाधर की उपसतसैया, (१०) महाराज मानसिंह जोधपुरवाले की टीका तथा (११) विहारी सुमेर, इन ११ अप्राप्त टीकाओं के क्रम अज्ञात हैं। संभव है कि इन टीकाओं में से कई एक में भिन्न ही भिन्न क्रम हों। इसके अतिरिक्त और टीकाओं तथा मूल के भिन्न क्रमों की और भी कतिपय पुस्तकों का अभी अज्ञात होना संभव है।[1]

१—अन्तिम दो पुस्तकों के आद्यंत में क्रम लगने का समय कुछ नहीं लिखा है, अतः हम इनका वर्णन अंत में करते हैं, यद्यपि ये क्रम संभवतः ऊपर लिखे हुए क्रमों में से कई एक के पूर्व के बाँधे प्रतीत होते हैं।

छठा प्रकरण

बिहारी सतसई की टीकाएँ

१. कृष्णलाल की टीका

बिहारीरत्नाकर लिखते समय हमारी धारणा थी कि मानसिंह विजयगढ़ वाले की टीका ही, सतसई की प्रथम टीका है, क्योंकि उक्त टीका हमारे अनुमान से संवत् १७३० तथा १७३४ के बीच की बनी हुई है, और उसमें दोहों का पूर्वापरक्रम भी वही है जो बिहारी के निज क्रम की प्रतियों में है। पर बिहारीरत्नाकर के मुख्य भाग के छप जाने पर, इस पुस्तक के आरंभ करने के पहले ही, हमको एक ऐसी टीका, प्राप्त हुई, जिसके देखने से हमारी वह धारणा जाती रही, और अब हम इस नव-प्राप्त टीका ही को सतसई की प्रथम टीका मानते हैं। इस टीका में भी ५—७ दोहों के अतिरिक्त शेष दोहों का क्रम वही है जो बिहारी के निज क्रम की अन्य प्रतियों में है और जो क्रम कि बिहारीरत्नाकर में रखा गया है।

इसमें "हुकुम पाइ जयसाहि इत्यादि" दोहे के पश्चात् यह दोहा लिखा है—

संवत, ग्रह, ससि, जलधि, छिति, छठ तिथि, बासर चंद।
चैत मास, पख कृष्ण, मैं पूरन आनँदकंद॥

हम इस दोहे को टीकाकारकृत तथा टीका के रचने के संवत् का दोहा समझते हैं। सर जी० ए० ग्रियर्सन साहब, स्वर्गवासी पंडित अंबिकादत्त जी व्यास, मिश्रबंधु महाशयों, तथा इस समय के अन्य बिहारी पर लिखनेवालों ने इसको बिहारी सतसई ही की समाप्ति के संवत् का दोहा माना है। पर यह बात चिन्तनीय है। यह दोहा लालचंद्रिका को छोड़कर न तो किसी

अन्य पुरानी आज़मशाही ही क्रम की पुस्तक में मिलता है और न अन्य किसी क्रम की पुस्तक ही में। हमारे देखने में आज तक जितनी मूल अथवा सटीक, हस्त-लिखित अथवा छपी हुई सतसई की पुस्तकें आई हैं, उनमें से, लाल चंद्रिका तथा इस पुस्तक को छोड़कर, केवल पाँच पुस्तकों में इसका दर्शन प्राप्त होता है, अर्थात् साहित्याचार्य सुकवि पंडित अंबिकादत्त व्यास के बिहारीबिहार, विद्यावारिधि स्वर्गीय पंडित ज्वालाप्रसाद मिश्र की भावार्थ-प्रकाशिका टीका, श्रीयुत प्रभुदयाल पांडे जी की टीका, श्रीयुत कविवर सवितानारायण जी की भावार्थप्रकाशिका गुजराती टीका, तथा श्रीयुत लाला भगवानदीन जी की बिहारीबोधिनी टीका में। इनमें से बिहारी बिहार तथा ज्वालाप्रसाद जी की भावार्थप्रकाशिका में तो सर्वथा लालचंद्रिका के क्रम का अनुसरण किया गया है, अतः उनमें इस दोहे का लालचंद्रिका से लिया जाना सिद्ध ही है। श्रीयुत प्रभुदयाल पांडे जी ने अपनी टीका का क्रम, कृष्णदत्त की टीका के अनुसार रक्खा है, और कृष्णदत्त की टीका में यह दोहा है नहीं। अतः यह अनुमान करना पूर्णतया संगत है कि पांडे जी ने यह दोहा लाल-चंद्रिका से उद्धृत कर लिया है। श्रीयुत लाला भगवानदीन जी ने बिहारी-बोधिनी में हरिप्रकाश का क्रम रक्खा है, पर यह दोहा हरिप्रकाश टीका में नहीं है। अतः बिहारी-बोधिनी के विषय में भी यही प्रमाणित होता है कि यह दोहा उसमें या तो लालचंद्रिका से उद्धृत किया गया है या पांडे जी की टीका से। कविवर सवितानारायण जी की भावार्थप्रकाशिका गुजराती टीका में भी कृष्णदत्त की टीका का क्रम है। उनकी भूमिका से ज्ञात होता है कि उन्होंने लालचंद्रिका, बिहारीबिहार, तथा पांडे जी की टीका के ग्रंथ देखे थे, अतः उनके विषय में भी यह अनुमान किया जाता है कि उन्होंने यह दोहा इन्हीं में से किसी से उद्धृत कर लिया है। बस फिर इस दोहे के सतसई में प्रविष्ट होने तथा इसके बिहारी-रचित समझे जाने के उत्तरदाता श्रीयुत लल्लूलाल जी महाराज ही ठहरते हैं। अब इस बात का अनुसंधान करना आवश्यक है कि लल्लूलाल जी ने यह दोहा

कहाँ पाया और इसका सन्निवेश सतसई में कैसे कर दिया। लालचंद्रिका की भूमिका में लल्लूलाल जी ने लिखा है कि हमने सात टीकाएँ देख विचार कर लालचंद्रिका टीका बनाई। उन टीकाओं के नाम उन्होंने ये लिखे हैं (१) अमरचंद्रिका, (२) अनवरचंद्रिका, (३) हरिप्रकाश टीका, (४) कृष्ण कवि की कवित्तवाली, टीका (५) कृष्णलाल की टीका, (६) पठान की कुंडलियों वाली टीका और (७) संस्कृत टीका। इन ७ टीकाओं में से अमरचंद्रिका, अनवरचंद्रिका, हरिप्रकाश टीका तथा कृष्णकवि की टीका, इन चारों टीकाओं में तो इस संवत् वाले दोहे का पता मिलता नहीं, अतः पठान की कुंडलियों वाली टीका तथा कृष्णलाल की टीका, इन दो ग्रंथों में से किसी में इस दोहे की प्राप्ति की संभावना रह जाती है। इनमें से भी पठान सुल्तान की कुंडलियों वाले ग्रंथ में इस दोहे के होने की उतनी संभावना नहीं प्रतीत होती जितनी कृष्णलाल वाली टीका में होती है। अतः हमारा अनुमान है कि यह दोहा लल्लूलाल जी ने कृष्णलाल ही की टीका में देखकर, और उसको बिहारी-कृत समझकर, लालचंद्रिका में प्रविष्ट कर दिया। यदि हमारा यह अनुमान संगत समझा जाय, तो यह बात विचारने की है, कि यह दोहा कृष्णलाल जी की टीका में कैसे आ गया, जब कि बिहारी की निज क्रमवाली और किसी प्रति में प्राप्त नहीं होता। इसका कारण यद्यपि यह भी हो सकता है कि बिहारी के निज क्रमवाली किसी विशेष प्रति में यह रहा हो, और वही प्रति कृष्णलाल जी के हाथ लगी हो, पर विशेष संगत यही अनुमान ज्ञात होता है कि यह दोहा किसी टीकाकार की टीका के रचने के संवत् का हो, चाहे वह टीकाकार स्वयं कृष्णलाल जी ही रहे हों, अथवा अन्य कोई, जिसकी टीका में यह दोहा पाकर कृष्णलाल जी ने अपनी टीका में रख लिया हो। बिहारी की सतसई के समाप्त होने का संवत् हमारे अनुमान से १७०४—५ ठहरता है, जिसका विशेष वर्णन बिहारी की जीवनी में द्रष्टव्य है। यदि हमारा यह अनुमान ठीक हो तो भी यह संवत् वाला दोहा या तो सतसई की किसी प्रति के लिखे जाने के समय का हो सकता

विहारी का दोहा समझकर अपनी टीका में सन्निविष्ट कर दिया है। हमारी प्रति के आद्यंत में टीकाकार का नाम इत्यादि कुछ नहीं लिखा है, पर संभव है कि लल्लूलाल जी के हाथ जो प्रति इसकी लगी हो उसके आदि अथवा अंत में "कृष्णलालकृत टीका", अथवा ऐसा ही कोई और शब्द रहा हो।

मिश्रबंधुविनोद में राधाकृष्ण चौबे नामक एक कवि १०७६ अंक पर पाए जाते हैं। इनका निवास चित्रकूट और ग्रंथ (१) विहारी सतसइया पर पद्य टीका, तथा (२) कृष्णचंद्रिका, एवं कविता-काल संवत् १८५० के पूर्व लिखा है। कविता-काल के विषय में तो यह कहा जा सकता है कि जो प्रतियाँ मिश्रबंधु महाशयों को मिलीं उनमें उनके लिखे जाने के संवत् १८५० के आस पास के दिए थे, जिनसे उक्त महाशयों ने यह अनुमान स्वाभाविक ही कर लिया कि उक्त ग्रंथ संवत् १८५० के पूर्व के रचे हुए हैं। पर उन्होंने जो यह लिखा है कि उनकी टीका पद्यमय है उससे वह टीका इस टीका से भिन्न ही प्रतीत होती है। नाम जो उन्होंने राधाकृष्ण लिखा है, उसके विषय में तो यह कहा जा सकता है कि कृष्णलाल तथा राधाकृष्ण चौबे एक ही व्यक्ति थे; नाम के लिखने में था तो लल्लूलाल जी को भ्रम हो गया या मिश्रबंधु महाशयों को। यदि मिश्रबंधु महाशयों ने उस टीका को पद्य टीका न लिखा होता अथवा यदि 'पद्य' शब्द को गद्य का अशुद्ध पाठ समझा जाय, तो उस टीका को तथा लल्लूलाल जी-लिखित कृष्णलाल की टीका को एक ही समझने में कोई आपत्ति न होती। जो हो, हमारे पास जो टीका है और जिसमें "संवत् ग्रह ससि इत्यादि" दोहा लिखा है, उसके रचना-काल के संवत् १७१९ मानने में कोई असंगति नहीं प्रतीत होती, और न उसके लल्लूलाल जी की कही हुई कृष्णलाल कवि की टीका ही होने में कोई असंभावना है।

'संवत् ग्रह ससि इत्यादि,' दोहे के विषय में यदि हमारा अनुमान ठीक है तो उसका अर्थ यह होता है—संवत् १७१९ के चैत्र मास के कृष्ण पक्ष की छठ को सोमवार के दिन [यह] आनंदकंद [टीका] पूर्ण [हुई]।

इस तिथि तथा वार के मिलान के विषय में सर जी. ए. ग्रियर्सन साहब ने लिखा है कि यह तिथि सन् १६६२ ईसवी की २४ जनवरी को पड़ी थी, जिस तारीख को गुरुवार था। पर इस गणना में उक्त साहब महोदय को कुछ भ्रम हो गया था, क्योंकि वास्तव में संवत् १७१९ की चैत्र कृष्ण ६ सन् १६६३ ई० की १८ फरवरी को पड़ी थी, और उस दिन बुधवार था। दोनों ही अवस्थाओं में इस दोहे में लिखे हुए तिथि तथा वार का मिलान नहीं होता। पर जयपुर प्रांत में अमांत मास मानने की प्रथा भी पूर्व काल में थी और अब भी कुछ लोग किसी किसी प्रांत में उक्त प्रथा का अनुसरण करते हैं। वल्लभ संप्रदाय के वैष्णवों में विशेषतः यह प्रथा कहीं कहीं प्रचलित है। इस प्रथा के अनुसार चैत्र कृष्ण ६ इस प्रांत की वैशाख कृष्ण ६ होती है। गणना करने से संवत् १७१९ की वैशाख कृष्ण ६ सन् १६६२ ई० की तारीख ३१ मार्च चंद्रवार को पड़ती है। अतः टीकाकार को इस प्रथा का अनुयायी मानने पर उसके लिखे वार तथा तिथि का मिलान हो जाता है और टीकाकार को उक्त प्रथा का अनुयायी मानना किसी प्रकार असंगत भी नहीं है, प्रत्युत उसके जयपुर प्रांत का निवासी होने के कारण—जो कि उसकी भाषा से सिद्ध होता है—उसका इस शैली का अनुकरण करना पूर्णतया संगत तथा स्वाभाविक है।

ऊपर लिखी हुई बातों से हम इस टीका को संवत् १७१९ में कृष्णलाल के द्वारा रची हुई टीका मानते हैं, और सतसई के पूर्ण होने के १४—१५ ही वर्ष पीछे लिखे जाने, तथा इसके पूर्व की किसी टीका के न प्राप्त होने के कारण इसको सतसई की प्रथम टीका अनुमानित करते हैं।

इस टीका के अंत में यह दोहा लिखा है—

प्रथम देव वानी हुती पुनि नर वानी कीन।
लाल विहारी कृत कथा पढ़ै सो होइ प्रवीन॥

इस दोहे का एक सामान्य अर्थ तो यह होता है, कि पहले देववानी अर्थात् संस्कृत थी, पश्चात् लोगों ने नरबानी, अर्थात् व्रजभाषा, इत्यादि की

(बना ली)। लाल कहता है कि [उस नरवानी में] बिहारी की कथा (कविता) जो पढ़े वह प्रवीन हो जाय। दूसरा अर्थ इस दोहे का यह भी निकलता है कि पहले [सतसई] देवबानी (संस्कृत) में थी, पश्चात् नरबानी (ब्रजभाषा) में की गई। हे लाल [कवि, ऐसी इस] बिहारी-कृत कथा (सतसई) को जो पढ़े वह प्रवीन हो। इस अर्थ से यह बात निकलती है कि बिहारी की सतसई पहले संस्कृत में थी, और फिर ब्रजभाषा में उसका अनुवाद किया गया। पर इस बात का कोई और प्रमाण नहीं मिलता, अतः यह अर्थ अग्राह्य है। तीसरा अर्थ इस दोहे का यह भी हो सकता है कि पहिले [यह टीका] देवबानी (संस्कृत) में थी, फिर नर-बानी (ब्रजभाषा) में [अनुवादित] की गई। लाल कवि कहता है कि जो इस बिहारी-कृत कथा (सतसइया) को [इस टीका से] पढ़े वह प्रवीण हो। इस अर्थ की संगति इस टीका के पूर्व इस टीका से मिलती हुई किसी संस्कृत टीका के विद्यमान होने पर निर्भर है। हमारे पास जो प्राचीन संस्कृत टीका है, न तो उसका क्रम ही इस टीका के क्रम से मिलता है, और न उस टीका की कोई विशेष बात ही इस टीका में आई प्रतीत होती है। अतः जब तक कोई ऐसी संस्कृत टीका देखने में न आवे जो निश्चित रूप से इस भाषा टीका की आधारभूत मानी जा सके, तब तक यह तीसरा अर्थ भी अग्राह्य ही मानना चाहिए।

इस दोहे में जो लाल शब्द पड़ा है वह बिहारी के नाम का अंश नहीं प्रतीत होता, क्योंकि इस टीका के आद्यंत में बिहारीलाल शब्द न होकर बिहारीदास शब्द मिलता है। अतः यदि यह शब्द बिहारी के नाम के अंशरूप से आया होता, तो 'लाल बिहारी' के स्थान पर दास बिहारी का होना अधिक संभावित था। अतः लाल शब्द को टीकाकार का उपनाम मानना चाहिए। ज्ञात होता है कि उनका नाम कृष्णलाल था, और वे कविता में कभी कृष्ण और कभी लाल छाप रखते थे।

इस संबंध में एक यह भी बात ध्यान में रखने की है कि जनश्रुति में

बिहारी के बेटे का नाम कृष्ण कवि होना, और उसका सतसई पर एक टीका भी लिखना प्रसिद्ध है। इसी लोकवाद के आधार पर कई एक लेखक कृष्ण-दत्त चौबे को, जिसने सतसई पर कवित्तमय टीका बनाई है, बिहारी का पुत्र मानते हैं। पर उन कृष्णदत्त का बिहारी का पुत्र होना यदि असंभव नहीं तो दुःसंभव अवश्य है, क्योंकि कृष्णदत्त की कवित्तों वाली टीका संवत् १७८२ में बनी थी। अतः बिहारी के रचना-काल तथा उन कृष्णदत्त के रचना-काल में बहुत अंतर है। इस गद्य टीकाकार कृष्णलाल का बिहारी का पुत्र होना यदि कहा जाय तो समय की अनुकूलता उसके पक्ष में हो सकती है।

इस टीका में दोहों के पूर्वापर का क्रम, दो चार दोहों को छोड़कर, वही है जो बिहारी-रत्नाकर में ग्रहण किया गया है, और यह एक दोहा इसमें बिहारी रत्नाकर से अधिक है—

सिसुता अमल तगीर सुनि भए और मिलि मैन।
कहौ होत हैं कौन के ए कसबाती नैन॥

इस टीका की भाषा प्राचीन ढंग की जयपुरी मिश्रित है। इसमें अलंकारों तथा ध्वनि इत्यादि का झगड़ा नहीं उठाया गया है। केवल दोहों के वक्ता बोधव्य तथा अर्थ लिखे गए हैं। दोहों के भावार्थ समझाने में टीकाकार ने यथाशक्ति चेष्टा की है, यद्यपि भाषा तथा परिपाटी के वैलक्षण्य के कारण उसका अभिप्राय इस समय के पाठकों के लिये समझना कुछ कठिन है। निदर्शनार्थ एक दोहे की टीका नीचे लिखी जाती है—

पार्यौ सोरु सुहाग कौ इनु बिनु हीं पिय नेह।
उन दौंहीं अँखियाँ ककै कै अलसौंहीं देह॥ ६६२॥

टीका—मुग्धा स्वाधीनपतिका। सखी कौ बैन सखी सौं। हे सखी इन राधिका बिन हीं भरतार सौं नेह सहाग कौ सोर पार्यो है। सो कैसैक नायका के अलसोंही देह करने तै नायक दोनु हीं अँखिया करिकै देखि सो चित चढ़ी।

इस टीका की प्रति जो हमारे पास है वह संवत् १८२० की लिखी हुई है।

इसके क्रम का विशेष वर्णन प्रथम क्रम के अंतर्गत द्रष्टव्य है।

कालक्रमानुसार दूसरी टीका, जो हमारे देखने में आई है वह उदयपुर के निकट विजयगढ़ ग्राम के रहनेवाले मानसिंह नामक कवि की है। इन्हीं कवि का बनाया हुआ एक ग्रंथ 'राजविलास'[1] भी है। राज-विलास में उदयपुराधीश महाराणा राजसिंह के समय का वर्णन है। इसकी रचना संवत् १७३४ में आरंभ हुई थी, और इसकी समाप्ति का संवत्, यद्यपि इसमें नहीं दिया है तथापि अनुमान से १७३७–३८ प्रतीत होता है। महाराणा राजसिंह संवत् १७०८ में गद्दी पर बैठे थे और संवत् १७३७ में उनका स्वर्गवास हुआ, जैसा कि राज-विलास से विदित होता है। मानसिंह कवि के विषय में सुना गया है कि उन्होंने जयपुर में जाकर बिहारी से साक्षात् किया था, और उनसे कुछ पढ़ा भी था। जयपुर से लौटते समय वे बिहारी के कुछ दोहे लिख ले गए थे। उदयपुर में पहुँचकर उन्हों ने वे दोहे जहाँ तहाँ सरदारों को सुनाए, और होते होते कुछ दोहे महाराणा के कान तक भी पहुँचे। बिहारी के दोहों की ख्याति उदयपुर में पहले ही पहुँच चुकी थी और वहाँ के सामन्त, सरदार इत्यादि उनको बड़े चाव और प्रसन्नता से पढ़ते सुनते थे। उन दोहों की उत्तमता पर महाराणा ने प्रसन्न होकर, मानसिंह को राजसभा में बुलाया और आज्ञा दी कि जयपुर जाकर तुम सतसई की पुस्तक प्राप्त कर लाओ। जब मानसिंह किसी प्रकार सतसई ले आए तो उसके दोहे बड़े कठिन देख पड़े। अतः महाराणा जी ने, मानसिंह को बिहारी का शिष्य समझकर, सतसई की टीका करने की आज्ञा दी। मानसिंह ने अपनी बुद्धि के अनुसार यह टीका उसी आज्ञा पर रचकर प्रस्तुत की। यद्यपि टीका तो बहुत

२. मानसिंह की टीका

१—यह नागरीप्रचारिणी सभा के द्वारा प्रकाशित हो गया है।

की सामान्य श्रेणी की है, तथापि महाराणा ने प्रसन्न होकर मानसिंह को अपनी सभा के कवियों में समाविष्ट कर लिया। फिर मानसिंह ने राज-विलास ग्रन्थ की रचना आरंभ की। इस टीका में रचना-काल कुछ नहीं दिया है। पर, यदि ऊपर लिखे हुए जन-वाद में कुछ सार है तो, इस टीका का रचना-काल संवत् १७३४ के पूर्व समझना चाहिए।

इस टीका की प्रति जो हमारे पास है, वह प्रतापविजय नामक किसी व्यक्ति के द्वारा अजमेर में संवत् १७७२ में लिखी गई थी। इस टीका के अंत में यह लिखा हुआ है—

इति श्री बिहारीदासकृत सतसई दोहराः संपूर्ण सतसहीरा टीका कृतं विजैगछे कवि मानसिंह जू टीका कीनी उदयपुर मध्ये ग्रंथाग्रन्थ ४५०५ इति संख्या संपूर्णः शुभं भवतुः ॥ श्री श्री सम्वत् १७७२ वर्षे वैशाख वदि कृष्णपक्षे द्वितीयायां लिपतं प्रतापविजय लिपीकृतं ॥ अजमेर मध्येः ॥ श्रीरस्तुः ॥ श्री ॥

एक बात पर ध्यान देना यहाँ आवश्यक है कि इस टीका के अंत में टीकाकार का नाम "मानसिंह" लिखा है, पर राज-विलास के अंत में उसके कर्त्ता का नाम 'मान कवि' पाया जाया है। इससे दोनों ग्रन्थकारों के एक ही होने में कुछ संशय उपस्थित हो जाता है। पर यह भिन्नता लेखमात्र की प्रतीत होती है, क्योंकि टीका के अंत में उसका उदयपुर में रचा जाना तथा उसकी प्रतिलिपि का सम्वत् १७७२ में अजमेर में लिखा जाना स्पष्ट ही कहा है। इस बात पर विचार करने से कि उस समय छापे का प्रचार नहीं था, और देश भर में, विशेपतः उदयपुर प्रांत में, बड़ी अशांति फैली हुई थी, उक्त टीका के उदयपुर से अजमेर तक लिखते लिखाते पहुँचने में ४० वर्ष के अनुमान लग जाना परम संगत तथा स्वाभाविक था। अतः उस टीका का रचना-काल संवत् १७३० तथा १७३४ के बीच में मानना अनुचित नहीं है। यदि यह अनुमान संगत समझा जाय, और उक्त टीका के उदयपुर ही में रचे जाने पर ध्यान दिया जाय और उसी के साथ जनश्रुति भी मिला ली

जाय, तो दोनों ग्रंथकारों के एक ही होने में संशय नहीं रह जाता। मानसिंह ने अपने विषय में न तो सतसई की टीका ही में कुछ कहा है, और न राज-विलास ही में। इस विषय में दोनों ग्रंथकारों की प्रकृति भी एक ही प्रतीत होती है।

यह टीका बहुत सामान्य श्रेणी की है और इसमें भी टीकाकार ने अलंकार इत्यादि नहीं लिखे हैं; केवल दोहों के अर्थ अपनी समझ के अनुसार कर दिए हैं, और वे अर्थ भी कहीं कहीं सर्वथा अशुद्ध और अग्राह्य हैं। निदर्शनार्थ एक दोहे की टीका नीचे लिखी जाती है—

पार्‍यौ सोर सोहाग कौ इनु बिनु ही पिय-नेह।
इन दौही अँखियाँ ककैं कै अलसोंही देह॥ ६६२॥

टी०—पंडिता नायका श्रीराधा जू श्रीकृष्ण जू सों कहै है। पारयौ सोर० इनु बिनु इन पिय के नेह बिनु ही हमारौ ब्रजमंडल में यों ही झूठौ ही सुहाग कौ सोर पसारयौ है। इन दौही० कै अलसौ० इन दोनु अँखियाँ देखें ही कौ सुहाग है। अर कै अलसौंही नींद भरी देह कै हमारे घर आइ सोवन कौ सुहाग है इत्यर्थः॥ ६६२॥

इस टीका में दोहों का क्रम बिहारी के निज क्रम के अनुसार है जिसका वर्णन प्रथम क्रम के अन्तर्गत हो चुका है।

मिश्र-बन्धु-विनोद में ५२९ अंक पर, किसी एक चारणदास नामक कवि के बनाए हुए दो ग्रंथ—(१) नेहप्रकाशिका, तथा (२) बिहारी सतसई की टीका, लिखे हैं; और नेहप्रकाशिका का रचना-काल संवत् १७४९ बतलाया है। अतः हम इस टीका का काल संवत् १७५० के आसपास अनुमानित करके इसको तीसरा स्थान देते हैं।

३. चारणदास की टीका

इस टीका के क्रम तथा उपयोगिता के विषय में हम कुछ नहीं कह सकते।

इस ग्रंथ के विषय में प्रायः लोगों का अनुमान है कि यह ग्रंथ पूरा नहीं बना था, केवल कतिपय दोहों पर कुण्डलियाँ पठान सुलतान के नाम से लगाई गई थीं। पर लल्लूलाल जी ने लाल-चंद्रिका की भूमिका में इस ग्रंथ को देखना लिखा है, और शिवसिंहसरोज में चंद्र कवि के ये सोरठे दिए हैं—

४. पठान सुलतान की कुंडलियों वाली टीका

सुलताँमुहमद साह नाम नबाब बखानियँ।
कविताई अति चाह करत रहत गढ़ नगर मैं ॥ १ ॥
देस मालवा माहिं कुंडलिया करि सतसई।
हरि गुन अधिक सराहि चंद्र कवीनुर तिहिं सभा ॥ २ ॥

इन दोनों बातों से पठान सुलतान की कुंडलियों वाले ग्रंथ का पूरा होना प्रमाणित होता है। पर यह ग्रंथ ऐसा दुर्लभ है कि इसकी दस ही पाँच कुंडलियाँ जहाँ तहाँ सुनने में आती हैं। स्वर्गवासी पंडित अंबिकादत्त जी व्यास को बड़े अनुसंधान से केवल पाँच कुंडलियाँ प्राप्त हो सकीं। उनको उन्होंने बिहारीविहार की भूमिका में प्रकाशित कर दिया है। वे ये हैं—

मेरी भव-बाधा हरौ राधा नागरि सोइ।
जा तन की झाँईं परैं स्यामु हरित-दुति होइ ॥
स्यामु हरित दुति होइ कटै सब कलुप-कलेसा।
मिटै चित्त को भरमु रहै नहिं कछुक अँदेसा ॥
कह पठान सुलतान कटै जम-दुख की बेरी।
राधा बाधा हरौ हहा बिनती सुनि मेरी ॥ १ ॥

नासा मोरि नचाइ जे करी कका की सौंह।
काँटे सी कसकैं ति हिय गड़ी कँटीली भौंह ॥
गड़ी कँटीली भौंह केस निरवारति प्यारी।
चितवति तिरछे दगनु मनौं हिय हनति कटारी ॥

कह पठान सुलतान छक्यौ यह देखि तमासा।
वाकौ सहज सुभाउ और कौ बुधि बल-नासा॥ २॥

हा हा बदनु उघारि दृग सफल करैं सबु कोइ।
रोज सरोजनु कैं परै हँसी ससी की होइ॥
हँसी ससी की होइ देखि मुखु तेरौ प्यारी।
विधिना ऐसी रची आपने करनु सँवारी॥
कह पठान सुलतान मेटि उर-अंतर-दाहा।
करि कटाच्छु मो ओर मोर बिनती सुनि हा हा॥ ३॥

सहज सचिक्कन स्यामरुचि सुचि सुगंध सुकुमार।
गनतु न मनु पथु अपथु लखि बिथुरे सुथरे बार॥
बिथुरे सुथरे बार निरखि नागरि नवला के।
भ्रमत भँवर बहु बिपिन बनक बरनत कवि थाके॥
कह पठान सुलतान आन तजि हिय भयौ हिक्कन।
बार बार मनु बँधत बार लखि सहजु सचिक्कन॥ ४॥

भूपन-भार सँभारिहै क्यौं इहिं तन सुकुमार।
सूधे पाइ न धर परैं सोभा ही कैं भार॥
सोभा ही कैं भार चलत लचकति कटि खीनी।
देत्यौ अनिंजु उड़ाइ जौ न होती कुचपीनी॥
कह पठान सुलतान तासु आँग-अंग अदूपन।
नरी किन्नरी सुरी आदि तिय की तिय भूपन॥ ५॥

इनके अतिरिक्त चार पाँच कुंडलियाँ हमने और सुनी हैं।

पठान सुलतान के विषय में शिवसिंहसरोज में लिखा है कि इनका नाम सुल्तान-मुहम्मद खाँ था, और ये संवत् १७६१ में राजगढ़, भूपाल के नवाब थे। सर जी. ए. ग्रियर्सन साहब, साहित्याचार्य पंडित अंबिकादत्त व्यास तथा मिश्रबंधु महाशयों ने भी इनके विषय में यही लिखा है।

चंद कवि के विषय में शिवसिंह ने लिखा है कि "ये कवि सुल्तान पठान नव्वाब राजगढ़ भाई बंदन बाबू भूपाल के यहाँ थे। इन्होंने बिहारी सतसई का तिलक कुंडलिया छंद में सुल्तान पठान के नाम से बनाया है"। इनकी उपस्थिति संवत् १७४९ में बताई है।

इन चंद के अतिरिक्त शिवसिंह जी ने चंद बरदाई को छोड़कर दो और चंद कवि लिखे हैं, उनमें से एक को तो सामान्य कवि बतलाया है, और उनकी कविता का यह उदाहरण दिया है—

मद के भिखारी मीन मास के अहारी रहैं,
सदा अनाचारी चारी लिखते लिखावते।
नारी कुलधाम की न प्यारी परनारी आगें,
विद्या पढ़ि पढ़ि हू कुविद्या-मगि धावते॥
आँखिनि कौं काजर कलम सौं चुराइ लेत,
ऐसे काम करैं नैंक संक हू न लावते।
जो पै सिंहवाहिनी निवाहिनी न होती चंद,
कायथ कलंकी काकैं द्वार गति पावते॥

दूसरे चंद के विषय में उन्होंने लिखा है कि इन्होंने शृंगाररस में बहुत सुंदर कविता की है और हजारे में इनके कवित्त हैं। इनके ये दो कवित्त भी निदर्शनार्थ दिए हैं—

लोचन सैन के बान बने, धनुही भृकुटी मुख चंद चही।
ओठनि मैं उपमा वर बिंब की दंत की पंगति कुंद सही॥
चंद कहैं नवनीरद से कच, अंग सुहेम की गोरि गही।
नाजुक हीन नई (?) मुख की उपमा नहिं एकहु जाति कही॥१॥

आस पास पुहिमि प्रकास के पगार सूझैं,
बननि अगार दीठि ह्वै रही निवर तैं (?)।
पारावार पारद अपार दसौं दिसि बूड़ी,
चंद ग्रहमंड उतरात बिधु वर तैं॥

सरद-जुन्हाई जन्हुधार सहसा सुधाई,
सोभा-सिंधु नव सुभ्र नव गिरिवर तैं।
उमड़्यौ परत जोति-मंडल अखंड सुधा-
मंडल मही पै विधु-मंडल विवर तैं ॥ २ ॥

मिश्रबंधु-विनोद में इन तीनों छंदों का एक ही होना अनुमानित किया है, और यह भी अनुमान किया है कि इन्होंने भाषा में एक महाभारत भी बनाया था।

पठान सुलतान की उपस्थिति संवत् १७६१ के आसपास शिवसिंह-सरोज में मानी गई है अतः हमने इनके ग्रंथ को चौथा स्थान दिया है, क्योंकि मानसिंह की टीका तथा इस ग्रंथ के बीच के समय की बनी हुई कोई टीका हमारे देखने में नहीं आई है।

इसकी कुंडलिया जो मिलती हैं उनकी कविता बहुत मधुर और रोचक है, यद्यपि बिहारी के भावार्थ-उद्घाटन में तो वे विशेष उपयोगी नहीं हैं।

इसके क्रम इत्यादि के विषय में हम कुछ नहीं कह सकते।

पाँचवीं टीका हमारे देखने में अनवरचंद्रिका आई है। इसकी रचना संवत् १७७१ में शुभकरण तथा कमलनयन कवियों ने मिलकर नव्वाव अनवर खाँ की आज्ञा से की थी। मंगलाचरण के छप्पय में शुभकरण का नाम आया है, और अनवर खाँ की प्रशंसा के एक कवित्त में कौलनैन (कमलनयन) मिलता है। वे छप्पय तथा कवित्त ये हैं—

५. अनवरचंद्रिका टीका

छप्पय

सुमुख, सुखद, ससि-धरन, धीर, हेरंब, अंब-सुत।
एक-दंत गजकरन, सरन-दायक, सिंदुर-जुत ॥
कपिल, विनायक, विकट, विघनन्नासक, गनाधिपति।
धूमकेतु-धर, धरम-धरन, दुखहरन, अगति-गति ॥

प्रभु लंबोदर, वारन-बदन विद्यामय, वुधि-वेद-मय।
'सुभकरन-दास' इच्छित करन, जय जय जय संकर-तनय॥

कवित्त

भोगी सीखैं भोग जासौं जोगी जोग सीखत हैं,
रागी सीखैं राग वागी वागिनि के भेव जू।
पंडिताई पंडित सुकवि कविताई सीखैं,
रसिकाई सीखत रसिक करि सेव जू॥
सीखत सिपाही त्यौं सिपाहगरी 'कौलनैन',
कामतरु दान सीखै तजि अहमेव जू।
करै को जवाब अनवर खाँ नवाब जू सौं,
और सब सिष्य एक आप गुरु देव जू॥

अपने विषय में टीकाकारों ने और कुछ नहीं लिखा है। मंगलाचरण के पश्चात् तीन छंदों में नव्वाब अनवर खाँ की वंशावली और पाँच छंदों में प्रशंसा लिखकर, इन चार दोहों में अनवरचंद्रिका की रचना का कारण तथा काल इत्यादि लिखा है—

अनवर खाँ जू कविन सौं आयसु कियौ सनेहु।
कबित-रीति सब सतसया-मध्य प्रगट करि देहु॥
ससि रिषि रिषि ससि लिखि लखौ संवतसर सबिलास।
जामैं अनवर-चंद्रिका कीन्यौ विमल विकास॥
जु है बिहारी सतसया मैं कवि-रीति-विलास।
सो अब अनवर-चंद्रिका सब कौ करै प्रकास॥
देखै अनवर-चंद्रिका पोथी जो चित लाइ।
ता नर कौ कवि-रीति मैं मोहतिमिर मिटि जाइ॥

इन चारों दोहों पर टीकाकारों ने ग्रंथ का प्रथम प्रकाश समाप्त कर दिया है, और दूसरे प्रकाश से मुख्य ग्रंथारंभ करके सब सोलह प्रकाशों में

समाप्त किया है, जिसका ब्योरा अनवरचंद्रिका के क्रम-विवरण में दिया गया है।

टीकाकारों ने यद्यपि अनवर खाँ की वंशावली तो बड़ी लंबी चौड़ी दी है पर उनके स्थानादि तथा अपने परिचय के विषय में कुछ नहीं लिखा है। वंशावली वर्णन के दूसरे छन्द से केवल इतना ज्ञात होता है कि अनवर खाँ से तेरह पीढ़ी पहले कोई यूसुफ़ खाँ गुर्देज़ी हुए थे, जिनका स्थान मुल्तान में था, और जो ऐसे सिद्ध थे कि उनका हाथ नित्य क़ब्र से बाहर निकला करता था। वंशावली से यह भी प्रतीत होता है कि अनवर खाँ के पूर्वजों की गद्दी गृहस्थ फ़क़ीरों, अर्थात् पीरज़ादों की थी, और उनके पिता का नाम सय्यद मुस्तफ़ा था। यद्यपि ये लोग गद्दीदार फ़क़ीर थे तथापि हिन्दुओं के विरुद्ध युद्धकर्म में प्रवृत्त होना अपना परम धर्म समझते थे। यह बात मुसलमानों में स्वाभाविक है, यहाँ तक कि शेख़ सादी साहब भी, जो कि एक बड़े विरक्त तथा पहुँचे हुए फ़क़ीर माने जाते हैं, जिहाद (अन्य धर्मावलंबियों के विरुद्ध युद्ध पर कटिबद्ध होकर गुजरात पर की चढ़ाई में आए थे। अनवर खाँ के विषय में लोगों की यह भी धारणा है कि वे पठान सुल्तान के भाई थे। पर यह बात सर्वथा अग्राह्य है, क्योंकि पठान सुल्तान पठान थे और ये सैयद। हमारी समझ में इनको मुल्तान ही का मानना ठीक है जैसा कि टीकाकारों ने उनके पूर्वजों के विषय में कहा है। हाँ, यह बात सम्भव है कि वे या उनके कोई पूर्वज अपनी वीरता के कारण दिल्ली के किसी बादशाह के द्वारा किसी उच्च पद पर स्थापित हुए हों, और उन्होंने राजपूताने अथवा दक्षिण प्रदेश में कोई जागीर भी पाई हो और वहीं रहने लगे हों। अनवर खाँ के विषय में बादशाह के द्वारा किसी उच्च पद पर अथवा प्रांताधीशत्व पर नियुक्त होना ग्रन्थकारों के एक कवित्त से लक्षित भी होता है। उस कवित्त का पहला चरण यह है—

थापे हैं जु दिल्लीपति पुहुमि-पुरंदर के
कामना के दानि परिताप सबको हरैं।

छत्रप्रकाश से विदित होता है कि अनवर खाँ नामक, दिल्ली का कोई सामंत एक बार छत्रसाल बुन्देला से लड़ने के निमित्त भेजा गया था, जिसको छत्रसाल ने भगा दिया था। सम्भव है कि वह अनवर खाँ, अनवरचंद्रिका-वाले ही रहे हों। इस टीका में दोहों के अर्थ करने का यत्न नहीं किया गया है; केवल दोहों के वक्ता बोधव्य, अलंकार, ध्वनि इत्यादि, विषय कहे गए हैं। अतः यह टीका केवल साहित्य भेद जानने वालों के तो बड़े काम की है; पर अर्थ-जिज्ञासुओं के निमित्त सर्वथा व्यर्थ है। इसमें जो ध्वनि-भेद कहा गया है वह बड़े महत्त्व का विषय है, और सिवा इस टीका के और किसी में नहीं छेड़ा गया है। निदर्शनार्थ एक दोहे की टीका नीचे लिखी जाती है—

पार्‌यौ सोरु सुहाग कौ इनु बिनु हीं पिय-नेह।
उनदौंहीं अँखियाँ ककै कै अलसौंहीं देह॥[1]

टीका—जौ याही नायिका की सखी की उक्ति है तौ याही कौं झूठी कहति है ताके आगे कहति है यह कि कोऊ टोकै नहीं। जौ सौति की कै वाकी सखी की उक्ति होइ तौ असर्प ईर्ष्या सञ्चारी। विभावनालंकार प्रथम भेद—

कारन बिनहीं काज कौ उदै होइ जिहिं ठौर।
पहिलौ भेद बिभावना कौ भावत सिर-मौर॥

इसके क्रम के विषय में चौथे क्रम का वर्णन द्रष्टव्य है।

६. राजा गोपालशरण की टीका

शिवसिंहसरोज में विहारी की टीकाओं में राजा गोपालशरण की एक प्रबंधघटना नाम की टीका लिखी है, और राजा गोपालशरण का सम्वत् १७७२ में विद्यमान होना बतलाया है, और यह भी कहा है कि इनके पद बड़े ललित होते थे। उसमें एक पद निदर्शनार्थ दिया भी है। ग्रियर्सन साहब तथा पंडित अंबिकादत्त व्यास ने भी इनकी टीका का नाममात्र गिना दिया गया है। मिश्रबंधु-विनोद में इनका जन्मकाल

१—वि. र. दोहा ६६२ तथा अनवरचंद्रिका में संख्या ३२८।

सम्वत् १७४८ तथा कविता-काल सम्वत् १७७५ बतलाया है और इनके बनाए तीन ग्रन्थ लिखे हैं—(१) प्रबंधघटना, (२) सतसई की टीका, तथा (३) पद। इससे ज्ञात होता है कि प्रबंधघटना उनकी टीका का नाम नहीं था; प्रत्युत कोई अन्य ही पुस्तक उनकी इस नाम की थी। हमारे देखने में यह टीका नहीं आई है, अतः हम इसके तारतम्य तथा क्रम के विषय में कुछ नहीं कह सकते। इसका रचना-काल सम्वत् १७७० तथा १७८० के बीच में मानकर, हम इसको अनवरचंद्रिका के पश्चात् तथा कृष्ण कवि की टीका के पूर्व का स्थान देते हैं।

सातवीं टीका हमारे देखने में कृष्ण कवि की कवित्तबंध टीका आई है।

७. कृष्ण कवि की कवित्तबंध टीका

इसके अंत में जो ३५ दोहे कृष्ण कवि ने लिखे हैं उनसे उनका तथा उनके आश्रयदाता का कुछ वृत्तांत एवं रचना के कारण तथा काल का कुछ पता मिलता है। उनमें से २४ दोहे नीचे लिखे जाते हैं—

रघुबंसी राजा प्रगट पुहुमि धर्मअवतार।
बिक्रमनिधि जयसाहि रिपु-तुंड-बिहंडन-हार॥ ११॥
सुकवि बिहारी-दास सौं तिन कीनौ अति प्यार।
बहुत भाँति सनमान करि दौलत दई अपार॥ १२॥
राजा श्री जयसिंह कैं प्रकस्यो तेज-समाज।
रामसिंह गुन राम सम नृपति गरीब-निवाज॥ १३॥
कृष्णसिंह तिनके भए केहिरि-राज-कुमार।
बिस्नुसिंह तिनके भए सूरज के अवतार॥ १४॥
महाराज बिसुनेस के धरम-धुरंधर धीर।
प्रगट भए जयसाहि नृप सुमति सवाई बीर॥ १५॥
प्रगट सवाई भूप कौ मंत्री-मनि सुखसार।
सागर गुन सत सील कौ नागर परम उदार॥ १६॥

आयामल्ल अखंडतप जग-सोहत-जस, ताहि।
राजा कीनौ करि कृपा महाराज जयसाहि॥ १७॥
मन वच क्रम साँचौ भगत, हरि भक्तनि कौ दास।
वेद-वचन निज धरम कौ जाकैं दृढ़ विस्वास॥ १८॥
छत्री-कुल छिति पै भए बेरी जग विख्यात।
परदुख-बेरी-खंडनों मंडन-गुन-अवदात॥ १९॥
लालदास अतिललित-गुन प्रगट भए तिहिं बंस।
रामचंद्र तिनके भए निज कुल के अवतंस॥ २०॥
महाराज तिनके भए जिनकौ जस अवदात।
रावपँजाव सपूतमनि उपजे तिनके तात॥ २१॥
तिनके प्रगटे तीन सुत विक्रम-बुद्धि-निधान।
रच्छक ब्राह्मन गाय के निपुन दान किरवान॥ २२॥
राजा आयामल्ल जग-विदित राय सिवदास।
लसत नरायनदास जस-पूरन पुहिमि-प्रकास॥ २३॥
लीला जुगुलकिसोर की रस कौ होइ निकेतु।
राजा आयामल्ल कौं ता कविता सौं हेतु॥ २४॥
माथुर विप्र ककोर-कुल लह्यौ कृष्न कवि नावँ।
सेवक हौं सब कविनि कौ बसत मधुपुरी गावँ॥ २५॥
आयामल कवि कृष्न पर ढरचौ कृपा कैं ढार।
भाँति भाँति विपदा हरी दीनी लच्छि अपार॥ २६॥
एक दिना कवि सौं नृपति कही कहीं कौं जात।
दोहा-दोहा-प्रति करौ कवित बुद्धि-अवदात॥ २७॥
पहिलैं हूँ मेरे यहै हिय मैं हुतौ विचार।
करौं नायिका भेद कौ ग्रंथ सुबुधि-अनुसार॥ २८॥
जे कीने पूरब कविनु सरस ग्रंथ सुखदाइ।
तिनहिं छाँड़ि मेरे कवित को पढ़िहै मन लाइ॥ २९॥

जानि यहै अपने हियैं कियौ न ग्रंथ-प्रकास।
नृप कौ आयसु पाइ कै हिय मैं भयौ हुलास ॥ ३० ॥
करे सात सौ दोहरा सुकवि विहारीदास।
सब कोऊ तिनकौं पढ़ै गुनै सुनै सविलास ॥ ३१ ॥
बड़ौ भरोसौ जानि मैं गह्यौ आसरौ आइ।
यातैं इन दोहानि सँग दीने कवित लगाइ ॥ ३२ ॥
उक्ति जुक्ति दोहानि की अच्छर जोरि नवीन।
करे सात सै कवित मैं पढ़ैं सुकवि परवीन ॥ ३३ ॥
मैं अति हीं ढीठ्यौ करयौ कवि-कुल सरस सुभाइ।
भूल चूक कछु होइ सो लीजौ समुझि वनाइ ॥ ३४ ॥
सत्रह से द्वै आगरे असी वरस रविवार।
अगहन सुदि पाँचैं भए कवित बुद्धि-अनुसार ॥ ३५ ॥

इन दोहों से विदित होता है कि "बिहारीदास" उन राजा जयसिंह के पास थे जिनके बेटे रामसिंह और पौत्र कृष्णसिंह थे, और कृष्ण कवि उन जयसिंह के दीवान, राजा आयामल, के यहाँ थे, जो सवाई कहलाते थे। कृष्ण कवि ककोर वंशी माथुर ब्राह्मण मथुरा के रहनेवाले थे। उन्होंने यह ग्रंथ संवत् १७८२ के अगहन मास की शुक्ल पंचमी, रविवार को समाप्त किया था। इन बातों के अतिरिक्त इन दोहों से और कुछ नहीं ज्ञात होता।

शिवसिंह जी ने इनको जयपुरवाले लिखा है, और कहा है कि ये "विहारीलाल कवि के शिष्य औ महाराजे जयसिंह सवाई के यहाँ नौकर थे, बिहारी सतसई का तिलक कवित्तों में विस्तारपूर्वक वार्तिक सहित बनाया है"। जयसिंह की प्रशंसा का यह कवित्त भी उनका बनाया हुआ शिवसिंह-सरोज में दिया है—

कूरम-कलस महाराज जयसिंह फैल्यौ,
रावरौ सुजस सुरलोक मैं अपार है।

कृष्ण कवि ताके कन सुंदर जलज जानि,
सुरनि की सुंदरीनि लीन्यौ भरि थार है ॥
तिनही कैं संग कौ सरस तेरौ गुन लैकै,
हार पोहिबै कौं उन करतीं विचार है।
मोती जो निहारैं कहूँ रंध्र कौ न लवलेस,
गुन कौ निहारैं कहूँ पावत न पार है ॥

इस कवित्त को देखने से कृष्ण कवि बहुत ही उच्च श्रेणी के कवि जान पड़ते हैं। खेद का विषय है कि उनके और कोई ग्रंथ अथवा फुटकर काव्य प्राप्त नहीं होते।

ग्रियर्सन साहब ने इनके विषय में कुछ विशेष नहीं लिखा है। साहित्याचार्य पंडित अंबिकादत्त व्यास ने इस विषय में बड़ा धोखा खाया है। वे बिहारी-बिहार की भूमिका में यह लिखते हैं—

यद्यपि बिहारी कवि का महाराज जयसिंह की सभा का कवि होना ही प्रसिद्ध है तथापि कृष्ण कवि ने जैसाह और उनके मंत्री आयामल्ल के विषय में यों लिखा है कि "महाराज जयसिंह के रामसिंह, उनके कृष्णसिंह, उनके विष्णुसिंह और उनके जयसाहि हुए। यों ही क्षत्रिय कुल लालदास रामचंद्र, उनके महाराज, उनके राय पंजाब और उनके राजा आयामल्ल हुए। राजा आयामल्ल पूर्वोक्त सवाई जयसाह महाराज के मंत्री थे। सवाई जयसाह के परम कृपापात्र बिहारी कवि ने सतसई बनाई और राजा आयामल्ल मंत्री की आज्ञा से कृष्ण कवि ने उन्हीं दोहों पर कवित्त तथा सवैए बनाए।"

प्रतीत होता है कि व्यास जी ने मिर्ज़ा राजा जयसिंह का नाम 'जयसिंह' तथा सवाई जयसिंह का नाम 'जयसाह' समझा था और इसी से यह गड़बड़ उनकी समझ में पड़ी और भ्रम हुआ। वास्तव में बात यह ज्ञात होती है कि दोनों ही जयसिंह 'जयसाहि' भी कहलाते थे। इनमें से प्रथम जयसिंह ने संवत् १६७८ से १७२४ तक राज्य किया, और वे 'मिर्ज़ा राजा' भी कहलाते थे। दूसरे जयसिंह सवाई कहलाते थे। उन्होंने संवत् १७५६

से १८०० तक राज्य किया। बिहारी वास्तव में मिर्ज़ा राजा जयशाही के कृपापात्र थे। उनकी सतसई संवत् १७०४-५ में समाप्त हो गई थी और संवत् १७१९ तथा १७३०-३४ में उनकी सतसई पर टीकाएँ भी लिखी जा चुकी थीं। संवत् १७१९ वाली टीका संभवतः वही टीका है जिसको लल्लूलाल जी ने कृष्णलाल की टीका कहा है और जिसका विशेष वर्णन हमने पहली टीका कहकर किया है। इनके अतिरिक्त बिहारी सतसई का कोविद कवि वाला क्रम तो अवश्य ही[१] संवत् १७४२ में लग चुका था, और उस क्रम में जयसिंह की प्रशंसा के दोहे जो सतसई में हैं, वे सबके सब विद्यमान हैं। उस समय तो सवाई जयसिंह का पता भी नहीं था, अतः उनमें से कोई दोहा भी उनकी प्रशंसा का नहीं माना जा सकता। कृष्ण कवि ने जो *अपने कवित्तों में जयसिंह सवाई का नाम ठूँस दिया है, उसका कारण यह* है कि वे जयसिंह सवाई ही के समय में थे, और, बिहारी के प्रशंस्य मिर्जा राजा के भी जयसिंह अथवा जयशाही नाम होने का लाभ उठाकर, उन्होंने बिहारी के दोहों का अर्थ अपने प्रशस्य जयसिंह सवाई पर लगा लिया।

कृष्ण कवि वास्तव में बहुत अच्छे कवि थे। उन्होंने बिहारी के दोहों के भावार्थ समझने में बड़ा प्रयत्न किया और उन पर बहुत अच्छे कवित्त लगाए। दोहों के वक्ता-बोधव्य तथा नायिकाभेद बतलाने के पश्चात्, घनाक्षरी अथवा सवैया में दोहों के अर्थों को खोलने की चेष्टा उन्होंने बड़े अच्छे ढंग से की है, और प्रति दोहे के पूर्व पिंगलानुसार उसकी जाति का नाम तथा लघु गुरु वर्णों की संख्याएँ भी दे दी हैं, जिनसे दोहों की पाठ-शुद्धि में सहायता मिलती है। पर उन्होंने दोहों के अलंकार इत्यादि नहीं लिखे हैं। निदर्शनार्थ एक दोहे की टीका नीचे लिखी जाती है—

(नर। अक्षर ३३। गुरु १५, लघु १८।)
पार्‍यौ सोरु सुहाग कौ इनु बिनु हीं पिय-नेह।
उनदौंही अँखियाँ ककै कै अलसौंहीं देह॥[१]

---

१ इस टीका में सं० ३८४ तथा बि० र० में ६६२।

टीका—यह नायिका सौति कौं आलसबलित देखि अरु रसमसी आँखि देखि सखी सौं काकु ध्वनि करि कहति है। अन्य-संभोग-दुखिता होइ। जो सखी नायिका सौं कहै तो याकी रिस कौ निवारन होइ।

सवैया

सैं करि आँखि उनींदी करी अथऊनत सौं मुख बोल उचार्‍यौ।
बारहीं बार जम्हाइ कै यौं ही खरौ तन आरस कैं ढर ढार्‍यौ॥
झूठी जतावति है सुखसेन जगी यह जामिनी जामनि चार्‍यौ।
देखि तौ प्रीतम की बिन प्रीति सुहाग कौ सोर कितौ इहिं पार्‍यौ॥२८४॥

किसी किसी दोहे पर अपने कवित्त न बनाकर, दोहों के भावों से मिलते हुए अन्य कवियों के कवित्तों से भी कृष्ण कवि ने काम ले लिया है।

इस टीका के दोहों के पूर्वापर क्रम तथा संख्या इत्यादि के विषय में छठे क्रम का विवरण द्रष्टव्य है।

आठवीं टीका कर्ण कवि पन्नावाले की रची हुई, साहित्यचंद्रिका नाम की है। शिवसिंह जी ने इनको ब्राह्मण लिखा है, और राजा सभासिंह जी

८. साहित्यचंद्रिका टीका

हृदयशाही पन्नानरेश के आज्ञानुसार साहित्य-चंद्रिका का संवत् १७९४ में रचा जाना बतलाया है। उन्होंने इनके छंद जो उद्धृत किए हैं, उनसे भी उनका कथन प्रमाणित होता है। वे छंद ये हैं—

बिघनहरन पातकदरन अरि-दल-दलन अखंड।
सुरसिच्छक रच्छाकरन गनपति-सुंडादंड॥ १॥
गौरी हियौ सिरावनौ बुद्धि-उदार उदंड।
जगत-विदित छबि-छावनौ गनपति-सुंडादंड॥ २॥
वेद खंड गिरि चंद्र गनि भाद्र पंचमी कृष्न।
गुरु बासर टीका करन पूर्‍यौ ग्रंथ कृतघ्न॥ ३॥

साहित्य-चंद्रिका से संबंध रखनेवाले इन कर्ण कवि के ये तीन कवित्त भी शिवसिंह-सरोज में दिए हैं—

सीतल सुखद सुभ सोभा के सुभाय मढ़ी,
कढ़ी बाल पाय घनी दीपति अमाप तैं।
छाई हिमि गिरि पै जुन्हाई सी जगमगाति,
करन अनूप रूप जागि उठ्यौ आप तैं॥
ऊजरी उदार सुधाधार सी धरनि पर,
पघिलि प्रबाह चल्यौ तरनि के ताप तैं।
बरफ न होइ चारौं तरफ़ निहारि देखौ,
गिरयौ गरि चंद अरविन्दनि के साप तैं॥ १॥

बड़े बड़े मोतिन की लसति नथूनी नाक,
बड़े बड़े नैन पगे प्रेम के नसन सौं।
रूप ऐसी बेलिनि में सुंदर नबेली बाल,
सखिनि समूह-मध्य सोहति जसन सौं॥
काँकरी चलाई तहाँ दुरि कै करन कान्ह,
मुरकि तिरीछी चितै ओट दै बसन सौं।
नैक अनखानी सतरानी मुसक्यानी भौंह,
बदन कँपायौ दाबि रसना दसन सौं॥ २॥

चंदन मैं बंदन मैं है न अरबिंदन मैं,
कुरुविंद मैं न भानु-सारथी-चरन मैं।
मोहर मनोहर मैं कौंहर मैं है न ऐसी,
गुंजनि की पीठि मैं मजीठ-अवरन मैं॥
जैसी छबि प्यारी की निहारी मैं तिहारी सौंह,
लाली यह करन चरन अधरन मैं।
है न गुलनार मैं गुलाब गुड़हुर हू मैं,
इंद्रवधू मैं न बिंब नारंगी-फरन मैं॥ ३॥

इन कवित्तों में से एक के विषय में यह आख्यायिका भी लिखी है—

"पहिले यह कवी काव्य पढ़िके एक दिन सभा में राजा सभासिंह पन्नानरेश की गए। राजा ने यह समस्या दी "वदन कँपायो दाबि रसना दसन सों"। इसी के ऊपर कर्णजी ने "बड़े बड़े मोतिनि की लसति नथूनी नाक" यह कवित्त पढ़ा। राजा ने बहुत प्रसन्न होकर बहुत दान सन्मान किया।"

यह महाशय अपनी रचना से एक उच्च श्रेणी के कवि प्रतीत होते हैं, यद्यपि कृष्ण कवि की प्रतिभा तक नहीं पहुँच सकते। ग्रियर्सन साहब ने इनको कर्णभट्ट लिखा है, और इन्हीं की देखा देखी पंडित अंबिकादत्त व्यास जी ने भी। पर शिवसिंहसरोज में कर्णभट्ट नाम के एक दूसरे ही कवि बतलाए गए हैं, जो कि संवत् १८५७ में पन्ना के राजा हिंदूपति जी के दरबार में उपस्थित थे। मिश्रबंधुविनोद के लेख से इन दोनों कर्णों का एक ही होना प्रतीत होता है।

टीका के नाम से प्रतीत होता है कि इसमें साहित्य-विषयों का विशेष कथन होगा। निश्चय रूप से इसके संबंध में कुछ नहीं कहा जा सकता। हमको एक टीका वृन्दावन में प्राप्त हुई है। वह प्रति संवत् १८८१ की लिखी हुई है। पर खेद का विषय है कि उसके आरंभ के ४७ पत्रे नहीं हैं, जिसके कारण उसके रचयिता तथा रचना-समय का कुछ पता नहीं चलता। उसमें दोहों के अर्थ कहने का प्रयत्न यथाशक्ति किया गया है, और अलंकार भी कहे गए हैं। कहीं कहीं उसमें व्यंग्यार्थ इत्यादि भी कुछ बतलाए हैं। हमारी धारणा होती है कि आश्चर्य नहीं जो यह टीका साहित्यचंद्रिका ही हो। यह टीका अनवरचंद्रिका के जोड़ पर बनाई प्रतीत होती है, और अनवरचंद्रिका ही का क्रम भी इसमें ग्रहण किया गया है, यहाँ तक कि जो दोहे अनवरचंद्रिका में बिहारी-रत्नाकर से अधिक हैं उनमें से, २ दोहों को छोड़कर, जो स्वयं अनवरचंद्रिकाकारों में से किसी के ज्ञात होते हैं, शेष वे ही दोहे इसमें भी अधिक हैं, एवं जो दोहे इसमें दोहराए हुए हैं वे भी वे ही हैं जो अनवरचंद्रिका की भी कई एक प्रतियों में दुहराए हुए

मिलते हैं। इसके अतिरिक्त प्रकरणों का पूर्वापर भी—एक आध प्रकरणों को छोड़कर वही है जो अनवरचंद्रिका का है। अनवरचंद्रिका में दोहों के अलंकार, ध्वनि-भेद तथा वक्ता-बोधव्य तो बतलाए गए हैं पर अर्थ करने का, जो कि सबसे आवश्यक बात है, प्रयत्न तक नहीं किया गया है। ज्ञात होता है कि इसी त्रुटि की पूर्ति के निमित्त इस टीका की रचना हुई है। पर ध्वनि का झगड़ा, जो कि, अनवरचंद्रिका का मुख्य विषय है, इस टीकाकार ने नहीं छेड़ा है। अपने ढंग की यह प्रथम टीका है, क्योंकि इसमें दोहों के अलंकार तथा अर्थ दोनों ही दिए हैं, जो बात कि इसके पूर्व की किसी टीका में नहीं है। निदर्शनार्थ एक दोहे की टीका नीचे लिखी जाती है—

पार्‍यौ सोरु सुहाग कौ इनु बिनु हीं पिय-नेह।
उनदौंहीं अँखियाँ ककै कै अलसौंहीं देह ॥[1]

टीका—सखी कौ बचन सखी सौं। इस नाइका ने आँखैं उनींदी करिकै औरु आलस भरी देह करिकै बिना नायक की प्रीति सुहाग कौ सोरु पार्‍यौ है। इस कहनावति सों सुरतांत की व्यंगि करि लच्छिता होति है अथवा प्रेमगर्विता होति है ॥ विभावनालंकार ॥ २३९ ॥

इसके अंतिम दोहे पर ७१३ अंक है। इन ७१२ दोहों में से ७ दोहे तो दोहरा के आए हैं, और १९ दोहे ऐसे हैं, जो बिहारी-रत्नाकर में नहीं हैं जिनका विशेष वर्णन अनवरचंद्रिका के क्रम के वर्णन में द्रष्टव्य है। शेष ६८७ दोहे रह जाते हैं। हमारी पुस्तक में आदि के ४७ पृष्ठ नहीं हैं, अतः इस बात का पूरा ब्यौरा नहीं बतलाया जा सकता कि इसमें बिहारी-रत्नाकर के कौन कौन दोहे नहीं हैं। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता कि इसमें २६ दोहे बिहारी-रत्नाकर के नहीं हैं।

सतसई की नवीं टीका अमरचंद्रिका नाम की है। इसको प्रसिद्ध कवि

१—इस टीका में सं. २३६ बि. र. ६६२।

सूरति मिश्र ने, संवत् १७९४ की विजयादशमी गुरुवार को, जोधपुर के महा-राज अभयसिंह के सचिव भंडारी नाहूला अमरचंद जी के अनुरोध से, बनाया था। इसके आदि में सूरति मिश्र ने एक दोहे में श्रीरामचंद्र जी का

६. अमरचंद्रिका टीका

मंगलाचरण करके इस ग्रंथ की रचना के कारण तथा काल इत्यादि का वर्णन इस प्रकार किया है—

जोधपुरराज-महाराज श्री [1]उभयसिंह,
नवकोटिनाथ गाथ प्रसिध बखानियै।
तिनके सचिव रायरायाँ श्रीउभयसिंह,
कोविद-सिरोमनि जगत जस जानियैं।
तिन मिश्र सूरति सुकवि सौं कृपासनेह,
करि कै कही यौं एक बात उर आनियैं।
कठिन बिहारी-सतसैया तापै टीका कीजै,
जी कौं सुखदायी नीकौ अर्थ जातें जानियैं॥ २॥'

और कही महाराज कैं इहिं ग्रंथ सौं अति हेत।
तिनकैं हित कै रुचि रचौं रचना अर्थ निकेत॥ ३॥

१—इस कवित्त में महाराज जोधपुर तथा उनके दीवान दोनों के नाम उभयसिंह लिखे हैं। पर पंडित अंबिकादत्त जी ने बिहारी-बिहार की भूमिका में इतिहास राजस्थान का प्रमाण देकर लिखा है कि जोधपुर के महाराज अभयसिंह ने संवत् १७८० से १८०६ तक राज्य किया था। अतः हम इस कवित्त के प्रथम उभयसिंह को अभयसिंह पढ़ना उचित समझते हैं, और द्वितीय उभयसिंह को लेखक की अशुद्धि मान कर अमरचंद समझते हैं, क्योंकि व्यास जी ने उक्त महाराज के दीवान का नाम नाहूला भंडारी अमरेश (अमरचंद) बतलाया है, जो कि ग्रंथ के नाम 'अमरचंद्रिका' तथा सूरति मिश्र के दोहों से भी प्रमाणित होता है।

यों सुनि श्री अमरेस तैं वचन-रचन अभिराम।
रच्यौ ग्रंथ, इहिं तैं धर्‌यौ अमर-चंद्रिका नाम ॥ ४ ॥
भंडारी परसिद्ध जग नाडौला गुन-धाम।
प्रगटे तिहिं कुल दीप ज्यौं दीपचंद यह नाम ॥ ५ ॥
जिनके सुत सब गुन-सरस रायसिंह बिख्यात।
प्रगटे तिनके घेउसी महा सुजस-अवदात ॥ ६ ॥
जिनकौ अतुल प्रताप गुन गावत देस बिदेस।
तिनके परम प्रवीन अति प्रगटे श्री अमरेस ॥ ७ ॥
तिन कबि सूरति मिश्र सौं कीनौ परम सनेहु।
सबै भाँति सनमान कै कह्यौ ग्रंथ रचि देहु ॥ ८ ॥
अरु कुल-कबि पदवी दई कह्यौ वचन परसंस।
सदा तुम्हारे बंस कौं मानै हमरौ बंस ॥ ९ ॥
पंडित कबि चातुर सुहृद अलंकार जिन चित्त।
ते या श्रम लखि रीझिहैं इक दोषी बिन मित्त ॥१०॥
सत्रह सै चौरानवे आस्विनि सुदि गुरुवार।
अमर-चंद्रिका ग्रंथ कौ विजय-दसमि अवतार ॥११॥

सूरति मिश्र जी के बनाए हुए कई एक ग्रंथ हैं। पंडित अंबिकादत्तजी व्यास ने बिहारी-बिहार की भूमिका में इनके छः ग्रंथों का उल्लेख किया है—(१) सरस-रस, (२) नखसिख, (३) अलंकारमाला, (४) बेतालपचीसी, (५) अमरचंद्रिका, तथा (६) कविप्रिया की टीका। उक्त व्यासजी ने सरस-रस के १२ दोहे भी उद्धृत किए हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि सूरतिराम मिश्र कान्यकुब्ज ब्राह्मण आगरे के रहनेवाले थे। उन्होंने उक्त सरस-रस ग्रंथ एक कवि-समाज के अनुरोध से, जो कि आगरे में हुआ था, संवत् १७९४ की वैशाख शुक्ल षष्ठी सोमवार को समाप्त किया था। उनके और ग्रंथों के विषय में व्यासजी ने कुछ नहीं लिखा है। शिवसिंह-सरोज में उनका रसिकप्रिया पर तिलक करना भी बतलाया है, और अलंकारमाला के तीन दोहे दिए हैं—

तड़ि-घन-वपु, घन-तड़ि-वसन, भाल लाल पख-मोर।
ब्रज-जीवनि मूरति सुभग जय जय जुगल किसोर ॥ १ ॥
सूरति मिश्र कनौजिया नगर आगरे वास।
रच्यौ ग्रंथ नवभूषननि-वलित विवेक-विलास ॥ २ ॥
संवत् सतरह से वरप छासठि सावन मास।
सुरगुरु सुदि एकादसी कीन्हौ ग्रंथ प्रकास ॥ ३ ॥

इनसे ज्ञात होता है कि अलंकार-माला संवत् १७६६ में बनी थी। अतः यदि उस समय सूरति मिश्र की अवस्था २५ वर्ष की रही हो तो सरस-रस तथा अमरचंद्रिका की रचना के समय उनकी अवस्था ५३ वर्ष की रही होगी। अमरचंद्रिका तथा रसिकप्रिया की टीका के अतिरिक्त इनका और कोई ग्रंथ हमने नहीं देखा है। पर सहजरामकृत कविप्रिया की टीका में इनकी कविप्रिया की टीका का उल्लेख, जिसका विवरण अंबिकादत्त जी व्यास ने किया है, हमने भी देखा है। मिश्र-बंधु-विनोद में इनके रचे हुए काव्य-सिद्धांत, रसरत्नाकर और रसग्राहक-चंद्रिका नामक तीन ग्रंथ और भी बतलाए गए हैं। इनमें से रसग्राहक-चंद्रिका तो हमको स्मरण होता है कि इनकी रसिकप्रिया की टीका ही का नाम है। वह टीका हमारे पास इस समय नहीं है।

इनके बनाए हुए दोहे जो अमरचंद्रिका तथा सरस-रस में दृष्टिगोचर होते हैं, अथवा जो इनके कवित्त निदर्शनार्थ शिवसिंह-सरोज तथा मिश्र-बंधु-विनोद में दिए हैं, उनसे ये महाशय बहुत ही सामान्य श्रेणी के कवि प्रतीत होते हैं। इनकी पद्य-रचना शिथिल तथा नीरस सी लगती है। टीका में अलंकारों इत्यादि के वर्णन से इनका पंडित होना अवश्य ज्ञात होता है, पर वह भी किसी विशेष मर्मज्ञता की श्रेणी तक नहीं।

इस टीका में दोहों के अर्थ खोलने की चेष्टा दोहों ही में की गई है, जिससे टीकाकार के अभिप्राय के समझने में उलझन पड़ती है। इसके अतिरिक्त कहीं कहीं तो व्यर्थ शंका-समाधान का वितंडावाद बढ़ाकर स्पष्टता में

और भी अड़चन डाल दी गई है, और कहीं कहीं अलंकारों के अतिरिक्त कुछ कहा ही नहीं है। अलंकार-निरूपण में अनवर-चंद्रिका से और इससे प्रायः भेद दिखाई देता है। निदर्शनार्थ एक दोहे की टीका नीचे लिखी जाती है—

पारयौ सोरु सुहाग कौ इनु बिनु हीं पिय-नेह।
उनदौंहीं अँखियाँ ककै कै अलसौंहीं देह॥

टीका

प्रश्न—बिनु प्रिय-नेह सुहाग कौ सोरु न केहूँ होइ।
उत्तर—निज सखि-बच दीठि न लगै हित पै कहत सु जोइ॥
पर्य्यायोक्ति। लच्छन।
छल करि साधिय इष्ट जहँ पर्य्यायोक्ति सु नाम।
कोउ न टोकै इष्ट यह छल-बच कहि क्रिय काम॥

यह टीका पुरुषोत्तमदास जी के बाँधे हुए क्रम पर की गई है। पुरुषोत्तमदास जी के क्रम की जो प्रति हमने प्रामाणिक मानी है उसमें ७०० दोहे हैं। पर अमरचंद्रिका में ७२० दोहे रखे गए हैं। इनमें एक दोहा "यद्यपि है सोभा इत्यादि" तो पुरुषोत्तमदास जी का रचित है, जिसको सूरति मिश्र ने बिहारी का समझकर अपनी टीका में रख दिया है। शेष ७१९ दोहों में २२ दोहे ऐसे हैं जो पुरुषोत्तमदास जी के क्रम में नहीं आए हैं। इन २२ दोहों में ५ तो वे हैं जो बिहारी-रत्नाकर के द्वितीय उपस्करण के ७४,८२,११९,१२५ तथा १२७ अंकों पर दिए हुए हैं, और १७ दोहे वे हैं जो बिहारी-रत्नाकर के ८०, ९८, १३९, १८२, ३८४, ४१८, ५०३, ६१४, ६१९, ६७८, ६९२, ७०५, ७०७, ७०९, ७१०, ७११ तथा ७१२ अंकों पर आए हैं। इन २१ दोहों के निकाल डालने पर ६९८ दोहे रह जाते हैं। पुरुषोत्तमदास जी के क्रम के २ दोहे अमर-चंद्रिका में नहीं हैं, जो बिहारी-रत्नाकर के दूसरे उपस्करण के ७९ तथा ९४ अंकों पर द्रष्टव्य हैं।

श्री काशीराज महाराज बरिवंडसिंह की सभा के प्रसिद्ध कवि रघुनाथ बंदीजन के विषय में भी किंवदंती है कि उन्होंने विहारी-सतसई पर एक टीका बनाई थी, पर इस टीका का दर्शन हमको प्राप्त नहीं हुआ है, यद्यपि हमने वर्त्तमान काशी-नरेश के सरस्वती-भवन में भी, अनुसंधान कराया। शिवसिंह-सरोज, विहारी-विहार, तथा मिश्र-बंधुविनोद को छोड़कर और किसी ग्रंथ में इनकी सतसई-टीका का नाम हमारे देखने में नहीं आया है, और न हमने उसके विषय में कुछ किसी से सुना ही है।

१०. रघुनाथ बंदीजन की टीका

रघुनाथ कवि बड़े उच्च श्रेणी के प्रतिभाशाली कवि थे, यद्यपि उनकी भाषा में बहुधा शिथिलता तथा छंदों में अरोचकता आ जाती थी। ये महान् कवि संवत् १८०२ में उपस्थित थे और इनके वंशज अभी तक काशी के समीप चोर-गाँव में विद्यमान हैं। इन्होंने भाषा के अनेक ग्रंथ बनाए हैं जिनमें ये ग्रंथ मुख्य हैं—(१) काव्य-कलाधर, (२) रसिकमोहन, (३) जगतमोहन और (४) इश्क महोत्सव। इन ग्रंथों को देखने से इनको भाषा काव्य-रीति का आचार्य्य कहना अत्युक्त नहीं प्रतीत होता। इस टीका का रचना-काल विक्रम की १८ वीं शताब्दी के भीतर ही मानकर इसको यह स्थान दिया गया है।

इस प्रकार हमारी जानी हुई टीकाओं में १० टीकाएँ विक्रम की १८ वीं शताब्दी की हैं। अब हम १९ वीं शताब्दी की टीकाओं का विवरण आरंभ करते हैं।

सतसई पर ग्यारहवीं टीका रसचंद्रिका नाम की है। यह नरवरगढ़ के राजा छत्रसिंह के अनुरोध से ईसवी खाँ नामक किसी व्यक्ति ने संवत् १८०९ में बनाई थी। इसके अंत में ये दोहे पाए जाते हैं—

११. रसचंद्रिका टीका

किय प्रसंग नरवर-नृपति छत्रसिंह भुव-भानु।
पढ़त विहारी-सतसया सब जग करत प्रमानु॥ १॥

कबिनि किए टीका प्रगट अर्थ न काहू कीन।
अपनी कविता के लियै और कठिन करि दीन ॥ २ ॥
कछू रहै संदेह नहिं ऐसी टीका होइ।
बाँचि वचन कौ पद अरथ समुझि लेइ सब कोइ ॥ ३ ॥
तब सब के हित कौं सुगम भाषा बचन-विलास।
उदित ईसवी खाँ कियौ रसचंद्रिका-प्रकास ॥ ४ ॥
नंद गगन बसु भूमि गनि कीने बरष-विचार।
रसचंद्रिका प्रकास किय मधु-पून्यौ गुरुवार ॥ ५ ॥

हमारे पास जो प्रति है वह मिश्रबंधु महाशयों की प्रति से लिखी गई है, जिसमें प्रत्येक दोहे पर अमरचंद्रिका तथा इस ग्रंथ की टीकाएँ आगे पीछे लिखी हैं। उस प्रति में क्रम अमरचंद्रिका ही का है, अतः हमारी प्रति में भी वही क्रम है। इस ग्रंथ की रचना आदि के विषय में हमारी प्रति में कुछ नहीं लिखा है। स्वर्गीय पंडित अंबिकादत्त जी व्यास को इसकी एक स्वतंत्र प्रति प्राप्त हुई थी, जिसके अंत में इसके निर्माण के विषय में ऊपर लिखे हुए ५ दोहे थे। उस प्रति के विषय में व्यास जी ने लिखा है कि इसमें दोहे अकारादि क्रम से हैं, और पहला दोहा "अपने अपने मत लगे इत्यादि" तथा अंतिम दोहा "हाहा बदनु उघारि इत्यादि" है। पर हमारी समझ में इस टीका का मूल क्रम अमरचंद्रिका ही का क्रम मानना विशेष संगत है, क्योंकि इस टीका के अंत के दोहों से विदित होता है कि अन्य टीकाओं में अर्थ की अस्पष्टता देखकर यह टीका उसके स्पष्ट करने के निमित्त ही बनाई गई थी। ऐसी दशा में यह परम संभावित है कि ईसवी खाँ ने अमरचंद्रिका को लेकर उसके प्रति दोहे की टीका के पश्चात् अपनी टीका, अर्थ स्पष्ट करने के निमित्त, लिखी हो। अमरचंद्रिका में जो अलंकार लिखे हैं, उनसे इस टीका में लिखे हुए अलंकारों से कहीं कहीं कुछ भेद पड़ता है। ये भेद अर्थ-भेद पर निर्भर हैं। क्रम के विषय में जो हमारा अनुमान है वह इस बात से भी पुष्ट होता है कि "चितई ललचौंहैं इत्यादि" दोहे को छोड़कर शेष ७१७

दोहे, जो अमरचंद्रिका में ग्रहण किए गए हैं वे ही ज्यों के त्यों इस टीका में भी हैं। अमरचंद्रिका के अंत के दो दोहे, जिनमें से एक अर्थात् "यद्यपि है सोभा इत्यादि", जो पुरुषोत्तमदास जी का है, और दूसरा अर्थात् "जो संपति बहुतै बढ़े इत्यादि" जो किसी अन्य व्यक्ति का है, इसमें ग्रहण नहीं किए गए हैं।

एक बात का यहाँ लिख देना आवश्यक है कि व्यासजी ने जो रस-चंद्रिका के अंत के दोहे उद्धृत किए हैं, उन में से अंतिम दोहे के उत्तरार्ध का पाठ यों लिखा है—

"रसचंद्रिका प्रकास किय—पूज्यो गुरुवार" इसमें मास तथा तिथि के नाम नहीं मिलते। अतः हमने पूज्यो को पून्यो पढ़कर और छोड़े हुए स्थान पर मधु शब्द मानकर उसका पाठ यह रखा है—

"रसचंद्रिका प्रकास किय मधु पून्यो गुरुवार"। गणना करने पर संवत् १८०९ के चैत्र मास की पूर्णिमा गुरुवार को पड़ती भी है।

शिवसिंह-सरोज में इस टीका तथा टीकाकार का नाम नहीं मिलता, पर एक व्यक्ति 'ईसुफ़ खाँ' नामक कवि को बिहारी-सतसई तथा रसिकप्रिया का टीकाकार लिखा है, और संवत् १७९१ में उसकी उपस्थिति बतलाई है। मिश्र-बंधु-विनोद में भी, ज्ञात होता है कि वही लेख देखकर, वही बात लिख दी गई है, केवल इतना भेद है कि उसमें संवत् १७९१ को यूसुफ़ खाँ का जन्म-काल माना है, और उनका कविताकाल संवत् १८२० बतलाया है। ये बातें उनको कहाँ से मिलीं, इसका पता हमको नहीं है।

हमारा अनुमान होता है कि शिवसिंह-सरोज में इसी टीकाकार ईसवी खाँ को भ्रमवश "ईसुफ़ खाँ" लिख दिया गया है। पंडित अंबिकादत्त व्यास ने इस टीका का विवरण भी अपनी भूमिका में लिखा है और "यूसुफ़ खाँ" की टीका का भी नाम गिनाया है। ज्ञात होता है कि ईसवी खाँ की टीका तो स्वयं उनको प्राप्त हुई थी, और यूसुफ खाँ की टीका का नाम उन्होंने

शिवसिंह-सरोज में देखकर लिख दिया है। मिश्रबंधु महाशयों के विषय में भी यही बात अनुमानित होती है।

व्यासजी ने ईसवी खाँ के नाम में नव्वाब विशेषण भी लगा दिया है। इस विशेषण के लिये उनको क्या प्रमाण मिला था यह विदित नहीं है। शिवसिंह जी ने ईसुफ़ खाँ को नव्वाब नहीं लिखा है। यदि वास्तव में ईसवी खाँ नव्वाब कहलाते थे तो उनके विषय में यह अनुमान हो सकता है, कि या तो वे नरवरगढ़ के अधीन कोई ज़िमींदार थे अथवा कोई सरदार। यह भी संभव है कि वे नरवरगढ़ के आस पास के किसी स्थान के स्वतंत्र अधिपति तथा नरवरगढ़ के राजा के मित्र रहे हों।

इस टीका का रचयिता भाषा का मर्मज्ञ तथा बड़ा प्रेमी प्रतीत होता है, और यदि 'ईसुफ़ खाँ' तथा 'ईसवी खाँ' दोनों के एक ही होने के विषय में हमारा अनुमान ठीक हो तो उसका रसिकप्रिया की टीका करना भी सिद्ध होता है। इस टीका में दोहों के अर्थ समझने समझाने का बहुत ही अच्छा-प्रयत्न किया गया है। जितनी टीकाएँ ऊपर लिखी गई हैं, उन सभों में इसकी भाषा तथा ढंग प्रशंसनीय हैं। इसमें यथामति नायिका, वक्ता तथा बोधव्य बतलाने के पश्चात् दोहों के अर्थ बड़े अच्छे ढंग से, सरल भाषा में, स्पष्ट किए गए हैं, और फिर अलंकार भी कहे गए हैं, निदर्शनार्थ एक दोहे की टीका नीचे लिखी जाती है—

पारयौ सोरु सुहाग कौ इनु बिनु हीं पिय-नेह।
उनदौंहीं अँखियाँ ककै कै अलसौंहीं देह[1]॥

टीका—नायिका है तौ पिय की सुहागिनि पै इसकी जो सखी है सो इसके सुहाग को नज़र लगने के वास्ते छिपावै है। और कै यौं अर्थ कीजिये कि नायिका को सौति के सुहाग का धोखा हुआ है सो सखी नायिका को समझावै है कि तेरी सौति ने उनींदी आँखैं करि कै और अलसौंहीं देह करि कै सुहाग कौ सोरु डारयौ है पै सुहागिनि तू ही है।

---

१ इस टीका में सं० ६१४ वि० र० ६६२।

अलंकार पर्य्यायोक्ति, तिसका लक्षण। मिस कै कारज साधियै ॥ सो यहाँ उनीदी आँखिनु अलसौंहीं देह मिस पिय के सुहाग कौ सोर पार्यौ। सो इहाँ नजर न लगै। यह इष्टसाधन सखी करै है। यह हेत मिस। नेह तोही सों है इस ही में पर्य्यायोक्ति है।

बारहवीं टीका हरिप्रकाश नाम की है। इसको हरिचरणदास उपनाम हरि कवि ने संवत् १८३४ में बनाया था। अपनी इस टीका के अंत में जो दोहे अपने परिचयार्थ उन्होंने लिखे हैं वे ये हैं—

१२ हरिप्रकाश टीका

सालग्रामी सरजु जहँ मिलीं गंग सौं आइ।
अंतराल मैं देस सो हरि कवि कौं सरसाइ॥ १॥

सेवौ जुगलकिसोर के प्राननाथ जी नावँ।
सप्तसती तिन सौं पढ़ो बसि सिंगारवट ठावँ॥ २॥

जमुना-तट सिंगारवट तुलसी-विपिन सुदेस।
सेवत संत महंत जिहिं देखत हरत कलेस॥ ३॥

पूरोहित श्री नंद के मुनि सांडिल्य महान।
हम हैं तिनके गोत्र में मोहन मो जजमान॥ ४॥

मोहन महा उदार तजि और जाँचियें काहि।
रिद्धि सुदामा कौं दई इंद्र लही नहिं जाहि॥ ५॥

गही अकस मन तात तें त्रिधि के वंस लखाइ (?)।
राधा-नाम कहैं सनैं आनन काननि ठाइ॥ ६॥

संवत अठारह सौ विते तापर तीसऽरु चारि।
जनमाठैं पूरौ कियौ कृष्न चरन मन धारि॥ ७॥

लिखे इहाँ भूषन बहुत अनवर के अनुसार।
कहुँ औरै कहुँ और हू निकरैंगेऽलंकार॥ ८॥

अपनी कविप्रिया की टीका के अंत में इन्होंने ये दोहे लिखे हैं—

राजत सुबै बिहार मैं है सारन सरकार।
सालग्रामी सुरसरित-सरजू सोभ अपार ॥ १ ॥
सालग्रामी सरजु जहँ मिलीं गंग सों आइ।
अंतराल मैं देस सो हरि कवि कौ सरसाइ ॥ २ ॥
परगन्ना गोवा तहाँ गावँ चैनपुर नाम।
गंगा सों उत्तर तरफ तहँ हरि कवि कौ धाम ॥ ३ ॥
सरजूपारी द्विज सरस बासुदेव श्रीमान।
ताकौ सुत श्री रामधन ताकौ सुत हरि जान ॥ ४ ॥
नवापार मैं ग्राम है बढ़या अभिजन तास।
विस्वसेन-कुल-भूप बर करत राज रविभास ॥ ५ ॥
मारवाड़ मैं कृष्णगढ़ तहँ नित सुकवि-निवास। } ?
भूप बहादुरराज है बिरदसिंह जुवराज ॥ } ६ ॥
राधा तुलसी हरिचरन हरि कवि चित्त लगाइ।
तहँ कविप्रियाभरन यह टीका करी बनाइ ॥ ७ ॥
सत्रह सौ छ्यासठ महाकवि कौ जन्म विचारि।
कठिन ग्रंथ सूधौ कियौ लैहैं सुकवि निहारि ॥ ८ ॥

....

सँवत अठारह सै बिते पैंतिस अधिके लेखि।
साका सत्रह सौ जबै कियौ ग्रंथ हरि देखि ॥ १४ ॥
माघ मास तिथि पंचमी सुक्ला कवि कौ बार।
हरि कवित्त सों प्रीति हो राधा नंदकुमार ॥ १५ ॥

....

कविवल्लभ के अंत में ये दोहे पाए जाते हैं—

नवापार सुभ देस मैं राजा बढ़ैया ग्राम।
श्री विश्वंभर वंस मैं बासुदेव सुभ नाम ॥ १ ॥

ताके सुत श्री रामधन कियौ चैनपुर बास।
परगना गोवा तहाँ चारि बरन सहुलास ॥ २ ॥
सालिग्रामी सरजु जहँ मिली गंग की धार।
अंतराल मैं देस तहँ है सारन-सरकार ॥ ३ ॥
तनय रामधन सूरि कौ हरि कवि किय सुख-वास।
कवि-वल्लभ ग्रंथहि रच्यौ कविता-दोष-प्रकास ॥ ४ ॥

... ...

संवत-नंद हुतासन दिग्गज इंदु हू सों गनना जु दिखाई।
दूसरो जेठ लसी दसमी तिथि प्रात सु सामरो पच्छ सुहाई ॥
तीरथ जन्म के औ बुधवासर विक्रम की गति लाइ लगाई।
श्रीतुलसी-उपकंठ तहाँ रचना यह पूरी भई सुखदाई ॥८॥

ऊपर लिखे हुए छंदों के पाठ यद्यपि कुछ गड़बड़ हैं तथापि उनसे इतना विदित हो जाता है कि हरिचरणदासजी सांडिल्य गोत्री सरजूपारीण ब्राह्मण थे। उनके पूर्वज नवापार बढ़ैया ग्राम के रहनेवाले थे, और इनके पितामह का नाम वासुदेव और पिता का नाम रामधन था, जो बढ़ैया ग्राम छोड़कर सूबे बिहार के परगना गोवा के चैनपुर नामक ग्राम में जा बसे थे। उनके नाम के साथ सूरि शब्द के लगे होने से प्रतीत होता है कि वे जैनमतावलंबी थे। हरिचरणदास जी का जन्म संवत् १७६६ में हुआ था। वे पिता से कुछ अनबन हो जाने के कारण घर से निकल पड़े और वृंदावन में पहुँचकर वैष्णव मत धारण कर संवत् १८३४ तक शृंगारवट नामक स्थान में रहे। वहाँ प्राणनाथ जी नामक कोई युगल किशोर जी के उपासक वैष्णव भी रहते थे। उनसे हरिचरणदास जी ने बिहारी की सतसई पढ़ी, और वृंदावन ही में हरि-प्रकाश नामक उसकी टीका संवत् १८३४ में बनाई। इस टीका के अंत के दोहों में किशनगढ़ इत्यादि का नाम नहीं आया है। पर ज्ञात होता है कि उसी संवत्, अथवा १८३५ संवत् के आरंभ में ये महाशय किशनगढ़ चले गए। वहाँ उस समय बहादुरराज, जिनको मिश्रबंधु-विनोद में बहादुर-

सिंह तथा प्रसिद्ध नागरीदास जी का भाई लिखा है, राजा थे और विरदसिंह जी युवराज। कविप्रिया की कविप्रिया-भरण नाम की टीका इन्होंने किशनगढ़ में संवत् १८३५ के माघ मास की वसंत पंचमी को समाप्त की। उसके पश्चात् कुछ दिनों वहाँ रहकर, प्रतीत होता है कि वह फिर वृन्दावन चले आए, क्योंकि अपने कविवल्लभ नामक ग्रंथ का वृंदावन में संवत् १८३९ में समाप्त होना लिखते हैं।

स्वर्गवासी बाबू राधाकृष्णदास का यह कथन स्वर्गीय पंडित अंबिकादत्त जी व्यास ने बिहारी-बिहार की भूमिका में लिखा है कि "नागरीदास (महाराज सावंतसिंह) की सभा में भी एक पूर्व निवासी सनाढ्य हरिचरणदास थे, जिनने सभाप्रकाश, कविवल्लभ, रसिकप्रिया-टीका, कविप्रिया-टीका, और सतसई-टीका, ये ग्रंथ बनाए"। इस कथन में हरिचरणदास जी का उक्त ग्रंथों का बनाना तो अवश्य ठीक है, पर उनका सनाढ्य होना सर्वथा ठीक नहीं है, और उनका नागरीदास जी की सभा में उपस्थित रहना भी संशयात्मक ही है, क्योंकि व्यास जी ही के कथनानुसार नागरीदास जी का स्वर्गवास संवत् १८२३ में हो गया था, और हरिचरणदास जी ने अपने १८३४ तक के बनाए हुए ग्रंथ में किशनगढ़ का कुछ उल्लेख नहीं किया है। हाँ यह संभव है कि नागरीदास जी से और इनसे वृंदावन में प्रायः साक्षात् तथा सत्संग होता हो, क्योंकि नागरीदास जी पूर्ण भक्त तथा परम वैष्णव और बड़े सुघर और रसिक कवि थे, और बहुधा वृंदावन आया जाया करते थे। सुना गया है कि अंतावस्था में वे वृंदावन ही में जाकर रहे थे, और वहीं उनका देहांत हुआ।

हरिचरणदास जी के इतने ग्रंथ देखने सुनने में आए हैं—(१) मोहनलीला, (२) भाषाभूषण की चमत्कारचंद्रिका टीका, (३) सभाप्रकाश, (४) बिहारी-सतसई की हरिप्रकाश टीका, (५) कविप्रिया की कविप्रियाभरण टीका, (६) रसिकप्रिया की टीका, (७) कविवल्लभ, तथा (८) कर्णाभरणकोष।

शिवसिंह-सरोज में हरिचरणदास तथा हरि कवि को दो भिन्न-भिन्न व्यक्ति करके लिखा है, और हरि कवि के चमत्कारचंद्रिका तथा कविप्रिया-

भरण, ये दो ग्रंथ कहे हैं, और हरिचरणदास का एक ग्रंथ कविवल्लभ। मिश्रबंधु-विनोद में भी ये दो व्यक्ति भिन्न भिन्न ही कहे गए हैं। पर वास्तव में ऐसा नहीं है। हरिचरणदास तथा हरि कवि दोनों महाशय एक ही व्यक्ति थे, और दोनों के रचे हुए जो भिन्न भिन्न ग्रंथ बतलाए गए हैं वे वास्तव में एक ही व्यक्ति के हैं। हरिचरणदास जी ही कविता में अपना नाम हरि कवि रखते थे जैसा कि ऊपर उद्धृत किए हुए दोहों से विदित होता है।

इनकी कविता देखने से ये बड़े उच्चकोटि के कवि प्रतीत होते हैं। ये महाशय पंडित भी बड़े थे और इनका सभाप्रकाश ग्रंथ इनकी गणना भाषा-साहित्य के आचार्य्यों में कराता है। इनकी सतसई की टीका बड़ी ही उत्तम तथा अर्थ जिज्ञासुओं के निमित्त परम उपयोगी है। जितनी टीकाओं का वर्णन अब तक हो चुका है उनमें से, रसचंद्रिका को छोड़कर, कोई भी इसकी समता नहीं कर सकती। यह पुरानी सरल भाषा में लिखी गई है और शब्दार्थ तथा भावार्थ दोनों ही के स्पष्ट करने की इसमें पूर्ण चेष्टा की गई है। यद्यपि टीकाकार ने कहीं कहीं शब्दों की चीर फाड़ करके अर्थों में खींचातानी की है, तथापि यह मुक्त कंठ से कहा जा सकता है कि यह टीका दोहों के अर्थ समझने के निमित्त बड़े काम की है। निदर्शनार्थ एक दोहे की टीका नीचे लिखी जाती है—

पार्‍यौ सोरु सुहाग कौ इनु बिनु हीं पिय-नेह।
उनदौंहीं अँखियाँ ककै कै अलसौंहीं देह॥

टीका—पार्‍यौ इति। सौति की सखी कौ बचन ईर्षा सों काहू सखी सों। या नायिका ने पिय के नेह बिना सोहाग को सोर पार्‍यौ, सौभाग्य प्रसिद्ध कियौ, उनींदी आँखैं करि करि आलस भरी देह करी कै, राति नायक के संग जागी है यातैं आँखि में नींद लगी है, पिय कौ नेह सोहाग प्रसिद्ध होने को कारन है सो नहीं है। विभावनालंकार—"होति छ भाँति विभावना कारन बिन ही काज।" किंवा सोहाग प्रसिद्ध होनौ इष्ट है ताकौं छल करि साध्यो, यातैं पर्य्यायोक्ति अलंकार। "छल करि कारज साधियै जो कछु चितहिं सुहात।" संदेह जहाँ अलंकार का होइ तहाँ संकर जानियै॥ ६११॥

इस टीका में पुरुषोत्तमदास जी का क्रम ग्रहण किया गया है, जिसका विवरण तीसरे क्रम में हो चुका है। पर हरिचरणदास जी ने दो चार दोहों के क्रमों में कुछ हेर फेर कर दिया है और पुरुषोत्तमदास जी से कुछ दोहे न्यूनाधिक करके ७१२ दोहे रखे हैं। पुरुषोत्तमदास जी के क्रम की मुख्य प्रति में ७०० दोहे हैं। हरिचरणदास जी ने अपनी टीका में उन ७०० दोहों में ८ दोहे तो छोड़ दिए हैं और २० दोहे अन्य पुस्तकों में से लेकर बढ़ा दिए हैं। इस प्रकार उनकी टीका में ७१२ दोहे हो गए हैं। छोड़े हुए ८ दोहों में से २ दोहे तो बिहारी-रत्नाकर के द्वितीय उपस्करण के ७९ तथा ९४ अंकों के हैं और ६ दोहे बिहारी-रत्नाकर के ३६६, ३७६, ४३२, ४६२, ४८७ तथा ५९० अंकों के। बढ़ाए हुए २० दोहों में से ७ दोहे उक्त उपस्करण के ८२, ८८, ११९, १२५, १२८, १२९, तथा १३० अंकों पर द्रष्टव्य हैं और शेष १३ दोहे बिहारी-रत्नाकर के ८०, ९८, १३९, १८२, ३८४, ४१८, ५०३ ६१४, ६९२, ७०७, ७०९, ७११ तथा ७१३ अंकों पर।

हरिप्रकाश के छोड़े हुए तथा बढ़ाए हुए दोहों का मिलान अमरचंद्रिका के ऐसे दोहों से करने से लक्षित होता है कि हरिचरणदास ने पुरुषोत्तमदास जी का क्रम अमरचंद्रिका ही से लिया था, क्योंकि हरिप्रकाश में भी विशेपतः वे ही दोहे न्यूनाधिक हैं जो अमरचंद्रिका में पाए जाते हैं।

यह टीका सन् १८९२ ई० में भारतजीवन प्रेस, काशी से प्रकाशित हुई थी। पर इसकी प्रतियाँ अब प्राप्त नहीं होतीं।

शिवसिंह ने काशीनिवासी लालकवि बंदीजन की बनाई हुई लाल-चन्द्रिका नाम की एक टीका बतलाई है, और उनको महाराज चेतसिंह की सभा का कवि कहा है। संवत् १८४७ में इनकी उपस्थिति शिवसिंहसरोज में और संवत् १८३२ में मिश्रबंधु विनोद में मानी गई है। इनका और एक ग्रंथ आनंदरस नायिका-भेद का भी शिवसिंह ने लिखा है, और ये कवित्त उनकी रचना के दिए हैं—

१३ लाल कवि बंदीजन कृत लालचंद्रिका टीका

अरिन सँहारै गजवटनि अहारै श्रोन
पियत अपारै ऐसी जालिम जवाल की।
जंग जीतिवे की जामे अमित कला है काल
कैसी अवला हैं ऐसी सोहत हवाल की॥
कहै कवि लाल जंग मुकुति जुगुति वारी
चेतसिंह करवारी है धौं कौन काल की।
यमदंडिका सी....वीच चंडिका सी हैं
सुरत्न कंडिका सी तेज कासी महिपाल की॥ १॥

छोटे छोटे पात कौनौ काम के न ठहरात
देखे छुट छाँह मन कैसे कै रखाइये।
पैने पैने कंटक विलोकि कै वढ़त सूल
मूल हू में ठौर विसराम को न पाइये॥
लाल कवि फूले फूले रस रूप गंध विना
स्वाद विना फूल मुख कैसे कै लगाइये।
तुमहीं कहौ न तौन वारी के ववूर जौन
कौन आस राखि रावरे के पास आइये॥ २॥

वंसीवारे प्यारे तेरी वानी की प्रवाह वीच
तरत संभा की सभा प्रेम नीर छाकी है।
वेनु के अदा की तान वाँकी वेस कवि लाल
चर थिरता की थिर चरताहू थाकी है॥
अकथ कथा की कथा कहाँ लौं वखानौं तथा
भव की व्यथा को नेक सुनत वृथा की है।
पंडित प्रथा की मति थाकी है लथापथ है
न इहि व्यथा की थाकी कइन कथा की है॥ ३॥

इस टीका तथा टीकाकार के विषय में और कुछ ज्ञात नहीं है। पंडित अंबिकादत्त जी व्यास ने इनका नाम लाल कवि तथा इनकी टीका का नाम लालचंद्रिका होने के कारण यह लिखा है कि ये लाल कवि (लल्लूलालजी) और वे लाल कवि (काशीवाले) एक तो कभी नहीं हो सकते हैं क्योंकि दोनों में समय का भी ५० वर्ष का आगा पीछा होता है तथा काशीवाले तो भाट थे। उनके वंश के अभी तक उसी दरबार में हैं और ये तो औदीच्य गुजराती थे। हाँ यह है कि ये भी लाल कवि कहलाते थे जैसा इनने स्वयं लिखा है कि 'टीका की कवि लाल ने'।

समय के अंतर के विषय में तो हम व्यासजी के कथन से सहमत नहीं हैं पर दोनों लाल कवियों का पृथक् होना हमको भी मान्य है, क्योंकि एक तो दोनों की जाति में भेद है और दूसरे जो कवित्त काशी के लाल कवि के ऊपर लिखे गए हैं वे लल्लूलालजी के नहीं प्रतीत होते।

इस टीका का रचनाकाल संवत् १८४० के आस पास अनुमान करके हमने इसका विवरण इस तेरहवें स्थान पर किया है।

इसके क्रमादि के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता।

१४ प्रतापचंद्रिका टीका सतसई की १४ वीं टीका प्रतापचंद्रिका है। इस टीका के अंत में ये दोहे टीकाकार के लिखे हैं—

मैं निज मति-माफक कियौ कवि-मति कौ परकास।
लीजै सुमति सुधारि कै जिनकैं बुद्धि-बिलास॥ १॥
अनवरखाँ ने जे लिखे अलंकार चित लाइ।
अमर नै सु तिन मैं अधिक अलंकार दरसाइ॥ २॥
... ...
... ...
अनवरखाँ अरु अमर तैं भूषन अधिक सुजोइ।
श्रीप्रताप की चंद्रिका लिखैं लिखे कवि सोइ॥ ६॥
... ...

... ...

... ...

प्राचीननि नैं जो लिखे सो हैं हीं या माहिं।
नूतन की संख्या लिखी सो सु बिचारहु आइँ ॥ ९ ॥
नृप नाथ सु कैहै सबै कवि पंडित समुदाइ।
मनीराम भूपन लिखे तिनकी सिच्छा पाइ ॥ १० ॥
कंठाभरन कविप्रिया भाषा भूपन देखि।
रसरहस्य रतनाकर'सु औरहु मतनि बिसेषि ॥ ११ ॥
नूतन भूपन सो कहा तिन कौ मन न विचारि।
मनीराम बिनती करै भूल्यौं लेहु सुधारि ॥ १२ ॥

इन दोहों से केवल इतना ही ज्ञात होता है कि इस टीका के रचयिता का नाम मनीराम था। इस ग्रंथ का नाम प्रतापचंद्रिका होने से तथा इसकी प्रति के जयपुर में प्राप्त होने से यह अनुमान किया जा सकता है कि इसके रचयिता मनीराम के आश्रयदाता जयपुर के महाराज प्रतापसिंह रहे होंगे जिनकी सभा में परम प्रसिद्ध पद्माकर कवि उपस्थित थे, और जिनके बेटे महाराज जगतसिंह के नाम को उक्त पद्माकर जी ने अपने जगद्विनोद नामक ग्रंथ से साहित्य संसार में अमर कर दिया है। महाराज प्रतापसिंह ने संवत् १८३५ से १८६० तक राज किया था। ये महाराज कविता के बड़े गुणग्राही और स्वयं भी विद्वान् और कवि थे।

मनीराम ने अपने विषय में इस ग्रंथ में कुछ नहीं लिखा है। पर उन्होंने कंठाभरण का नाम लिखा है, जो अनुमान से संवत् १८०० के आस पास का बना हुआ है, क्योंकि शिवसिंह ने दूलह की उपस्थिति संवत् १८०३ में लिखी है। अतः मनीराम की उपस्थिति तथा प्रतापचंद्रिका का रचना का काल संवत् १८०० के पश्चात् संभावित है, और ग्रंथ के प्रतापचंद्रिका नाम होने से, उसका जयपुर के महाराज प्रतापसिंह के समय में संवत् १८५० के आस पास का बनना माना जा सकता है। शिवसिंह-सरोज में दो मनीराम

कवि लिखे हैं। उनमें से एक को तो कन्नौजवाले मिश्र लिखा है और संवत् १८२९ में उनकी उपस्थिति बतलाई है, और यह भी लिखा है कि छंद छप्पनी नामक पिंगल बहुत ही सुंदर उनका बनाया हुआ है। दूसरे मनी-राम के विषय में केवल इतना ही लिखा है कि, इनके शृंगार में सुंदर कवित्त हैं, और उनका यह कवित्त भी दिया है—

वह चितवनि वह सुन्दर कपोलदुति
वह दसननि छवि विज्जु की धरति है।
वह ओठ-लाली वह नासिका सकोरनि मैं
वह हाव, भाव, कै यौं कौतुक करति है॥
कहै मनीराम छवि वरनि सकैं न वह
रति तैं सरस मन मुनि कौ हरति है।
वह मुसुकानि जग मोहनि कमान-दुति
वह बतरानि ना विसारी बिसरति है॥

मिश्रबंधु-विनोद में चार मनीराम लिखे हैं। उनमें से एक मनीराम तो छंदछप्पनी-वाले ही हैं। इनके पिता का नाम इच्छाराम मिश्र और जाति कान्यकुब्ज बतलाई है। इनके बनाए हुए एक और ग्रंथ आनंदमंगल का भी पता दिया है और छंदछप्पनी तथा आनंदमंगल दोनों का रचनाकाल संवत् १८२९ कहा है। दूसरे मनीराम के विषय में केवल इतना ही कहा है कि इनका कविताकाल संवत् १८४० के पूर्व था और ये साधारण श्रेणी के कवि थे, पर इनके बनाए हुए जो दो ग्रंथ अर्थात् सारसंग्रह तथा आनंदमंगल लिखे हैं उनमें से आनंदमंगल ग्रंथ का नाम प्रथम मनीराम के साथ भी आया है, और इन दोनों मनीरामों का कविता-काल भी मिलता है, अतः हमारी समझ में ये दोनों मनीराम एक ही थे। तीसरे मनीराम के विषय में मिश्रबंधु महाशयों ने इतना ही लिखा है कि ये चंद्रशेखर के पिता थे और

इनका कविता-काल संवत् १८७० था। चंद्रशेषर जी के विषय में उन्होंने कुछ नहीं लिखा है कि वे कब, कौन और कहाँ के थे। एक चंद्रशेषर जी वाजपेयी नामक कवि के दो ग्रंथ हम्मीरहठ और रसिकविनोद हमने बहुत दिन हुए भारतजीवन प्रेस में छपवाए थे। उनमें से हम्मीरहठ संवत् १९०२ तथा रसिकविनोद संवत् १९०३ का रचा हुआ है। हम्मीरहठ की भूमिका में हमने चद्रशेषर जी के पुत्र गौरीशंकर जी से ज्ञात करके उनके पिता का नाम मनीराम और उनका जन्म-काल संवत् १८५५ लिखा था। ज्ञात होता है कि तीसरे मनीराम जी से मिश्रबंधु महाशयों का तात्पर्य इन्हीं मनीराम जी से है। हमको अनुमान से प्रतीत होता है कि ये तीसरे मनीराम जी भी छंदछप्पनी वाले ही मनीराम जी थे। इस प्रकार ये तीनों मनीराम एक ही ठहरते हैं, और ये ही प्रतापचंद्रिका के रचयिता भी प्रतीत होते हैं, क्योंकि चौथें मनीराम का जन्म, मिश्रबंधु-विनोद में संवत् १८९६ लिखा है, अतः यह तो प्रतापचंद्रिका के रचयिता हो नहीं सकते। ज्ञात होता है कि मनीराम जी कुछ दिनों जयपुर में जाकर रहे थे और उनके पुत्र चंद्रशेपर जी भी अपनी युवावस्था में वहाँ रहे होंगे और उनसे पद्माकर जी से साक्षात् और सत्संग हुआ होगा, क्योंकि उनकी कविता में पद्माकर जी के ढंग की छाया बहुत दिखाई देती है, और उनका रसिक-विनोद ग्रंथ तो पद्माकर जी के जगद्विनोद के जोड़ पर ही बना है।

इस टीका में अनवरचंद्रिका तथा अमरचंद्रिका में कहे हुए अलंकारों तथा अन्य साहित्यांगों के स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है, और उक्त ग्रंथों में कहे हुए अलंकारों के अतिरिक्त कुछ अन्य अलंकार भी बतलाए गए हैं। पर अर्थ स्पष्ट करने का प्रयत्न ग्रंथकार ने सर्वथा नहीं किया है; केवल अपना नाम सतसई के टीकाकारों में अवश्य गिना दिया है।

इस टीका में क्रम अमरचंद्रिका का रखा गया है जिसका विवरण चौथे क्रम में किया गया है।

इस टीका का विवरण हमको केवल मिश्रबंधु-विनोद में १०५८ अंक पर मिला है। इसके रचयिता के विषय में उक्त ग्रंथ में लिखा है कि उनका जन्म संवत् १८२० में हुआ था और उनका कविता-काल संवत् १८४५ था। छतरपुर राज के स्थापक कुँवर सोने साह के वे दीवान थे, और उनके बनाए तीन ग्रंथ हैं—(१) सुदामाचरित्र, (२) रागमाला, और (३) अमरचंद्रिका (बिहारी सतसई की गद्यपद्यमय टीका)।

१५. अमरसिंह कायस्थ राजनगर छतरपुर की अमरचंद्रिका टीका

यह टीका हमने स्वयं नहीं देखी है, अतः इसके विषय में हम कुछ नहीं कह सकते।

मिश्रबंधु-विनोद में १०७६ अंक पर राधाकृष्ण चौबे (चित्रकूट) की बनाई हुई बिहारी-सतसई की एक पद्य टीका लिखी है और चौबे जी का कविता-काल संवत् १८५० के पूर्व, और उनका बनाया हुआ एक और ग्रंथ कृष्णचंद्रिका बतलाया है।

१६. बिहारी सतसइया पर पद्य टीका

यह टीका भी हमने स्वयं नहीं देखी है। अतः इसके विषय में भी विशेष नहीं लिखा जाता।

१७ वीं टीका देवकीनंदन की टीका कहलाती है। इसके रचयिता ठाकुर कवि ने बाबू देवकीनंदन सिंह के प्रसन्नतार्थ इसको संवत् १८६१ में रचा था। बाबू देवकीनंदन सिंह के पूर्वज प्रयाग के पश्चिम गंगा के दूसरे तट पर सिंगवेरपुर में रहते थे। देवकीनंदन सिंह जी के पितामह का नाम रण-सिंह, और पिता का नाम चिंतामणिसिंह था। बाबू देवकीनंदन सिंह लखनऊ के नवाब गाजिउद्दीन हैदर से कुछ अनबन हो जाने के कारण काशी में आ बसे थे। पीछे फिर ये अँगरेजों की ओर से प्रयाग के सूबेदार भी हो गए थे। ठाकुर कवि उन्हीं के यहाँ रहते थे और उन्हीं की आज्ञा से उन्होंने यह टीका बनाई थी।

१७. सतसैया-वर्णार्थ अर्थात् देवकीनंदन-टीका

अपने विषय में ठाकुर ने इतना ही लिखा है कि मेरे पिता का नाम ऋषिनाथ था और वे असनी के रहनेवाले थे। पर श्रीनगर, जिला पुरनियाँ, के राजा स्वर्गवासी राजा कमलानंदसिंह जी ने जो सेवकराम कवि का वाग्विलास नामक ग्रंथ छपवाया है, उसमें स्वर्गीय पंडित अंबिकादत्त व्यास तथा सेवकराम जी के भतीजे कृष्णकवि के लिखे हुए जो सेवकराम जी के वंश के वर्णन दिए हैं, उनसे ठाकुर कवि के विषय में ये बातें विदित होती हैं—

"सेवक कवि के पूर्वज सरजूपारी पयासीकुल के मिश्र थे और जिला गोरखपुर के मझौली राज में रहते थे। इस वंश में देवकीनंदन मिश्र भाषा के कवि हुए। मझौली राज से इनको महापात्र की पदवी मिली। पर यह पदवी उन दिनों प्रायः भाट जातियों ही में थी और इनका प्रायः भाट कवियों ही से मेल जोल था सो ये कई कारणों से जाति-बहिष्कृत किए गए। तब से ये जिला फतहपुर के असुनी नगर में आए। वहाँ इन्हें गुणी और राजमान्य देख नरहर नामक ब्रह्मभट्ट ने अपनी कन्या ब्याह दी और जगह भूमि आदि दे।असुनी ही में बसाया। तब से इनका वंश असुनी में चला और तभी से सरयूपारी जाति छोड़ भाट जाति में मिले।"

"इनके पुत्र ऋषिनाथ भी कवि हुए और उस समय के काशीनरेश महाराज बरिवंडसिंह देव बहादुर के यहाँ रहे (इनने अलंकार-मणिमंजरी नामक ग्रंथ रचा)।"

"इनके पुत्र प्रसिद्ध ठाकुर कवि काशी के एक जमींदार बाबू देवकीनंदन सिंह के आश्रित रहे। इनने बिहारी सतसई की टीका बनाई जिसका विवरण मैं बिहारी-विहार में प्रकाशित कर चुका हूँ। बाबू देवकीनंदन साहेब ने उन्हें हाथी आदि दे बहुत सन्मान किया।"

वाग्विलास की भूमिका में कृष्णकवि ने यह भी लिखा है कि देवकीनंदन को नरहरि कवि ने सन् १५६० ई० में असुनी में बसाया था, और उन नरहरि को अकबर के दरबारवाले प्रसिद्ध नरहरि कवि कहा है। पर काल-विचार करने से यह बात ठीक नहीं ठहरती, क्योंकि मिश्रबंधु-विनोद में प्रसिद्ध कवि

नरहरि का जन्म संवत् १५६२ में बताया है। यदि उनको ४० वर्ष की अवस्था में पुत्री हुई हो और उसका विवाह चौदह या पंद्रह वर्ष की अवस्था में देवकीनंदन जी के साथ हुआ हो तो कृष्णकवि जी का यह लिखना कि नरहरिजी ने उनको सन् १५६० ई० में असुनी में बसाया था ठीक हो सकता है, क्योंकि सन् १५६० ई० में संवत् १६१७ होता है। पर संवत् १६१७ में जिस व्यक्ति का विवाह हुआ हो उसके पौत्र का ग्रंथरचना-काल संवत् १८६१ नहीं हो सकता। अतः यदि देवकीनंदनजी का नरिहरिजी द्वारा असुनी में बसाया जाना ठीक माना जाय तो नरहरि कवि को अकबर के दरबारवाले प्रसिद्ध नरहरि कवि के अतिरिक्त कोई अन्य कवि मानना पड़ता है, अथवा ऋषिनाथ जी को देवकीनंदन जी का पुत्र न मान कर उनके वंश में उनसे चार पाँच पीढ़ी पीछे मानना पड़ता है। सेवकराम जी ने वाग्विलास में जो स्वयं अपने वंश का वर्णन लिखा है उसमें ठाकुर कवि को ऋषिराम जी का पुत्र तो अवश्य लिखा है पर ऋषिराम के पिता का नाम नहीं कहा है। अतः यह संभव है कि देवकीनंदन जी कवि की आख्यायिता वंश में चली आती हो और ऋषिरामजी के पश्चात् के वंशजों का नाम देवकीनंदन की टीका तथा वाग्विलास इत्यादि ग्रंथों में पाकर, और ऋषिराम जी के पूर्व पुरुषों का नाम कहीं न पाकर कृष्णकवि ने ऋषिराम जी को देवकीनंदन जी कवि का पुत्र मान लिया हो। शिवसिंह-सरोज में ठाकुर नाम के चार कवि लिखे हैं, एक को ठाकुर कवि प्राचीन दूसरे को ठाकुरप्रसाद त्रिपाठी कृष्णदासपुर वाले, तीसरे ठाकुरराम कवि और चौथे को त्रिवेदी अलीगंज वाले करके लिखा है। उनमें से पिछले तीन ठाकुर तो सतसई के टीकाकार हो नहीं सकते, और चौथे ठाकुर भी यह टीकाकार नहीं हैं क्योंकि उनकी उपस्थिति का संवत् शिवसिंह ने यह विचारकर कि उनके कवित्त कालिदास के हजारे में आए हैं, १७०० लिखा है, और हमारे टीकाकार ने अपनी टीका संवत् १८६१ में समाप्त की। ग्रियर्सन साहब ने देवकीनंदन टीका का विवरण नहीं लिखा है।

पंडित अंबिकादत्त व्यास जी ने बिहारी-बिहार की भूमिका में देवकीनंदन

की टीका का विवरण तो किया है पर ठाकुर कवि के बारे में कुछ विशेष नहीं लिखा है।

मिश्रबंधु विनोद में जो ठाकुर कवि के विषय में लिखा है उससे भी इन ठाकुर कवि का कुछ निर्णय नहीं होता। बात यह ज्ञात होती है कि वह ठाकुर कवि, जिनके कवित्त, सवैया प्रसिद्ध हैं, और जिनके उदाहरण कालिदास के हज़ारे में मिलते हैं, इन ठाकुर कवि से भिन्न व्यक्ति थे, और मिश्रबंधु-विनोद में जो कवित्त, सवैया इन ठाकुर कवि की कविता के उदाहरण में दिए हैं, वे वस्तुतः उन्हीं प्राचीन ठाकुर कवि के हैं। हमारा यह अनुमान इस बात से भी पुष्ट होता है कि इन ठाकुर कवि की कविता जो सतसई की टीका तथा वाग्विलास में देखने में आती है, वह, यद्यपि अच्छी है, तथापि वैसी सरस तथा हृदय-ग्राहिणी नहीं है जैसी प्राचीन ठाकुर की देखने सुनने में आती है। निदर्शनार्थ इन ठाकुर कवि की कुछ कविता नीचे दी जाती है—

(सतसई टीका)

समर गिराय वैरिहूँ कौं जीव दान दियौ,
 आन दानवारी कथा कहाँ लौं बखानई।
दाता बड़ौ ज्ञाता वीर विरच्यौ विधाता रह्यौ,
 रामरस राता काज किए तैं प्रमानई॥
ठाकुर भनत सरनागत कौ पाल्यौ सदा,
 हाल्यौ न प्रतिज्ञा तैं सुधीर गुन गानई।
भूप रतनसिंह रीति सुकरम वारी करी,
 सुधरम धरी भारी सब जग जानई॥

सेना बादशाही मैं कसाई कौं खपाइ जिन,
 ली बचाइ गाय रहे निडर दराज हैं।
रच्छि सरनागत नजबखाँ नवाबैं दबे,
 नेक न उजीरैं करे सब सुभ काज हैं॥

ठाकुर भनत भूप चिंतामणिसिंह निज,
नाम सत्य कीन्हें काम गरिवनिवाज हैं।
जाँचक निवाहे दिये दान चित चाहे जिन,
रनवन चाहे ढाहे अरि-गजराज हैं॥

जिहिं पटना तें कियो कोड़े लौं अमल राज,
सरसै सदाई वीर बुद्धि को सदनु हैं।
जाके सरनागत हमेस मोद पावैं ताके होत,
त्रगी भूपनि को मानु मरदनु हैं॥
वंस अवतंस जसी ठाकुर दयाल दानि,
दीन के दरिद्रनि कौं करत कदनु है।
सदा पारवती पंचवदन सहाई जाके,
ऐसो मंजु महाराज देवकीनँदनु हैं॥

करै हेत जोई राज साज सरसावै सोई,
आनँद बढ़ोई राँचे वाँचे विपदन सौं।
अनहित कीन्हौं जिन तिन वनवास लीन्हौं,
दीन्हौं छोड़ि संग सीव साहिवी सदन सौं॥
देखि दसा ठाकुर कितेकन की ऐसी तव,
जी कौ नीकौ चहौं कहौं यातैं उमदन सौं।
वैर चहै जोई पारवती पंचवदन सौं,
वैर करै सोई भूप देवकीनँदन सौं॥

(वाग्विलास)

ऐसौ तौ प्रताप भूप देवकीनँदनसिंह,
जासौं उतपातिनि की छाती पाकिवो करैं।
वाचंती अरातिनि की पाँती सरनागत है,
भागैं ते पहारैं नदी नारैं नाकिवो करैं॥

ठाकुर भनत होत समर न सोहैं कोऊ,
जानि वर गव्वर वृथा न थाकिवो करैं।
राजाराउ उमदे अनेक संग दौरैं कर,
जोरैं औ निहोरैं नैन-कोरै ताकिवो करैं॥

केते तेरे डर डग डारैं न डगर घर,
डोलैं डगमगे डरे डगन डरे रहैं।
केते सीस नावैं संग धावैं गावैं तेरौ वंस,
विरद सुनावैं विनती कौं यौं अरे रहैं॥
ठाकुर प्रतापी भूप देवकीनँदन केते,
तेरे द्वार हारे द्वारपाल के परे रहैं।
केते देत धन अन याही भाँति अनगन,
केते अवनीपगन पगन परे रहैं॥

लोक इहिं जैसे चाहौ तैसे परमानंद कै,
अमलिस कासिका प्रयागराज लै ठयौ।
सविध पुरान सुने विविध सुदान दिए,
करत वखान सव ऐसो और ना भयौ॥
समुझि इरादे और छोभ असलै को नीके,
ठाकुर कहै यों तन त्यागि कासी मैं दयौ।
सहित सु सक्ति गौरी शंकर की भक्ति करि,
देवकीनंदन देव - लोक असलै गयौ॥

दानी दया अति जुद्ध मैं सुद्ध सवुद्ध वड़ी वर वीर वड़ाई।
वैरिनि खंडि कै ढंढि कै भूपनि मंडि भिखारिनि भूप कियो ई॥
कासिका मैं तन त्यागि तरयौ करयौ, ठाकुर सों सब भाँति भलोई।
है न भयो नृप होनहूँ नाहिंनै, देवकीनंदन सिंह सौ कोई॥

दीरघ दान दै को सनमान कै, राखि है बाँधि सु आदर फंदन।
ठाकुर को गुन चातुरी चोज सों, ओज सों मेरे हरै दुख-दंदन॥
को मम कोह बकाई सही, चहै सीतल वात कहै सम चंदन।
आपने दोष को है अपसोस, निबाहिहै को बिन देवकीनंदन॥

इस टीका का नाम 'सतसइया वर्णार्थ' है जिससे व्यंजित होता है कि इसमें दोहों के शब्द शब्द का अर्थ खोला गया होगा, और वास्तव में टीकाकार ने दोहों के स्पष्ट करने में बड़ा प्रयत्न किया है और स्थान स्थान पर अनेक प्रश्नोत्तरों के द्वारा भी अर्थ समझाने की चेष्टा की है। इसमें प्रत्येक दोहे के संक्षिप्त अवतरण, वक्ता तथा बोधव्य बतलाकर अर्थ कहा गया है, और यद्यपि प्रत्येक दोहे के अलंकारादि नहीं दिखलाए गए हैं, तथापि अर्थ के स्पष्टीकरण का प्रयत्न प्रशंसनीय है। सतसई के पाठकों के निमित्त यह टीका बड़े काम की है, पर खेद का विषय है कि अभी तक यह प्रकाशित नहीं हुई है। इसमें से एक दोहे की टीका निदर्शनार्थ नीचे लिखी जाती है—

पार्‍यौ सोरु सुहाग कौ इनु बिनु हीं पिय-नेह।
उनदौहीं अँखियाँ ककै कै अलसौहीं देह॥

टीका—या नायका राति पति संग प्रेम सौं सुरत मैं बातनि मैं जागी है, तातैं आलस्य है प्रेम के गरब समेत है। सो देखि कै सौति के दुःख भयौ। सो दुख के मेटिवे कौं ताकी सखी तासौं कहति है की इन उनदौहीं कहे उनींदी ऐसी अँखियाँनि के कहे करिकै औ अलसौहीं देह के पिय के नेह बिनहिं सुहाग को सोर पार्‍यौ कहे कर्‍यौ है, अने इन पर पिय की प्रेम नहीं है, ये या वेष बनाए हैं। सो सखी या कहिकै या जनायो या बिचारी तौ बेष बनाए हैं की जामैं या वेष कौं देखि मो पर पति कौं प्रेम जानि बिरस करै, पती अनख मानि मोहीं सौं मिलै, काहे की और कारन नहीं ह्वै सकत तातैं जानो। औ सखी सयानी है येहि वास्ते कह्यो जामें या दुख करि कै पिय सौं बिरस नां करै, जामैं बिगार न होइ। औ हित कौ धर्म है सो बाक कहै जामें दुख मिटै औ सुखदायक सौं बिगार न होइ। सखी जैसी

चाहिये तैसी है। तो ऐसो सुरूप सौति को दिखावने आई सो प्रेम जनाइवे कों। तातैं वाको पति है तो सुकीया, परपति है तो परकीया प्रेमगर्विता। मित्र दुहुनि को है, जिहिं देखि दुख कियौ सो अन्य-संभोग-दुःखिता भई सो जानो॥

१८ वीं टीका जो हमारे देखने में आई वह रणछोड़जी राय दीवान की की हुई है। उसमें रचना-काल नहीं दिया है। पर रणछोड़जी की जीवन-घटना से उसका निर्माण काल संवत् १८६० तथा १८७० के बीच में निर्धारित करके उसको यह स्थान दिया गया है। उसके अंत में जो दो दोहे दिए हैं उनसे केवल इतना ही ज्ञात होता है कि वह टीका रणछोड़राय दीवान की कृति है। रणछोड़ रायजी कौन, कब और कहाँ के दीवान थे यह सब कुछ उनसे विदित नहीं होता। वे दोहे ये हैं—

१८. रणछोड़ जी की टीका

टीकौ सब टीकानि कौ नीकौ जी कौ बोधि।
रुचि सौं रचि रनछोड़जी पचि पचि कीनौ सोधि॥ १॥

सतसैया के अर्थ कौं महा पदारथ जानि।
सोधि यथारथ बुद्धि-बल रनछोड़राय दीवान॥ २॥

दीवान रणछोड़जी अमरजी जाति के नागर ब्राह्मण (खाँप बड़नगरे अयाचक) थे। इनके पिता अमरजी जूनागढ़ के नवाब मोहब्बत खाँ के कारभारी (मुसाहब) थे। इनके दादा का नाम कुँवरजी था। बड़े दादा का नाम प्रागजी था। ये जूनागढ़ के पुराने निवासी थे, परंतु जूनागढ़ में माँगरोल से आए थे। इनकी योग्यता ने इनको राज्य-कार्य का अधिकारी बनाया। अमरजी बड़े जोर के दीवान थे। मगर लोगों के बहकाने से नवाब ने इनको सन् १७८५ में घात कर मरवा डाला था। इसके कुछ समय पीछे रसाई हो जाने पर इनके पुत्र रणछोड़जी दीवान हुए। इन्होंने भी बड़ी ही स्वामिधर्म्मी से काम किया और जूनागढ़ के नामी दीवान हुए। ये

विद्याव्यसनी थे। संस्कृत, गुजराती, हिंदी, फारसी, उर्दू के अच्छे विद्वान् थे। इनके बनाए बहुत ग्रंथ हैं। उनमें से नीचे लिखे छप चुके हैं—

(१) शिवरहस्य बड़ा गुजराती में
(२) शिवगीता सटीक
(३) तवारीख सोरठ, फारसी में
(४) चंडी पाठ १३ कवच के गने, गुजराती में
(५) शिवरात्रि-माहात्म्य, गुजराती में
(६) सूतक-निर्णय
(७) कालखंज-आख्यान
(८) ईश्वर-विवाह
(९) जलंधर-आख्यान
(१०) ब्राह्मणों की चौरासी जातियों का वर्णन
(११) अंधकासुर-आख्यान
(१२) प्रदोष-महिमा
(१३) बुढ़ेश्वर-बावनी
(१४) त्रिपुरासुर-आख्यान
(१५) भस्मांगद-आख्यान
(१६) मोहिनी-छल
(१७) शंखचूड़-आख्यान
(१८) काम-दहन

इनके अतिरिक्त अनेक ग्रंथ विना छपे ही रखे हुए हैं, उनमें से यह "बिहारी-सतसई की टीका" है। इस टीका से इनकी भाषा-साहित्य की जानकारी प्रगट होती है।

बुढ़ेश्वर महादेव इनके कुलदेव और माथे के ठाकुर हैं। यह लिंग जयद्रथ की भुजा की मणि (बताई जाता) है। यह नीलम का लिंग है और अति प्राचीन है। बुढ़ेश्वर का मंदिर इनके मकान के पास ही जूनागढ़ में बना हुआ है। इस मंदिर के नीचे तीन गाँव भोग में हैं। रणछोड़जी को इनका परम इष्ट था। रणछोड़जी के पुत्र नहीं था। केवल दो पुत्रियाँ—रूपाँबा और सूरजबाई थीं।

रणछोड़जी के बड़े भाई रघुनाथजी थे और छोटे दलपतरायजी। दलपत-राय के शंभुप्रसाद पुत्र था और काशीबाई बेटी थी। शंभुप्रसाद के लक्ष्मी-शंकर पुत्र हुआ। लक्ष्मीशंकर को संवत् १९३० में देवलोक हुआ था। इसने काशी आदि में कई स्थान बनाए थे। इसकी विधवा ने, जो बड़ी धार्मिक

विदुपी और उदारमना थी, रणछोड़जी के ग्रंथ छपवाए थे जिनके नाम ऊपर आए हैं।[1]

इस ग्रंथ में रणछोड़ जी ने दोहों का पूर्वापर क्रम अनवरचंद्रिका के अनुसार रक्खा है। ५२५ दोहों तक तो इसका क्रम अनवरचंद्रिका के क्रम से वहुत ही मिलता है। पर उसके पश्चात् दोहों के स्थानों में विशेष अंतर दृष्टिगोचर होता है। इसका मुख्य कारण यह है कि रणछोड़ जी ने अपनी टीका के प्रकरणों ही में कुछ हेर फेर कर दिया है इसके अतिरिक्त अनवरचंद्रिका की हमारी स्वीकृत प्रति में ७०४ दोहे हैं और रणछोड़ जी की प्रति में केवल ६९४ दोहे रखे गए हैं। इन ६९४ दोहों में भी ३ दोहे दो दो चार आए हैं जिनको घटा देने पर ६९१ दोहे रह जाते हैं। अनवर-चंद्रिका में जो ५०४ दोहे हैं उनमें के ३८ दोहे रणछोड़जी ने छोड़ दिए हैं। अतः उनकी टीका में अनवरचंद्रिका के केवल ६६६ दोहे आए हैं और २५ दोहे उन्होंने अनवरचंद्रिका के दोहों के अतिरिक्त रखे हैं। इस प्रकार उनकी टीका की ६९१ संख्या पूरी हो जाती है। विहारीरत्नाकर के जो ३८ दोहे उन्होंने छोड़ दिए हैं उनमें से ३१ दोहे तो विहारी-रत्नाकर की इन संख्याओं पर द्रष्टव्य हैं—५२, ५९, ७२, ८२, १६१, १७५, २०५, २४६, २८१, ३५७, ३६७, ३६५, ३७९, ३८०, ३९९, ४०२, ४२९, ४३०, ४५१, ४९७, ५०७, ५१४, ५१७, ५६३, ५७६, ६२४, ६७१, ६९३, ६९७, तथा ७०३। ६ दोहे विहारी-रत्नाकर के द्वितीय उपस्करण के ७६, ७७, ७९, ८०, ८१, तथा १४० अंकों पर दिए हुए हैं और एक दोहा शुभकरण जी का और एक बरवै खानखानाँ का है जो नीचे दिए जाते हैं।

देखत अनवरखाँ-वदन दुवन दवे हहराइ।
वढ्यौ कंप रोवाँ उठे वदन गयौ पियराइ॥

---

[1] इतना वृत्तांत मुझे पंडित हरिनारायण पुरोहित अफसर ड्योढ़ी जयपुर, की कृपा से मिला है।

बरि गई हाथ उपरिया रहि गइ आगि।
घर कै बाट बिसरि गइ गुहनं लागि॥

२५ दोहे जो रणछोड़जी ने अनवरचंद्रिका से अधिक रखे हैं उनमें के २१ दोहे बिहारी-रत्नाकर की, ३९, ४७, ५७, ९२, १०८, १२६, १७०, २३४, २८९, ३८५, ४१६, ४४३, ५०३, ५६८, ५९९, ६१४, ६४२, ६७८, ६९२, ७०७ तथा ७१२ संख्याओं पर के हैं; एक दोहा बिहारी-रत्नाकर की १४३ संख्या पर का और तीन दोहे ये हैं—

निसि निघरात निहारियतु, सौतिबदन अरबिंदु।
सखी एक यह देखियै तेरौ आनन इंदु॥
अनत बसे रिस की खिसी आए प्रात सकंत।
प्रीतम कौं मनभावती -मिलति बाँह दै अंत॥
परसौंपरसौं कहि गए परसे परसे पीय।
परसौं जौं परसौं नहीं परसौं परसे जीय॥

इस टीका से रणछोड़ जी का भाषा-साहित्य में अच्छा प्रवेश प्रतीत होता है। इसमें दोहों के शब्दार्थ तथा भावार्थ के अतिरिक्त उनके अलंकार भी कहे गए हैं, और कहीं कहीं काव्य का तारतम्य भी बतलाया गया है। पाठकों के देखने के निमित्त एक दोहे की टीका नीचे दी जाती है—

पारयौ सोरु सुहाग कौ इन बिनहीं पियनेह।
उनदौंहीं अंखियाँ ककै कै अलसौंही देह॥

अर्थ—सखी कौ बैन सखी सौं। हे सखी इन राधिका भर्तार सौं नेह करे विनही सोहाग को सोर, कहा होकारो, पारयौ। सो कैसे के राधिका अलसौंही देह करी अपनी आँखिनि करि ऐसी चित्त विषै चढ़ी है। सौति वा सौति की सखी कौ बैन होइ तौ अमर्ष, इर्ष्या संचारी सुरत कौ रूप दिखायौ। विभावनालंकार। उनदौंहीं कहा उजागरी। ककै कहा करिकैं।

यह टीका बहुत अच्छी है और सतसई के पाठकों को इससे बहुत सहायता मिल सकती है। इसको हरिप्रकाश टीका की श्रेणी में समझना चाहिए।

इस टीका में यह एक बड़ा दोष है कि कहीं कहीं दीवानजी ने दोहों का पाठ मनमाना रखकर अर्थों का सत्यानाश कर दिया है; जैसे इस दोहे में—

'मैं मिस हाँसी यों समुझि मुँह चूम्यौ ढिग आइ।
हँस्यौ खिसानी गल रह्यौ रही गरे लपटाइ॥'[1]

अर्थ—कान्ह कौ वैन सखी सौं। हे सखी मैं हाँसी के मिस जानि कै राधा के ढिग जाइ कै मुहँ चूम्यौ अरु हँस्यौ सो राधा खिसानी सी है अरु गलु गह्यौ कहा गल परयो होइ। तिनकी पैरे (?) मेरे गले सौं लपटाइ रही। दूसरे पाठ सौं नायिका के वैन सखी सौं। नायक सठ। मैंने नायिका कौ सोई जानि चुंबन कियौ। शेष पूर्ववत्। स्वभावोक्ति अलंकार।

इस टीका में यद्यपि इसका रचना-काल नहीं दिया है, पर रणछोड़जी के विषय में जो बातें विदित हुई हैं, उनके आधार पर इसका रचनाकाल संवत् १८६० तथा १८७० के बीच में निर्धारित होता है।

१६. महाराज मानसिंह जोधपुर वाले की टीका

मिश्रबंधु-विनोद में एक जोधपुर के महाराज मानसिंह को भी ११५५ अंक पर विहारी का टीकाकार बतलाया है और इनके बनाए हुए १८ ग्रंथ गिनाए हैं। उनका वृत्तांत यह लिखा है—

"इन महाराज ने संवत् १८६० से १९०० तक राज किया। इनकी कविता की भाषा राजपूतानी है, परंतु व्रजभाषा में भी ये महाशय अच्छी कविता करने में समर्थ हुए हैं। इन्होंने बहुत से छंदों में कविता की है और रचना में कृतकार्यता भी पाई है। इनकी भाषा मनोहर और सुकवियों की सी है। हम इन्हें तोप की श्रेणी में रखेंगे।"

उनकी कविता के उदाहरण के निमित्त उसमें यह कवित्त भी दिया है—

---

१ बि० र० दोहा ६४२।

"सीत मंद सुखद समीर लै चलत मृदु,
अंवन के मंजर सुवास भरे चारौं ओर।
जिनतैं उठति परिमल की लपट अति,
ललित सु चित जोन भौंरन कौ लेत चोर॥
आयौ कुसुमाकर सुहायौ सब लोकनि कौं,
हेरत ही हियरैं उठति सुख की हिलोर।
अति उमदाने रहैं महामोद साने रहैं,
भौंर लपटाने रहैं जिन पर साँझ भोर॥"

यह टीका हमने स्वयं नहीं देखी है अतः इसके तारतम्य तथा क्रमादि के विषय में हम कुछ नहीं कह सकते। इसका रचनाकाल अनुमान से संवत् १८७० के आसपास माना गया है।

२० लल्लूलालजी की लालचंद्रिका टीका

२० वीं टीका लालचंद्रिका है। इसके रचयिता आगरा निवासी प्रसिद्ध गुजराती ब्राह्मण लल्लूलालजी औदीच्य थे। उन्होंने इस टीका की भूमिका में जो अपने विषय में लिखा है उससे तथा इधर उधर से और बातें एकत्र करके इनके विषय में जो स्वर्गीय साहित्याचार्य पंडित अंबिकादत्तजी व्यास ने विहारी-विहार की भूमिका के लिखा है, और इनकी योग्यता तथा भाषा इत्यादि पर अपनी सम्मति प्रकाशित की है वह हम यहाँ उद्धृत कर देते हैं, क्योंकि इनके विषय में इतना लिखना हमारी समझ में पर्याप्त है—

लालचंद्रिका—लल्लूलाल (लालचंद्र कृत) लल्लूजालाल आगरे के रहनेवाले गुजराती औदीच्य ब्राह्मण थे। गुजरातियों में औदीच्य ब्राह्मणों का कुल परम पवित्र है। ये प्रायः वल्लभ कुल के पुष्टिमार्गीय मंदिरों में मुखिया होते हैं और स्वहस्त से भगवान् की सेवा करते हैं और भोग की सामग्री बनाते हैं। वैष्णव लोग तो प्रायः इनके हाथ की कच्ची भी खाते हैं और गोस्वामी लोग पक्की का प्रसाद लेते हैं। लल्लूजीलाल के पिता का नाम चैनसुख जी था। ये बड़े दरिद्र ब्राह्मण थे। कुछ पौरोहित्य करते

थे। विद्वान् गुणी का जीविका से दुःखित होना भी एक नियत बात है सो ये भी जीविकार्थ भ्रमण करते सं० १८४२ में वंग देश मुर्शिदाबाद में आये, यहाँ कृपा सखी के शिष्य गोस्वामी गोपालदास रहते थे। उनसे कवि लल्लूलाल का प्रायः सत्संग होता था उन्हः के द्वारा नवाब मुबारकुद्दौला से मुलकात हुई। यहाँ गोस्वामीजी और नवाब साहब के यहाँ से इनका सत्कार होता था इस कारण ये सात वर्ष यहाँ रह गये। गोस्वामी गोपालदास के वैकुंठवास होने पर और उनके भाई गोस्वामी रामरंग कौशल्यादासजी के वर्द्धमान जाने पर लल्लूलाल उदास हो गये। नवाब से बिदा हो कलकत्ते आये और बावन-लक्खी रानी भवानी (इनका चरित्र राजा शिवप्रसाद सितारे हिंद ने अपने गुटके में भली भाँति लिखा है) के पुत्र राजा रामकृष्ण से परिचय कर उनके आश्रय से कुछ दिन कलकत्ते में रहे। जब उनके राज्य का नवीन प्रबंध हुआ उनने अपना राज्य पाया तब लल्लूलाल भी उनके साथ ही नाटौर गये। कई एक वर्षों के अनंतर उनके राज्य में ऐसा उपद्रव हुआ कि वे कैद कर मुर्शिदाबाद भेज दिये गये। तब लल्लूलाल पुनः निर्जीविक कलकत्ते आए। कलकत्ते के बाबू लोगों ने ऊपर ऊपर तो बहुत आदर दिखलाया पर कुछ सहायता न दी। जैसा कि लल्लूलाल ने स्वयं लिखा है कि "उन्हके थोथे शिष्टाचार में जो कुछ वहाँ से लाया था बैठकर खाया"। इस समय लल्लूलाल को कई वर्ष तक जीविका का कष्ट बना रहा, फिर जीविकार्थ दक्षिण देश जगन्नाथ पुरी तक गये। जगदीश्वर के दर्शन किये। दैवात् यहाँ इस समय नागपुर के राजा मनियाँ बाबू आये थे, उनसे लल्लूलाल से भेट हुई, वे इनके गुण से प्रसन्न हो नागपुर ले जाते थे पर किसी कारण से ये न गये फिर कलकत्ते लौट आये। यहाँ पादरी बुरन साहब से परिचय हुआ। फिर दीवान काशीनाथ (इनके पोते बाबू दामोदरदास बड़े बाजार कलकत्ते में अभी तक हैं) के छोटे पुत्र के द्वारा औ डाक्टर रसल साहेब के द्वारा डाक्टर गिलकिरिस्त साहेब से भेंट हुई। उनने इनको हिंदी गद्य में ग्रंथ बनाने का साहाय्य दिया और मज़हर अली खाँ विला, औ मिरज़ा काज़म अली ज़वाँ दो सहायक

लेखक दिये। तब लल्लूलाल ने एक वर्ष में (सं० १८५७ - सन् १८०४ में) ये चार ग्रंथ लिखे। १ सिंहासन-बत्तीसी (सुंदरदासकृत ब्रजभाषाग्रंथ का अनुवाद) २ बेतालपचीसी (यह ग्रंथ शिवदासकृत संस्कृत पुस्तक से सूरतमिश्र ने ब्रजभाषा में किया था और इनने ब्रजभाषा से हिंदी में किया। इस ग्रंथ का अनुवाद भोलानाथ और शंभुनाथ का किया भी था) ३ शकुंतला नाटक (संस्कृत से भाषानुवाद) ४ माधोनल (माधवानल संस्कृत पुस्तक सं० १५८७ की लिखी बंगाल एशियाटिक सोसाइटी में अभी तक है। मोतीराम का भी एक ग्रंथ इस विषय पर है इसी का अनुवाद लल्लूलाल ने किया था)। [इसकी कहानी यों है कि मध्य प्रदेश के पुष्पावती नगर में सं० ९१९ में एक गोविंदराव नामक राजा थे। इनके आश्रित माधवानल नामक एक बड़े नृत्य-संगीत तथा सर्वशास्त्र के अभिज्ञ गुणी ब्राह्मण थे। माधवानल के रूप यौवन तथा संगीत के चित्ताकर्षक अपूर्व गुण के कारण उस नगर की सैकड़ों स्त्रियाँ उन पर मोहित हो उनके लिये घरबार छोड़ने पर उतारू हुईं। तब सद्गृहस्थों ने माधवानल को लंपट कह राजा के आगे निंदा की और निर्दोष माधवानल उस नगर से निकाल दिये गये। तब माधवानल कामवती नगरी के संगीतप्रिय महाराज कामसेन से मिले और उनने आदरपूर्वक इन्हे आश्रय दिया। महाराज कामसेन के यहाँ एक परम रूपवती कामकंदला नामक वेश्या थी। वह माधवानल पर मोहित हो गई और दोनों का परस्पर अपूर्व स्नेह हुआ। तब बिचारे माधवानल उस राज्य से भी निकाल दिये गये। तब उज्जैन के महाराज उस समय के विक्रम के यहाँ माधवानल गये और उन्हे प्रसन्न किया। विक्रम ने कहा कुछ माँगिये तब उनने यही माँगा कि "कामवती के राजा से छीन के कामकंदला हमें दी जाय" तब विक्रम ने स्वीकार किया और कामवती नगरी की सेना से घोर युद्धपूर्वक कामकंदला को छीना और माधवानल के अर्पण किया। अनंतर विक्रम की आज्ञा से माधवानल अपनी नगरी पुष्पावती में आये और बड़े स्थान बनवाये और आनंद से दिन काटने लगे। इन ढहे स्थानों के चिह्न अभी तक मिलते हैं।]

आगरे के पैरनेवाले प्रसिद्ध हैं। लल्लूलाल भी बड़े पैराक थे। दैवात् एक दिन गंगा में कोई अंगरेज डूब रहा था सो ये निडर उसे निकाल लाये, उसने भी इनकी जीविका के लिये पूरी सहायता दी। और इनको द्रव्य साहाय्य देकर छापाखाना करवा दिया। (आगरा कालिज के हेड पंडित श्रीरामेश्वर भट्टजी से यह वृत्तांत मिला।)

इसी संवत् १८५७ सन् १८०४ में कलकत्ते में कंपनी के फोर्ट विलियम कालिज में इनकी नौकरी हुई। दिन दिन इनका सन्मान और नाम बढ़ने लगा। इनके बनाये ग्रंथ छपे और बिकने लगे तथा स्थान स्थान में पढ़े पढ़ाये जाने लगे। तब इनका अधिक उत्साह बढ़ा। जिस समय इनने सत-सई की टीका बनाई उस समय इनको फोर्ट विलियम कालिज में हिंदी की अध्यापकी करते उन्नीस वर्ष हो चुके थे। इस अवसर में इनने अपनी रचित पोथियों पर सर्वसाधारण की रुचि देख और कंपनी के साहाय्य से कुछ धन-सामर्थ्य भी पा संस्कृत प्रेस नामक एक उत्तम छापाखाना खोला। महल्ले पटलडाँगे में तो इनका छापाखाना था और बड़े बाजार में बाबू मोतीचंद गोपालदास की कोर्प में हरिदेवदास सेठ के यहाँ भी इनकी पोथियाँ बिकती थीं। इनने अपने ग्रंथ अपने ही छापेखाने में छपवाये उस समय के छपे ग्रंथों को लगढग नब्बे वर्ष हुए पर ऐसे उत्तम मोटे बाँसी कागज पर छपे हैं कि अभी तक नये जान पड़ते हैं।

इस समय तक ये अपने छापेखाने में इन ग्रंथों को छपवा चुके थे—

(१) सिंहासनबत्तीसी—(इसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है इसमें विक्रम के सिंहासन की पुत्तलियों की ३२ कहानियाँ हैं)।

(२) माधवविलास—(रघुराज गुजराती ने भी इसी नाम का एक नाटक बनाया था)।

(३) सभाविलास—(यह पुस्तक बहुत प्रसिद्ध है। इसमें नाना प्रकार की कविताओं का संग्रह है। इसी की छाया पर राजा शिवप्रसाद के गुटका आदि अनेक संग्रह बने हैं)।

(४) प्रेमसागर (ऐसा कौन सा संग्रह होगा जिसमें प्रेमसागर का थोड़ा अंश न हो। सन् १५६७ संवत् १६२४ में चतुर्भुजदास ने ब्रजभाषा में दोहा चौपाई में भागवत दशमस्कंध का अनुवाद किया था उसी पर से लल्लूलाल ने यह ग्रंथ किया। अतएव यह यथार्थ में श्रीमद्भागवत का अनु॰वाद नहीं है। यह ग्रंथ सन् १८०९ तक तो नहीं छपा था परंतु अब तक तो नाना प्रेसों में नाना बार छप चुका है)।

(५) राजनीति—यह हितोपदेश का ब्रजभाषा में 'अनुवाद है। यह ग्रंथ इनने सं॰ १८६९ सन् १८१२ में बनाया था।

(६) भाषा कायदा—हिंदी भाषा का व्याकरण। लोग कहते हैं कि इस की १ कापी बंगाल एशियाटिक सासाइटी के पुस्तकालय में अब तक है। यह ग्रंथ छप तो चुका था पर प्रचलित न हुआ।

(७) लतायफ़ हिंदी—(उर्दू हिंदी और ब्रजभाषा में १०० कहानियाँ। यह किसी समय कलकत्ते में New cyclopedia Hindustani नाम से छपी थी)।

(८) माधोनल (माधवानल) यह ग्रंथ मोतीराम कवि ने लगभग सं॰ १७५५ में ब्रजभाषा में उपन्यासाकार लिखा था। उसी से लल्लूलाल ने हिंदी में उलथा किया।

(९) बेतालपचीसी—प्रसिद्ध कवि सूरति मिश्र ने शिवदासरचित संस्कृत से अनुवाद कर ब्रजभाषा में बेतालपचीसी बनाई थी। उसी ग्रंथ को लल्लूलाल ने हिंदी में किया। अवध के दौरिया खेड़ा के राजा अचलसिंह के सभाकवि पंडित शंभुनाथ त्रिपाठी (सं॰ १८१०) ने और पं॰ भोलानाथ ने भी एक एक बेतालपचीसी बनाई है।

(१०) लालचंद्रिका—यह ग्रंथ इन दिनों घर घर है। इस ग्रंथ की रचना में भी सूरति मिश्र और हरिचरणदास ही के लेख इनके अवलंब हैं।

वस्तुतः लल्लूलाल बड़े विद्वान् न थे। यदि इन दिनों वे होते तो कदाचित् वे इतने यश के भागी न होते। परंतु जिस समय वे थे उस समय

हिंदी दुर्दशाग्रस्त थी इसलिये जो लिख गये वही बहुत हुआ। न तो उनका कोई ग्रंथ निज मस्तिष्क का है और न कोई सीधा संस्कृत का लिया है। औरों के रचित ब्रजभाषा के ग्रंथ ही पर उनका नर्तन है। लालचंद्रिका के अंत में "हूँ बिनवों" आदि कुछ दोहे हैं सो लल्लूलाल ने ऐसे लिखे हैं मानो अपने बनाये हों पर वे सब कृष्णकवि के हैं।

व्यास रामशंकर जी के द्वारा आगरा कालिज के हेड पंडित श्री रामेश्वर जी से जो लेख मिला सो ज्यों का त्यों यह है—

'लल्लूजीलाल गुजराती सहस्र अवदीच थे, पिता का नाम चैनसुख जी था, ये चार भाई थे बड़े लल्लू जी फिर दयाल जी मोतीराम जी, चुन्नीलाल जी। लल्लूजी के संतति नहीं थी, दयाशंकर जी के हरीराम जी थे सो नारमिल स्कूल में भाषा के पंडित थे तनखा ३०) पाते थे, दयाशंकर जी आगरा कालेज में ६०) के नौकर थे भाषा पढ़ाते थे, हरीराम के २ पुत्र भये रामचन्द्र श्यामलाल, रामचंद्र कुछ न पढ़े रेल में १०) के थे श्यामलाल, जयपुर में किसी को गोद बैठा, रामचंद्र का लड़का रामसेवक है १०) का रेल में नौकर है एक छोटा दो वर्ष का है।

३ मोतीलाल जी के पुत्र नहीं भया, ३०) के आगरा कालेज में भाषा पढ़ाते रहे।

४ चुन्नीलाल जी २०) के आगरा कालेज में भाषा पंडित थे २ पुत्र भए मन्नूलाल, छगनलाल, मन्नूलाल ५०) के भाषा पाठक थे छगनलाल प्रिंसिपेल के क्लर्क ३०) के थे।

मन्नूलाल के ४ पुत्र हुये केशवराम विशेशरदयाल अमृतलाल बसन्तराम। केशवराम ३०) क्लर्क आगरा कालेज में थे, विशेशरदयाल डिप्टी इंस्पेक्टर ८०) के थे, अमृतलाल २५) writing Master फरुखाबाद के स्कूल में थे, बसंतराम विद्या कुछ हिन्दी पढ़े हैं कहीं नौकर नहीं। आप जानते ही हैं केशवराम एक बुरी बीमारी से ग्रसित होकर २-३ वर्ष हुए मर गये विशेशरदयाल अमृतलाल इसी वर्ष में अर्थात् १९५३ में मरे, बसंतराम मौजूद हैं।

केशवराम के २ लड़के विशंभर रंगेश्वर। विशंभर हिंदी कुछ पढ़ा है ४) का कहीं है। रंगेश्वर ५ वें दरजे में पढ़ता है।

विशेशरदयाल के पुत्र नहीं अ० ला० पुत्र नहीं वसंतराम के संतति नहीं पूर्व दोनों के पुत्री एक-एक है।

छगनलाल के २ पुत्र थे सालगराम लक्ष्मीराम। सालगराम कुछ हिंदी अंगरेजी पढ़े हैं नौकर कहीं वही लक्ष्मीराम रेल में १५) का था ८-७ वर्ष भये मर गया विवाह इसका नहीं भया था।

सालगराम के २ पुत्र १ गोपीनाथ २ बालमुकुन्द। गोपीनाथ राज उदयपुर में किसी गाँव का थानेदार है छोटा मथुरा में किसी मंदिर का रसोई आदि वा ठाकुरसेवा में है, इनमें से अभी किसी के संतति नहीं।

चैनसुख बड़े गरीब ब्राह्मणवृत्ति कुछ करते थे। लल्लूजी भाषा अच्छी पढ़े थे, घर से निकलकर रोजगार की तलाश में कलकत्ते चल दिये, प्रारब्ध खुलने को थी तैरना भी अच्छा जानते थे, किसी साहब को गंगाजी में से डूबते हुए बचाया वह प्रसन्न भया उसने छापेखाना करा दिया हिंदी की कदर थी जब सहस्त्रों रुपये का माल छापेखाने में हो गया उसने इन ही को दे दिया। ये सब माल नावों पर लादकर आगरे लाये गरीबी गई घर बनवाया रामायण ३०) ४०) ५०) को बिकती थी ऐसे ही प्रेमसागर २०) को ३०) को इत्यादि। यहाँ ठाठकर फिर वे कलकत्ते ही चल दिये और वहीं मरे। इनके पास चिट्ठियाँ अंगरजों की अच्छी २ थीं उन्हें दिखाकर दयालजी ने एक स्कूल जारी किया। होते होते वह आगरा कालेज हो गया। कुनवे के सब उसमें नौकर हो गये, ये लोग लल्लूजी के समय से कुछ पढ़े, भाषा में लल्लू जी मन्नूलाल, हरीराम जी ये अच्छे थे, हाल अब बुरा है। कर्जा देना है। मकान पर नौबत आ गई। कोई भाषा में अच्छा नहीं भया। भंग पीना मस्त रहना।"

लल्लूलाल के ग्रन्थों में सबसे उत्तम लालचंद्रिका है और इसी ग्रन्थ से इनकी विद्या की सारगर्भता प्रगट होती है। यह बिहारी सतसई के आजम-

शाही क्रम के अनुसार उसी ग्रंथ पर टीका है। यह ग्रंथ पहलेपहल लल्लूलाल ने स्वयं अपने ही छापेखाने में सन् १८१९ में छपवाया, फिर सन् १८६४ में लाइट प्रेस में (पण्डित दुर्गादत्त) दत्त कवि (मेरे पिता जी) ने छपवाया और अन्यत्र भी अनेक जगह छपा है। लोग कहते हैं कि काशीराज महाराज चेतसिंह के दरबार के कविवर लाल कवि ने भी एक सतसई की टीका लाल-चन्द्रिका नाम से बनाई। यदि यह सच भी हो तो वह ग्रन्थ अलभ्य है। ये लाल कवि और वे लाल कवि एक तो कभी नहीं हो सकते हैं क्योंकि दोनों में समय का भी ५१ वर्ष का आगा पीछा होता है तथा काशीवाले तो भाट थे। उनके वंश से अभीतक उसी दरबार में हैं और ये तो औदीच्य गुजराती थे। हाँ यह है कि ये भी लाल कवि कहलाते थे जैसा इनने स्वयं लिखा है कि "टीका की कविलाल ने"। यह ग्रंथ संवत् १८७५ माघ सुदी ५ शनि को समाप्त हुआ था।

लल्लूलाल राधावल्लभ संप्रदाय के वैष्णव हों तो कोई आश्चर्य नहीं है क्योंकि इनने कृष्णचरित ही पर विशेष लिखा है और प्रायः अपने ग्रन्थारम्भ में वैसा ही मंगल किया है जैसे लालचन्द्रिका "श्री राधावल्लभो जयति" और इस ग्रंथ के अंत में लिखा है कि "राधाकृष्ण प्रसादात् संपूरणाम्"।

यह तो स्पष्ट ही है कि ये संस्कृत के विद्वान् न थे, क्योंकि एक तो उनने जो जो संस्कृत के अनुवाद किये उन उनके ब्रजभाषानुवाद ही उनके सहायक थे जैसे उनने स्वयं लिखा है कि "एक बरष में चार पोथी का तरजमा ब्रजभाषा से रेखते की बोली में किया, सिंहासनबत्तीसी, बैतालपचीसी, सकुन्तला नाटक और माधोनल" (इनने हिंदी के लिये रेखते की बोली पद दिया है। क्या अभी तक इस भाषा का कोई नाम नहीं स्थिर हुआ था?) दूसरे इनके लेख में संस्कृत विद्या की दुर्बलता पद पद में प्रगट होती है। जैसे इनने अपने छपवाये लालचंद्रिका ग्रन्थ में आरम्भ ही में लिखा है 'यह मंगलाचर्ण ग्रंथकरता बिहारीलाल कवि कहता है। नायिका के ठिकाने 'नायका' तो इनने प्रति दोहे पर कहा है। यौवन के लिये योवन लिखा है

जैसे दोहा ४५६ की टीका "नायका नवयौवना"। दोहा ४५५ की टीका में वृत्यनुप्रास के ठिकाने 'घृत्यानुप्रास' लिखा है। इनने तात्पर्य के ठिकाने 'तातपर्य' और परीक्षा के ठिकाने 'परिक्षा' ही बराबर लिखा है जैसे दोहा २९३ की टीका में। ग्रंथ के अन्त में इनने दो पंक्ति संस्कृत लिखी है वह भी ऐसी ऊटपटांग है कि देखते हँसी आती है। जैसे इति श्री कवि लाल विरचित लालचंद्रिका बिहारी सतसई टीकाप्रस्ताविक अन्योक्ति नवरस नृपस्तुति वर्णन नाम चतुर्थ प्रकर्ण श्रीराधाकृष्णप्रसादात् सम्पूर्ण ग्रन्थ निर्विघ्न समाप्त शुभमस्तु।"

ये संस्कृत के अनभिज्ञ तो थे ही परन्तु ये ब्रजभाषा भी उत्तम रीति से नहीं जानते थे अथवा आगरावासी होने के कारण जानते भी हों तो उसका ठीक मर्म नहीं समझते थे अतएव जो कुछ इनने सोधना चाहा वही ब्रजभाषा से च्युत हो गया और बिगड़ गया। ब्रजभाषा में तालव्य श और टवर्गीय ण दैवात् ही कहीं हो तो हो नहीं तो नहीं ही पाया जाता है। परन्तु लल्लूलाल ने यह अपनी पंडिताई दिखलाई है कि अनेक सकारों को पुनः शकार बना के दीन के शड़क्के छाड़े हैं। जैसे दोहा ७१५ "शशिवदनी मोसो कहत" इत्यादि और दोहा ६२० "शीतलतारु सुगंध की घटै न महिमा मूर। पीनस-वारे जो तज्यौ शोरा जानि कपूर" इत्यादि। ब्रजभाषा में तालव्य श और मूर्धन्य ष को दन्त्य स का आकार ग्रहण किये तो कई सहस्र वर्ष हुए। ब्रज की अति प्राचीन भाषा शौरसेनी प्राकृत ही इसकी साक्षी है। जैसे रत्नावली "दुल्लह जणाणु राओ लज्जा गुरुई परव्व सो अप्पा। पिअ सहि विसमं पेम्मं मरणं सरणं ण वारेक्कं"।

हाँ उस समय शौरसेनी भाषा में समस्त न कार ट वर्गीय ण कार हो गए थे जैसे "जेण विण णहि जिज्जिय अणुणीजिय सो किदा वराहोवि। पत्ते विण अरहाहे भणकस्सण वल्ल हो मअग्गी इत्यादि।" परंतु काल का ऐसा महात्म्य है कि धीरे धीरे पुनः सबके सब टवर्गीय णकार तवर्गीय नकार हो गए। केवल कण्ठ आदि शब्दों में मिले हुए ण रह गये हैं। यह अनुभव

उन्हे न था अतएव श और ण ठीक करने का कुछ यत्न किया। उसके अनंतर मर्म विना समझे मुनशी नवलकिशोर और पंडित रामजसन प्रभृति दो तीन महाशय ने ब्रजभापा के उसी सोधन को चलाया। फिर शिक्षा विभाग के ब्रजभापानभिज्ञ लोगों ने बालकों के पढ़ने के लिये कितने ही ग्रंथ इसी ढंग पर चलाये और डिप्टी साहवों की आज्ञा से गुरुजी लोग मार मारकर बच्चों को इसी कुरस्ते चलाने लगे सो यह बड़ा ही अनर्थ चारों ओर फैलता जाता है। विहार में भी यह अनर्थ होता देख यहाँ के प्रसिद्ध खड्गविलास छापेखाने के अध्यक्ष से भी मैंने यह विषय कई वेर कहा और अपने मासिक पत्र पीयूषप्रवाह में भी छापा अनंतर खड्गविलास के अध्यक्ष महाराजकुमार बाबू रामदीनजी ने कहा कि हमको ग्रेयर्सन साहव के द्वारा श्रीतुलसीदासजी लिखित रामायण मिली है उसके देखने से आपकी बात और दृढ़ हुई क्योंकि उसमें बहुत श औ ण नहीं है ठीक जैसा आप कहते हैं वैसा ही है पर क्या किया जाय कोई सड़ा सा डिप्टी इंस्पेक्टर भी इन बातों को समझता तो कुछ भापा का शोधन होता।

लल्लूलाल ने केवल इतना ही नहीं किया परंतु ब्रजभापा में जिन यकारों का जकार हो गया है उने फिर इनने य बनाया। जैसे दो० २० 'योवन नृपति' (दो० २१) 'योवन आमिल' (दोहा २२) 'योवन जेठ दिन" ऐसे ही यदपि, यद्यपि, यश अपयश, यमकरि, युवति, योग युक्ति, आदि।

किसी ठिकाने इनने अपनी हिंदी भी ब्रजभापा से मिली विलक्षण ही नरसिंहाकार लिखी है जैसे (दोहा २२२) "उत्कंठित होतु है देखै है कि कब श्रीकृष्ण आवैं और मैं अपना सच दिखाऊँ।"

ये कई एक बातें इसलिये दिखाई गई हैं कि "संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने"। अर्थात् इनके अनुसार औरों को उचित नहीं है कि ऐसे शब्दों का प्रयोग करें।

इनके नामोल्लेख चार प्रकार से मिलते हैं १ लल्लूलाल, २ लल्लूजी लाल, ३ कविलाल, ४ लालचंद्र।

लल्लूलाल ने और सब टीकाकारों से विलक्षण काम यही किया है कि दोहे के शब्द क्रम के अनुसार, अर्थ रखा है। इनके ग्रंथ में शंका समाधान भी अच्छे हैं परंतु सुरतिमिश्र आदि के ग्रंथ देखने के अनंतर ये शंका समाधान इतने विलक्षण नहीं प्रतीत होते तथापि कितने ही अद्भुत अर्थ और शंका समाधान इनके स्वयं कल्पित हैं। और वे अति उत्तम हैं। इसमें संदेह नहीं कि लल्लूजी लाल ने हिंदी गद्य लिखने का अपने भविष्यद् विद्वानों को पथ दिखला दिया और पूर्ण परिश्रम औ केवल विद्याभ्यास में जीवन व्यतीत किया और हिंदी गद्य को उस समय सिंहासन पर बैठाया जिस समय गुर्जर भाषा औ बंग भाषा बालिका थीं। यदि उस समय से आज तक सुलेखक लोग हिंदी की सेवा करते तो यह सारे भारत में चक्रवर्तिनी होती और ऐसा कदापि न होता कि उर्दू की पताका उड़े और इसे कहीं स्थान न मिले। इसलिये हिंदी भाषा के परमोत्रायक विद्वान् लल्लूलाल कवि को कोटिशः धन्यवाद देना यावत् हिंदी के रसज्ञों का धर्म है।

यह नहीं विदित कि कितने वर्ष के वय में किस स्थान पर लल्लूलाल कवि ने संसार का त्याग किया।"

इस टीका में, जैसा कि व्यासजी ने लिखा है, लल्लूलालजी ने अपनी बुद्धि तथा विद्वत्ता से बहुत ही कम काम लिया है। अर्थ तो उन्होंने हरिप्रकाश तथा कृष्णलाल की टीका से मिला जुला कर ले लिया है, और अलंकार तथा शंका समाधान अमरचंद्रिका से। जिन स्थानों में उन्होंने उक्त ग्रंथों से कुछ भिन्नता करने का प्रयत्न किया है, उनमें से अधिकांश स्थानों पर धोखा ही खाया है। पर जो कुछ हो उनकी टीका सरल है तथा साधारण पाठकों की समझ में आने के योग्य भाषा में होने के कारण बड़ी उपयोगी है। इसमें वक्ता बोधव्य तथा नायिका बतलाने के पश्चात् उस समय की खड़ी बोली में, जिसके लल्लूलालजी जी स्वयं आचार्य माने जाते हैं, अर्थ किया गया है, और फिर कुछ कहीं कहीं शंका समाधान भी किया गया है। इसके अतिरिक्त

दोहों के अलंकारों के लक्षण भी दिए हैं। निदर्शनार्थ एक दोहे की टीका नीचे लिखी जाती है—

पारयौ सोरु सुहाग कौ इनु बिनु हीं पिय-नेह।
उनदौंहीं अँखियाँ ककै कै अलसौंहीं देह॥

टीका—यह नायका की सखी का वचन सौत की सखी से। डाला शोर सुहाग का (कहैं प्रीति प्रसिद्ध की) इनने विन प्रीतम के प्यार ही। उनने, उनीदी आँख करकै, की अलसानी देह। इससे प्रीति प्रसिद्ध हुई।

प्रश्न—प्रीतम के नेह बिन सुहाग प्रसिद्ध किसी भाँति नहीं होता।

उत्तर—यह नायका की निज सखी कहती है। इसलिये कि इसकी प्रीति को किसी सौति की कुदृष्टि न लगे। पर्यायोक्ति अलंकार।

छल करि साधिय इष्ट जहँ पर्य्यायोक्ति सु नाम।
कोउ न टोकै इष्ट यह छल-बच कहि किय काम॥

इस अर्थ को, जो अमरचंद्रिका तथा हरिप्रकाश टीकाओं के विवरण में इसी दोहे के अर्थ दिए गए हैं, उनसे मिलान करने पर, लल्लूलाल जी के विषय में जो बात ऊपर कही गई है वह प्रमाणित होती है।

इस टीका में आजमशाही क्रम ग्रहण किया गया है जिसका विवरण ५ वें अंक के क्रम में किया गया है। ज्ञात होता है कि लल्लूलाल जी को मकसूदाबाद जाते समय काशी में इस क्रम की कोई प्रति हाथ लगी थी, क्योंकि इस क्रम की प्रतियाँ विशेषतः काशी तथा जौनपुर ही के प्रांत में प्राप्त होती हैं, जिस प्रकार पुरुषोत्तमदास जी के क्रम की प्रतियाँ विशेषतः बुँदेलखंड तथा ब्रज के प्रांतों में मिलती हैं। इस प्रति का क्रम लल्लूलाल जी ने उत्तम देखकर अपनी टीका में वही रखना उचित समझा। पर कहीं कहीं उसके क्रम से उन्होंने कुछ भेद कर दिया है, और कुछ दोहे अन्य क्रम की पुस्तकों में अधिक अथवा न्यून पाकर घटा बढ़ा भी दिए हैं। आजमशाही की मुख्य प्रति में जो दोहे बिहारी-रत्नाकर से न्यूनाधिक हैं उनका ब्यौरा तो

उस क्रम के विवरण में लिखा जा चुका है, यहाँ लालचंद्रिका में आज़मशाही क्रम से जो न्यूनाधिक्य अथवा हेरफेर किया गया है वह लिखा जाता है।

लालचंद्रिका के अंतिम दोहे पर ७२६ अंक है, पर इसमें दो दोहे, अर्थात् "नेक न जानी जाति इत्यादि" तथा "जगत जनायो इत्यादि", दो दो बार आए हैं। अतः लालचंद्रिका में सब दोहे ७२४ ठहरते हैं, और आज़मशाही क्रम में, जैसा कि उसके विवरण में लिखा गया है, केवल ७१७ दोहे हैं। इन ७१७ दोहों में से ५ दोहे लालचंद्रिका में नहीं रक्खे गए हैं, अतः आज़मशाही प्रति के केवल ७१२ दोहे लालचंद्रिका में लिए गए हैं, और १२ दोहे आज़मशाही प्रति के दोहों से इसमें अधिक हैं। जो ५ दोहे लालचंद्रिका में नहीं रक्खे गए हैं वे बिहारी रत्नाकर में भी नहीं हैं। ज्ञात होता है कि उनको कृष्णलाल की टीका, हरिप्रकाश टीका तथा कृष्णदत्त की टीका में न पाकर लल्लूलाल जी ने निकाल दिया। जो १२ दोहे लालचंद्रिका में अधिक हैं उनमें से 'संवत ग्रह ससि इत्यादि' दोहा तो उन्होंने कृष्णलाल की टीका से, उसको बिहारी-सतसई की समाप्ति का दोहा समझकर ले लिया, और शेष ११ दोहे हरिप्रकाश टीका में सबके सब, तथा अपनी अन्य आधारभूत टीकाओं में किसी को पाकर अपनी टीका में रख लिया। उनमें से एक दोहा 'चित तरसत इत्यादि' तो उन्होंने १२८ संख्या पर रक्खा है, और शेष १० दोहे अंत में। इनके अतिरिक्त बीच बीच के ८ दोहों को भी उन्होंने किसी टीका में न पाकर अंत में रक्खा है। उन्होंने अपनी भूमिका में जो लिखा है कि "सतसई में नृपस्तुति के दोहे छोड़ जो दोहे ७०० से अधिक और कवियों के बनाये जो मिले हैं तिनमें से जिसका ठिकाना टीकाकारों के ग्रंथ में पाया तिसे पीछे रहने दिया और जिसका प्रमाण कहीं न पाया तिसे निकाल दिया।" उससे ज्ञात होता है कि जो ५ दोहे आज़मशाही क्रम वाली पुस्तक के लालचंद्रिका में नहीं आए हैं वे लल्लूलाल जी ने अपनी छवों आधारभूत टीकाओं में न पाकर और बिहारी के न समझकर निकाल दिए हैं। उनके बिहारीकृत न होने का अनुमान तो उनका ठीक है, पर जो और १८ दोहे उन्होंने

लालचंद्रिका के अंत में रक्खे हैं उनमें से ७ दोहे तो वास्तव में बिहारी के नहीं हैं पर ११ दोहे जो 'कूट' शीर्षक के नीचे लिखे हैं वे प्राचीन प्रतियों तथा उनके पूर्व की टीकाओं में पाए जाते हैं। लल्लूलाल जी ने न जाने क्या समझ-कर उनको अंत में रखना उचित समझा। इस न्यूनाधिक्य तथा हेर फेर के अतिरिक्त भी कतिपय दोहों के स्थानों में आज़मशाही क्रम की अपेक्षा लाल-चंद्रिका में कुछ हेर फेर दिखाई देता है। बिहारी-रत्नाकर से लालचंद्रिका में जो न्यूनाधिक्य है उसका ब्यौरा बिहारी-रत्नाकर के अंत में जो परिशिष्ट तथा सूचियाँ हैं उनसे ज्ञात हो सकता है।

पहले पहल लालचंद्रिका स्वयं लल्लूलाल जी ही के संस्कृत प्रेस, कल-कत्ता, में सन् १८१९ ई० में छपी थी, और फिर इसका एक संस्करण काशी के लाइट प्रेस में छपा। सन् १८९६ ई० में इसका एक बड़ा उत्तम संस्करण सर जी.ए. ग्रियर्सन के.सी.एस आई.सी.आई ई.,ने अपनी बृहद् तथा अत्यंत उपयोगी भूमिका तथा भाषाभूषण के अँगरेजी अनुवाद के सहित गवर्नमेंट प्रेस, कलकत्ता, में छपवाया था। इस संस्करण का संपादन बड़ी ही योग्यता, बहुदर्शिता तथा परिश्रम से किया गया है जिससे उक्त साहब महोदय का हिंदी भाषा का मर्मज्ञ तथा पूर्ण प्रेमी होना प्रमाणित होता है। यह संस्करण अँगरेजी जाननेवाले बिहारी के पाठकों के निमित्त बड़ा उपयोगी है। ये तीनों संस्करण अब अप्राप्य हो गए हैं। केवल सन् १९०५ ई० की नवलकिशोर प्रेस की छपी हुई लालचंद्रिका अब मिलती है। इसके एक शुद्ध और उत्तम संस्करण के प्रकाशित होने की बड़ी आवश्यकता है।

२१. रामजू की टीका

मिश्रबंधुविनोद में १९८४ अंक पर रामजूकृत एक बिहारी-सतसई की टीका लिखी है, और रामजू का कविता-काल संवत् १९०१ के पूर्व बतलाया है। इस टीका के अस्तित्व के विषय में संदेह है, जो हम ग्यारहवें, अर्थात् प्रेमपुरोहित के क्रम के विवरण में लिख चुके हैं।

इस टीका के साथ विक्रम की उन्नीसवीं शताब्दी में निर्मित टीकाओं की

समाप्ति होती है। अब आगे बीसवीं शताब्दी की टीकाओं का आरंभ होगा।

बाइसवीं टीका नव्वाब जुल्फिकार अली की कुंडलिकावृत्त नाम की है। वास्तव में इसको, तथा ऐसे और कुंडलियाओं तथा कवित्त सवैयों के ग्रंथों को टीका नाम देना संगत नहीं है। इनको दोहों के भावार्थ का विस्तार मात्र कहना समुचित है।

२२. नव्वाब जुल्फिकार अली की कुंडलिया

ग्रिअर्सन साहब ने, शिवसिंह का अनुकरण करके, जुल्फिकार की टीका का रचनाकाल सन् १७२५ ई० अर्थात् संवत् १७८२ लिखा है, और यह अनुमान अपने मन से किया है कि कदाचित् यह वही जुल्फिकार खाँ अमीर उल् उमरा नसरतजंग थे जिनका जन्म सन् १६५७ ई० तथा मृत्यु सन् १७१३ ई० में हुई थी। पंडित अंबिकादत्त जी व्यास ने इसी बात को ठीक मानकर फर्रुखसिअर बादशाह के वजीर की लड़ाई का कुछ वर्णन भी उद्धृत किया है। मिश्रबंधु-विनोद में इनका समय तो वही लिखा है जो शिवसिंहसरोज में है, पर इतना विशेष कहा है कि ये बुंदेलखंड के शासक अलीबहादुर के पुत्र थे।

इस ग्रंथ के अंत में इसके रचना-काल का जो यह दोहा दिया है—

"गुन नभ ग्रह अरु इंदु नभ सित पंचमि बुधवार।
जुल्फिकार सतसई कौ प्रगट भयो अवतार॥"

उससे इसका रचना-काल संवत् १९०२ ठहरता है, और इसकी समाप्ति में जो "सिद्धिश्रीमच्छ्री ५ नव्वाब जुल्फकार अलीबहादुरविरचिता कुंडलिका-वृत्तसप्तशतिका समाप्ता" लिखा है, उससे जुल्फिकार का पूरा नाम जुल्फिकारअली विदित होता है। पर बहादुरशाहवाले जुल्फिकार का पूरा नाम जुल्फिकारखाँ था। समय तथा नाम दोनों की विवेचना से कुंडलिया-वाले जुल्फिकार अली बहादुरशाह के वजीर से भिन्न थे। अनुमान यह होता है कि या तो ये लखनऊ के नव्वाबों के वंश में कोई व्यक्ति थे अथवा किसी अन्य स्थान के। इस ग्रंथ की दो प्रतियों के श्रीमान् काशिराज के सरस्वती-भवन में विद्यमान होने से यह भी अनुमान होता है कि कदाचित्

ये अपने पैतृक पद से च्युत होकर काशी में रहते रहे हों तो कोई आश्चर्य नहीं। काशी में उन दिनों सरदार, मणिदेव प्रभृति अच्छे अच्छे कवि विद्यमान थे। संभव है कि उन्हीं में से किसी ने यह कुंडलिकावृत्त सप्तशती उक्त नव्वाब साहब के नाम से बनाई हो।

इस ग्रंथ में "अमी-हलाहल-मधुभरे इत्यादि" दोहे पर भी कुंडलिया लगाई गई है। पर यह दोहा बिहारी का नहीं है, प्रत्युत गुलामनबी बिलिगरामी का है, जिनका उपनाम रसलीन था। इनका अंगदर्पण नामक ग्रंथ संवत् १७९४ में बना था। अतः इस कुंडलिया ग्रंथ के बनाने अथवा बनवानेवाले वह जुल्फिकार नहीं हो सकते जिनका देहांत संवत् १७७० में हुआ था।

इसकी कुंडलियाओं की रचना मध्यम श्रेणी की है। उनसे अर्थज्ञान में विशेष सहायता प्राप्त नहीं होती। निदर्शनार्थ एक दोहे की कुंडलिया लिखी जाती है—

पार्‌यौ सोरु सुहाग कौ इनु बिनु हीं पिय-नेह।
उनदौंहीं अँखियाँ ककै कै अलसौंहीं देह॥
कै अलसौंहीं देह खिसौंही सी कै ठाढ़ी।
प्रीति जनावति अधिक रीति रति की जो गाढ़ी॥
गाढ़ी करि अंग आँगि घाघरौ घनो बिगार्‌यौ।
हार्‌यौ हियौ दिखाइ अनोखौ आनँद पार्‌यौ॥

इस ग्रंथ में दोहों का पूर्वापरक्रम पुरुषोत्तमदास जी के क्रमानुसार रखा गया है, जिसका विवरण तीसरे क्रम में हो चुका है, पर इसमें कुछ दोहे आगे पीछे कर दिए गए हैं।, इसके अतिरिक्त इस पुस्तक में २१ दोहे ऐसे हैं जो पुरुषोत्तमदास जी के क्रम की पुस्तक में नहीं हैं, और पुरुषोत्तमदास जी के क्रम के १९ दोहे इसमें नहीं हैं। इस पुस्तक में जो ७०३ दोहे, सोरठे रखे गए हैं उनमें से ३१ दोहे सोरठे बिना कुण्डलिया लगाए ही रख दिए गए हैं, जैसा कि स्वयं ग्रंथकार ने इस दोहे से विदित कर दिया है—

दोहा और जु सोरठा हुते छंद-अवरोध।
ते बिरचे नहिं याहि तें कुंडलियावृत सोध॥

मिश्रबंधु-विनोद में २०२५ अंक पर कन्नौज-निवासी ईश्वरीप्रसाद कायस्थ की बनाई हुई बिहारी-सतसई पर कुण्डलियों की एक पुस्तक लिखी है। उक्त ग्रंथ में ईश्वरीप्रसाद का जन्म-काल संवत् १८८६ तथा कविता-काल संवत् १९१० बतलाया है। इनके पाँच और ग्रंथों के ये नाम भी उसमें दिए हैं—(१) जीव-रक्षावली, (२) व्यांकरण-मूलावली, (३) नाटक रामायण, (४) ऊपा-अनिरुद्ध नाटक, (५) तवारीख महोवा।

२३ ईश्वरीप्रसाद कायस्थ कृत कुण्डलिया

यह टीका हमने नहीं देखी है।

चौबीसवीं टीका सरदार कवि की है। इसकी एक प्रति स्वयं सरदार कवि के शिष्य नारायणदास जी कवि की लिखी हुई हमारे पास थी, पर दीमकों को कुछ ऐसी प्रिय लगी कि वे उसको सब चट कर गए। अतः हम उसके विषय में कुछ विशेप नहीं कह सकते। जहाँ तक हमको स्मरण है, वह टीका बहुत अच्छी है और संवत् १९२० तथा १९३० के बीच की बनी है। इसका विवरण सर जी० ए० ग्रिअर्सन, पंडित अंविकादत्त जी व्यास तथा मिश्रबंधु महाशयों ने भी किया है। सरदार कवि को हमने स्वयं अपनी बाल्यावस्था में देखा था। संवत् १९४० के कुछ पीछे तक वे जीवित थे। उस समय उनकी अवस्था ७० वर्ष के ऊपर रही होगी। वे स्वर्गवासी श्रीमान् महाराजा सर ईश्वरीप्रसाद नारायण सिंह जी देव, काशिराज की सभा के कवियों में थे। काशी के भदैनी मोहल्ले में, हमारे घर से थोड़ी ही दूर पर, वे रहते थे, और हमारे पूज्य पिता जी के पास प्रायः आया करते थे। हम कभी कभी उनसे कुछ पद भी लेते थे। इनके पिता का नाम हरिजन था। ये प्रसिद्ध साहित्यवेत्ता प्रतापशाही के शिष्य थे;

२४ सरदार कवि की टीका

और स्वयं भी साहित्य के बड़े विद्वान् तथा अपने समय में भाषा काव्य के अद्वितीय पंडित और जानकार थे। सेवकराम तथा मणिदेव प्रभृति बड़े बड़े कवि भी उनके सामने साहित्य विषय पर बातचीत करते हिचकते थे। यद्यपि इनकी कविता बहुत उच्चश्रेणी की तथा विशेष सरस नहीं होती थी पर इनकी जानकारी परले सिरे की थी। पिंगल और अलंकार में तो ये अपना उपमान नहीं रखते थे। ये बड़े लंबे चौड़े हाथ पावों के मनुष्य थे, और इनके मुख पर बुँदेलखंडी श्वेत दाढ़ी इनकी आकृति को और भी दबंगता प्रदान करती थी। ये कवित्त ऐसा ललकारकर पढ़ते थे कि घर गूँज उठता था।

इनके बनाए इतने ग्रंथ देखने सुनने में आए हैं—(१) साहित्यसरसी, (२) हनुमद्भूषण, (३) तुलसीभूषण, (४) मानसभूषण, (५) कविप्रिया की टीका, ६) रसिकप्रिया की टीका, (७) बिहारी-सतसई की टीका, (८) सूरदास के ३८० कूट पदों की टीका, (९) व्यंगविलास, (१०) षट्ऋतु, (११) राम-रत्नाकर, (१२) रामरसयंत्र, (१३) साहित्य-सुधाकर और (१४) रामलीला-प्रकाश। इनके अतिरिक्त इन्होंने प्राचीन कवित्तों का एक संग्रह भी बड़ा उत्तम किया था जिसका नाम शृंगार-संगर है, और संस्कृत के मुक्तावली नामक न्याय के ग्रंथ का दोहे चौपाई इत्यादि छंदों में अनुवाद भी किया था। खेद का विषय है कि इनके सब ग्रंथ प्राप्त नहीं होते।

२५. गदाधर जी की टीका

हमारे विद्याभूषण पंडित रामनाथ जी ज्योतिषी जयपुर से सतसई की एक टीका के कुछ पत्रे हमारे दिखलाने के निमित्त ले आए थे, जो कि देखने के पश्चात् लौटा दिए गए और उसके स्वामी को लिखा गया कि वे कृपया समग्र टीका की एक प्रति हमारे पास भेज दें। पर उस समय और कार्य्यों के बाहुल्य के कारण उसकी प्राप्ति की कुछ विशेष ताक नहीं की गई, अतः वह टीका हमको प्राप्त न हुई। वह प्रसिद्ध कविकुलचूड़ामणि पद्माकर जी

के किसी वंशज की (संभवतः गदाधर जी की) रची हुई है, और जहाँ तक मुझे स्मरण है, कृष्णदत्त की टीका की भाँति उसमें भी दोहों पर कवित्त सवैया बनाए गए हैं और अर्थ भी कुछ खोले गए हैं। गदाधर भट्ट के विषय में मिश्रबंधु-विनोद में यह लिखा है—

"ये महाशय मिहींलाल के पुत्र और प्रसिद्ध कवि पद्माकर के पौत्र थे। इनका स्वर्गवास दतिया में ८० वर्ष की अवस्था में संवत् १९५५ के लगभग हुआ था। जयपुर, दतिया और सुठालिया के महाराजाओं के यहाँ इनका विशेष मान था। जयपुर के महाराजा सवाई रामसिंह के इच्छानुसार इन्होंने संवत् १९४२ में कामांदक नामक संस्कृत-नीति का भाषा-छंदों में अनुवाद किया। अलंकार-चंद्रोदय, गदाधर भट्ट की वानी, कैसर सभा विनोद, और छंदोमंजरी नामक इनके ग्रंथ प्रसिद्ध हैं। अंतिम ग्रंथ कवि जी ने सुठालिया के राजा माधवसिंह के आश्रय में बनाया। इसकी कवि ने वार्तिक व्याख्या भी लिखी थी। गदाधर जी का काव्य परम प्रशंसनीय और मनोहर है। इनकी भाषा खूब साफ सानुप्रास और श्रुतिमधुर है। हम इनको तोष कवि की श्रेणी में रखेंगे।"

इस ग्रंथ की रचना संवत् १९२५ के आसपास की अनुमानित करके हमने इसके विवरण को यह २४ वाँ स्थान दिया है।

रसकौमुदी नामक ग्रंथ में, जिसका विवरण आगे होगा, दो और टीकाओं के नाम लिखे हैं—(१) धनंजयकृत टीका, तथा (२) गिरिधरकृत टीका।

२६-२७. धनंजय तथा गिरिधर की टीकाएँ

इन दोनों टीकाओं के विषय में नाम के अतिरिक्त उक्त ग्रंथ में और कुछ नहीं लिखा है, और किसी अन्य ग्रंथ से भी इनका कुछ पता नहीं मिलता। अतः हमने इनको रसकौमुदी के पहले स्थान दिया है।

अट्ठाइसवीं टीका, अथवा दोहों का सवैया तथा घनाक्षरी छंदों में विस्तार रसकौमुदी है। इसके रचयिता अयोध्या के कनकभवन स्थान के महंत श्री प्यारेलाल जी के शिष्य श्री जानकीप्रसाद जी उपनाम रसिकविहारी अथवा रसिकेश थे। संवत् १९२७ में इस ग्रंथ की रचना हुई। इसमें बिहारी के ३१६ दोहों का सवैया तथा घनाक्षरी छंदों में विस्तार किया गया है।

२८. रसकौमुदी टीका

इनकी जीवनी मिश्रबंधु-विनोद में यह दी है—

"इनका जन्म संवद् १९०१ में हुआ था। आप कुछ समय में वैरागी होकर अयोध्या में कनकभवन के महन्त हो गये, और अपना नाम आपने जानकीप्रसाद रखा। वैरागी होने के पूर्व आप पन्ना में दीवान थे। आपने रामरसायन (६०८ पृष्ठ), काव्यसुधाकर (१४७ पृष्ठ), इश्क-अजायब, ऋतुतरंग, विरहदिवाकर, रसकौमुदी, सुमतिपचीसी, सुयशकदम्ब, कानून-मजमूआ, संग्रहचित्तावली, मनमंजन, संग्रहीत संग्रही, गुलपचीसी आदि २६ ग्रन्थ रचे हैं। इनके प्रथम दो ग्रंथ हमारे पास इस समय प्रकाशित रूप में वर्तमान हैं। रामरसायन में रामायण की कथा और काव्यसुधाकर में छन्द रस भाव अलंकार आदि काव्यांगों का अच्छा वर्णन है। इनका शरीरपात हुए थोड़े दिन हुए हैं। आपका काव्य चमत्कारिक है। हम इन्हें तोप की श्रेणी में रखते हैं। इन्होंने उर्दू मिश्रित भाषा में भी रचना की है।"

बिहारी-विहार की भूमिका में उनके दो ग्रंथों के नाम और मिलते हैं—
(१) कवित्त वर्णावली, (२) बजरंगबत्तीसी।

इनकी कविता यद्यपि कृष्णदत्त की-सी उत्तम तो नहीं है, तथापि मध्यम श्रेणी में उच्चकोटि की है। निदर्शनार्थ एक दोहे का घनाक्षरी छंद नीचे लिखा जाता है—

सुनत पथिकमुंह माह निसि लुवैं चलति उहिं गाम।
बिनु बूझैं बिनुहीं कहैं जियति बिचारी बाम॥ २८५॥

बीते वह द्यौस प्रानप्यारी की न पाई सुधि,
दई वह रौहै किमि अति सुकुमारी है।
सोचत हिये मैं छैल बिबस बिदेस माहिं,
मो में प्रान वाकौ प्रिय प्रान हूँ तें प्यारी है॥
ता छन बटोही ओऊ चरचा चलाई कछू,
रसिकबिहारी भयौ अधिक सुखारी है।
सुनी उहिं गाम माहिं निसि मैं चलत लूह,
सुने बिन बूझे बाम जियति बिचारी है॥

रसकौमुदी ग्रंथ सन् १८८५ ईसवी में हरिप्रकाश प्रेस, काशी, में मुद्रित हुआ था। इसी के साथ इस ग्रंथकार के सुयशकदम्ब, सुमतिपचीसी एवं शब्दार्थ नाम के तीन छोटे ग्रंथ एवं कुछ प्रार्थना के कवित्त और कुछ स्फुट कवित्त भी छपे हैं।

इसके ३१६ दोहों के क्रमादि का वर्णन बारहवें क्रम में हो चुका है।

जब हमारे विद्याभूषण पण्डित रामनाथ जी सतसई की प्रतियों तथा टीकाओं की खोज में जयपुर गये थे तो कुलपति मिश्र के एक वंशज श्री पण्डित बदरीप्रसाद जी से उनका साक्षात् हुआ था। वे उस समय बाँदीकुई स्टेशन पर रेलवे दफ्तर में काम करते थे। उन्होंने कहा था कि हमारे पिता

२६. अयोध्याप्रसाद की टीका

श्री पण्डित अयोध्याप्रसाद जी की बनाई हुई सतसई पर एक बृहत् टीका है, जिसकी हमने स्पष्ट लिपि करके श्रीमान् पण्डित रामेश्वर भट्ट जी आगरा-निवासी को प्रकाशनार्थ दिया है। पर यद्यपि उसको दिए बहुत दिन हो चुके हैं तथापि उन्होंने उसको अभी तक प्रकाशित नहीं किया है, और न लौटाया ही है। अब हम उनको स्मारक पत्र लिखकर उसके शीघ्र छपवाने अथवा लौटा लेने का प्रबंध करेंगे, और यदि लौट आवेगी तो आपके पास भेज देंगे।

कुछ दिनों तो हमने उनके पत्र की प्रतीक्षा की, और फिर कार्यबाहुल्य तथा आलस्य से उसका विस्मरण हो गया। अब उस बात को ४-५ वर्ष हो गये। अब हमको उनका इस समय का पता भी ज्ञात नहीं है और न श्रीमान् पण्डित रामेश्वर भट्ट जी ही इस संसार में हैं कि उनसे उसका पता लग सके। उक्त भट्टजी के सुयोग्य पुत्र पण्डित बदरीनाथ जी भट्ट इस समय लखनऊ की यूनीवरसिटी में हिंदी के लेकचरर हैं। उनसे हमने स्वयं पूछा था पर कुछ पता न चला।

इसका रचना-काल संवत् १९३० के आसपास अनुमानित करके हमने इसको यह २८ वाँ स्थान दिया है।

शिवसिंह-सरोज से दो और टीकाओं का पता मिलता है—(१) रामबक्स कृत टीका, तथा (२) गंगाधर कृत उपसतसइया। इन टीकाओं

३०-३१ रामबक्स कृत तथा गंगाधर कृत टीकाएँ

के विषय में उसमें कुछ विशेष नहीं लिखा है और न इनके रचना-काल ही बतलाये हैं। अतः हम इनको शिवसिंहसरोज के रचना-काल के पूर्व की मानकर २९ वाँ तथा ३० वाँ स्थान देते हैं, यद्यपि वास्तव में इनका स्थान और भी पूर्व होना अधिक सम्भावित है।

शिवसिंह-सरोज में इनके विषय में यह लिखा है—

(१) रामबक्स—"ये राना सिरमौर के यहाँ थे और रससगार नामक भाषा साहित्य में एक ग्रंथ महासुंदर बनाया है, और सतसई की टीका बहुत सुंदर की है।" रससागर में से ये तीन दोहे और तीन कवित्त भी उक्त ग्रंथ में उद्धृत किये हैं—

चित्रित दस अवतार सखि तामैं सतवौं कौन।
वंक चितै कै जानकी मुसुकानी गहि मौन॥ १॥

राधा प्यारी फाग मैं गहि गहि कान्हहि लेति।
दियौ न मैं यह जानि कै फिरि फिरि काजर देति॥ २॥

अंतरिच्छ गच्छत सुपथ ह्वै सपच्छ बुध चित्त।
अच्छर प्रभु के ध्यान के इच्छत कविता वित्त ॥ ३ ॥

कवित्त

चरचत चाँदनी चखन चैन चुयौ परै,
चौंधा सो लग्यो है चारों ओर चित चेत ना।
गुंजत मधुपवृंद कुंजन मैं ठौर ठौर,
सोर सुनि सुनि रह्यो परत निकेत ना ॥
राम सुने कूकन करेजो कसकत आली,
केकिन कों कोऊ अब मूँदि मुख देत ना।
अंत करे डारत वसंतहि वनाय हाय,
कंतहिं विदेस तें बुलाय कोऊ लेत ना ॥ १ ॥
दंग करि दंगल उदंगल उदंग करि,
मंगल कै मंगल अमंगल दवाइहौं।
छीरनिधि मंडि धूरिधारनि वमंडि घन,
मंडलै घमंडि घननादहिं वहाइहौं ॥
राम कवि कहै मैं अकेला आज हेला करि,
देखत सुहेला लंक ढेला लौं वहाइहौं।
महामद अंध दसकंध के उतंग उत,
काटि उत्तमंग हार हर कौ बढ़ाइहौं ॥ २ ॥
दीरघ दँतारे भारे अंजन-अचल कारे,
गाढ़े गढ़ कोट पट तोरत पविन के।
चापवंत घन से सिंगारे वारि बरसत,
सुण्डन उदंत रथ रोकत रविन के ॥
कहै रामबकस सपूत सिरमौर राना,
ऐसे गज देत महामन्दिर छविन के।
वारे मथवान वारे महा मयदान वारे,
दानवारे दानवारे द्वारे में कविनके ॥ ३ ॥

(२) गंगाधर—"इन्होंने उपसतसइया नामक सतसई का तिलक कुंडलिया छंद और दोहों में बनाया है।"

उपसतसइया में से शिवसिंह जी ने यह उदाहरण भी दिया है—

मेरी भवबाधा हरौ राधा नागरि सोइ।
जा तन की झाईं परें स्याम हरित दुति होइ ॥१॥
स्याम हरित दुति होइ हरत हिय हेरन हारहिं।
याही तें सब हरे हरे कहि नाम उचारहिं॥
जिहिं झाईं तें लह्यौ हरन गुन हरि सो राधा।
नागर नेकु निहारि हरो मेरी भवबाधा ॥ १ ॥
तजि तीरथ हरि राधिका तनदुति करि अनुराग।
जिहिं ब्रज केलि निकुंज मग पग पग होत प्रयाग ॥२॥
पग पग होत प्रयाग सितासित जावक लागे।
गंगा जमुना सरस्वती लज्जित तिन आगे॥
रस अनुराग सिंगार प्रेम के बरन चरन भजि।
ब्रजनिकुंज मग लोटि परचो रज सब तीरथ तजि ॥२॥
कर मुरली बनमाल उर सीस चंद्रिका मोर।
या छवि सों मो मन बसौ निसिदिन नंदकिसोर ॥३॥

बत्तीसवीं टीका प्रभुदयाल पाँडे जी की है। पंडित अंबिकादत्त व्यास जी ने इस टीका तथा टीकाकार के विषय में यह लिखा है—

"यह टीका संवत् १९५२ में कलकत्ता बंगवासी आफिस से प्रकाशित की गई है। इसके रचयिता पंडित प्रभुदयाल पाँडे माथुर चतुर्वेदी हैं।

३२. प्रभुदयाल पाँडे की टीका

ये जिला आगरा के निवासी और कानपुर के पंडित प्रतापनारायण मिश्र के शिष्य हैं। इस समय इनका वय २२ वर्ष का है और प्रसिद्ध संवादपत्र हिंदी बंगवासी के सहकारी संपादक हैं। यह टीका कदाचित् अति शीघ्रता से लिखी गई है, क्योंकि अनेक दोहों के पाठ भी गड़बड़ हैं और

अनेक दोहों के अर्थ भी। विशेषता यही है कि टीका की भाषा बहुत उत्तम है और अन्वय तथा शब्द-व्युत्पत्ति का क्रम अच्छा है।"

इस टीका को सामयिक खड़ी बोली में प्रथम टीका होने का गौरव प्राप्त है। इसमें प्रति दोहे का अन्वय दिखलाकर सरलार्थ किया गया है, और वक्ता बोधव्य भी बतलाए गए हैं। इसमें कठिन शब्दों की व्युत्पत्ति तथा अर्थ भी कहे गए हैं। किसी किसी दोहे का भावार्थ तथा शब्दार्थ यद्यपि चिंतनीय है तथापि पाँडे जी का श्रम तथा ढंग प्रशंसनीय है। सतसई के पढ़नेवालों को इससे आदि में सहायता मिल सकती है। निदर्शनार्थ एक दोहे की टीका नीचे लिखी जाती है—

पार्‌यौ सोरु सुहाग कौ इनु विनु हीं पिय-नेह।
उनदौंहीं अँखियाँ ककै कै अलसौंहीं देह॥

अन्वय—उनदौंहीं अँखियाँ ककै, देह अलसौंहीं कै, इन पियनेह-बिनुहीं सुहाग कौ सोर पार्‌यौ।

सरलार्थ—(झूठमूठ) उन्निद्रित आँखें करके, देह आलस्ययुक्त करके, इन्होंने पिय के स्नेह विना ही सुहाग का शोर डाला है (सुहाग का हल्ला मचाया है)। सौत की आँखें रसमसी और देह अलसाई देख के अन्य-संभोग-दुःखिता की अनखभरी बातें सखी से हैं।

शब्दव्युत्पत्ति—उनदौंहीं—सोके उठीं सी, अर्धमीलित। सोरु-हल्ला, गुल। पार्‌यौ—डाला॥ ३७७॥

इस टीका में १४ पृष्ठ की एक भूमिका भी लिखी है, जिसमें वाद-विवाद करके विहारी को माथुर ब्राह्मण और कृष्ण कवि को उनका पुत्र अथवा पुत्रवत् शिष्य माना है। दोहों का क्रम इसमें कृष्णदत्त कवि की टीका का रखा गया है, जिसका विवरण चौथे क्रम में किया गया है।

सतसैया के दोहरे ज्यौं नावक के तीर।
देखत के छोटे लगैं बेधैं सकल सरीर॥
जो कोऊ रसरीति को समुझ्यौ चाहै सार।
पढ़ै विहारी-सतसई कविता को सिंगार॥

ये दो दोहे पाँडे जी ने अपनी भूमिका में बिहारी की आत्मश्लाघा के उदाहरण में लिखे हैं, और फिर इन्हीं दोहों को टीका समाप्त करने पर पाँच और दोहों के साथ सतसई की प्रशंसा में लिखा है। इन्हीं से धोखा खाकर मिश्रबंधु महाशयों ने भी हिंदी-नवरत्न में इनको बिहारी-रचित कहा है, यद्यपि इन दोहों की रचनाप्रणाली तथा शब्द-विन्यास इत्यादि इनको पुकारकर अबिहारीरचित बतलाते हैं।

वास्तव में ये सातों दोहे बिहारी के नहीं हैं। इनमें से ६ दोहे तो कृष्ण कवि के हैं, जो उन्होंने अपनी टीका समाप्त करने पर सतसैया की प्रशंसा में लिखे हैं, और एक दोहा अर्थात् "सतसैया के दोहरे इत्यादि", हरिजू के खर्रे को छोड़कर और किसी प्रति में प्राप्त नहीं होता। पर है यह दोहा सतसैया की प्रशंसा में बहुत विख्यात। ज्ञात होता है कि पाँडे जी ने यह दोहा इधर-उधर सुनकर लिख दिया है, और उन्हीं का अनुकरण मिश्रबंधु महाशयों ने भी, बिना जाँच का विशेष कष्ट उठाए, किया है।

यद्यपि क्रम तो इसमें कृष्ण कवि की टीका का रखा गया है पर कृष्ण कवि की टीका में जो ६९९ दोहे हैं उनमें कुछ न्यूनाधिक्य करके इस टीका में ७१९ दोहे रखे गए हैं। उनमें से एक दोहा "अरे परेखौ इत्यादि" इसमें दोहराकर आया है। शेष ७१८ दोहे जो रह जाते हैं उनमें से तीन दोहे ऐसे हैं जो कृष्ण कवि की टीका में नहीं आए हैं, और २१ दोहे इसमें कृष्ण कवि की टीका से अधिक हैं। इन २१ दोहों में से १७ दोहे लालचंद्रिका में पाए जाते हैं। उन्हीं १७ दोहों में "संवत् ग्रह ससि इत्यादि" दोहा भी है, जिससे पाँडे जी का यह दोहा लालचंद्रिका ही से लेना प्रमाणित होता है। चार दोहे जो इसमें और अधिक हैं उनमें से तीन दोहे तो और किसी-किसी ग्रंथों में भी मिलते हैं, पर "कहौं बात इत्यादि" दोहा पाँडे जी की टीका को छोड़कर और किसी टीका में नहीं आया है। लालचंद्रिका से जो १७ दोहे पाँडे जी ने लिए हैं उनमें से १३ दोहे ऐसे हैं जो बिहारी-रत्नाकर में भी आए हैं।

बिहारी-बिहार की भूमिका में छोटूराम कृत एक वैद्यक टीका भी सतसई की टीकाओं में गिनाई गई है। इस टीका का विवरण कहीं कुछ नहीं मिलता। केवल इतना सुना गया है कि इसके टीकाकार ने प्रत्येक दोहे का अर्थ इस प्रकार से घुमा फिरा, तथा चीर फाड़कर किया है कि उसमें से वैद्यक का कोई योग (नुसखा) निकलता है।

३३. छोटूराम कृत वैद्यक टीका

छोटूराम के विषय में और तो कहीं कुछ नहीं मिलता, पर मिश्रबंधु-विनोद से किसी एक छोटूराम के विषय में इतना ज्ञात होता है कि वे बाँकीपुर के रहनेवाले एक गद्य-लेखक थे, और उन्होंने रामकथा नामक एक ग्रंथ बनाया है।

इस टीका का विवरण बिहारी-बिहार की भूमिका में होनेके कारण हमने इसको उसके पहले स्थान दे दिया है।

चौंतीसवीं टीका, अथवा दोहों का कुंडलियाओं में विस्तार, बिहारी-बिहार है। इसके रचयिता स्वर्गवासी साहित्याचार्य पंडित अंबिकादत्त जी व्यास, उपनाम सुकवि, थे। इनसे मुझसे मित्रता थी, और जब कभी वे काशी आते थे तो प्रतिदिन घण्टों सत्संग रहता था। ये महाशय संस्कृत के पूर्ण विद्वान् और कवि थे, एवं भाषा में भी सुंदर तथा सरस कविता करते थे। इन्होंने स्वयं जो अपना जीवनचरित्र बिहारी-बिहार के अंत में लिखा है उसका संक्षेप यहाँ लिखा जाता है—

३४ पंडित अंबिकादत्त व्यास की कुण्डलियाँ

ये महाशय आदि गौड़ पाराशर गोत्री, यजुर्वेदी एवं भीड़ाकुली ब्राह्मण थे। इनके पूर्वज जयपुर के समीप 'भानपुर' (मानपुर) में रहते थे, और उनकी वृत्ति ज्योतिष की थी। इनके पितामह पंडित राजाराम जी सकुटुंब काशी में आ बसे और वहाँ के प्रसिद्ध ज्योतिषियों में परिगणित हुए। उनके ज्येष्ठ पुत्र पंडित दुर्गादत्त जी थे, जो कविमंडल में दत्त कवि के नाम से प्रसिद्ध हैं, और जिनका पूरा जीवनचरित्र खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर, में अलग छपा

है। इन्हीं के पुत्र साहित्याचार्य पंडित अंबिकादत्त व्यास हुए। इनका जन्म चैत्र शुक्ल अष्टमी संवत् १९१५ में जयपुर में हुआ था। पाँच ही वर्ष की अवस्था से इनके पिता जी ने इनको भाषा तथा संस्कृत की शिक्षा देना आरंभ कर दिया और ये दस ही वर्ष की अवस्था से भाषा की सामान्य कविता करने लगे। धीरे धीरे इनका अभ्यास संस्कृत तथा भाषा दोनों में बढ़ने लगा, और क्रमशः इन्होंने साहित्याचार्य इत्यादि पद प्राप्त किए, और विद्वत्समाज में आदर पाने लगे। संवत् १९४० में ये मधुवनी संस्कृत स्कूल के अध्यक्ष नियत हुए और संवत् १९४२ में मुजफ्फरपुर जिला स्कूल के हेडपंडित हो गए। फिर संवत् १९४४ में ये भागलपुर के जिला स्कूल में भेजे गए। संवत् १९४५ में इनका सामवत् नाटक छपा और इन्होंने संस्कृत भाषा में एक गद्य उपन्यास शिवराज-विजय की रचना में हाथ लगाया। इस अंतर में इनकी प्रसिद्धि बढ़ती रही। ये जहाँ जहाँ जाते थे वहाँ वहाँ धर्मसभा इत्यादि स्थापित कर देते थे, और व्याख्यान देने में ऐसे चतुर थे कि जिस सभा में इनका व्याख्यान होता था उसमें बहुत भीड़ हो जाती थी। संवत् १९४८ में इन्होंने अपना बिहारी-विहार नामक ग्रंथ पहले पहल पूर्ण किया। पर उसको किसी ने चुरा लिया अतः उन्होंने उसको फिर से रचकर संवत् १९५४ में महाराजा सर प्रतापनारायण सिंह जी देव के० सी० आई० ई० अयोध्या नरेश को समर्पित किया। ये शतरंज इत्यादि खेलों में भी बड़े निपुण थे, और अनेक प्रकार के कौतुकों में भी बड़ी दक्षता दिखाते थे। इन्होंने अपने जीवनचरित्र में अपने बनाए हुए ७८ ग्रंथों के नाम दिए हैं। इनकी पूरी जीवनी तथा इनके ग्रंथों का ब्योरा बिहारी-विहार के अंत में द्रष्टव्य है। इन महाशय का स्वर्गवास अगहन बदी १३ सोमवार संवत् १९५७ वैक्रमी को हुआ।

बिहारी-विहार में बिहारी के प्रति दोहे पर एक अथवा अधिक कुंडलियाँ लगाई गई हैं। इनकी कविता बहुत अच्छी और पांडित्यपूर्ण होती थी, यद्यपि इनके छंदों का ढाल तथा शब्दों का विन्यास बहुत उच्च-श्रेणी के नहीं

होते थे। कुंडलियाओं के उस ग्रंथ से बिहारी के दोहों के समझने में कोई विशेष सहायता संभावित नहीं है; हाँ, व्यास जी की कविता का उदाहरण इससे अवश्य मिलता है। निदर्शनार्थ एक दोहे पर व्यास जी की तीन कुंडलियाँ नीचे लिखी जाती हैं—

पार्‍यौ सोरु सुहाग कौ इनु बिनुहीं पिय-नेह।
उनदौंहीं अँखियाँ ककै कै अलसौंहीं देह॥
कै अलसौंहीं देह पोंछि कछु अंजन दृग को।
कच कछु कछु बिथराय मिटाय महावर पग को॥
कंचुकि हूँ दरकाय कपोलनि पीक सवार्‍यो।
परी सुकवि रँग तिया सोर यह घर वर पार्‍यो॥ १॥
कै अलसौंहीं देह ऐंठि अँगिरावति प्यारी।
आनंन पोंछति बार बार आरसी निहारी॥
तोरि तोरि पुनि हार गुहत स्यामहिं मन धार्‍यो।
सुकवि सोर इमि तिया पिया-संग रति को पार्‍यो॥ २॥
कै अलसौंहीं देह फिरे बिनु और करै का।
पिय जो चाहत नाहिं निजहु पनि नाहिं ढरै का॥
झूठेहु लगें कलंक स्याम सँग जनम सुधार्‍यो।
सुकवि याहि सों बाल सोर अति जतनन पार्‍यो॥ ३॥

इस ग्रंथ की भूमिका व्यास जी ने बड़ी योग्यता तथा अनुसंधान से लिखी है, और उसमें बिहारी के जीवनचरित्र इत्यादि की भी बहुत छान बीन की है।

बिहारी-बिहार में दोहों का क्रम लालचंद्रिका के अनुसार रखा गया है। पर ३४ दोहे जो व्यास जी के देखने में अन्य ग्रंथों में लालचंद्रिका से अधिक आए वे भी उन्होंने बिहारी-बिहार के अंत में संग्रहीत कर दिए हैं, और उनमें से १४ दोहों पर कुंडलियाँ भी लगाई हैं। इन ३४ दोहों में से ३२ दोहे बिहारी-रत्नाकर में नहीं आए हैं। ये दोहे वही हैं जो परिशिष्ट में,

स्वर्गीय साहित्याचार्य पं० अंबिकादत्त व्यास वर्णित गद्य संस्कृत टीका, स्वर्गीय पं० हरिप्रसाद जी कृत आर्यागुंफ तथा देवकीनंदन टीका के अधिक दोहों के नाम से लिखे गए हैं।

"सतसैया के दोहरे इत्यादि" दोहा व्यास जी ने हरिप्रसाद जी के 'आर्यागुंफ' से ७ और दोहों के साथ संचित किया है। इन आठों दोहों में से केवल एक दोहे "जुरत सुरत इत्यादि" को छोड़कर शेष ७ दोहों का और किसी पुस्तक में पता हमको नहीं चलता। "जुरत सुरत इत्यादि" वाला दोहा आजमशाही क्रम की चुन्नीलालवाली प्रति में भी पाया जाता है। सात दोहे जो केवल आर्यागुंफ ही में हैं उनके विषय में दोनों ही बातें कही जा सकती हैं कि, इनको हरिप्रसाद जी ने स्वयं बनाया था अथवा कहीं से लेकर रख दिया। पर "जुरत सुरत इत्यादि" दोहे के आजमशाही क्रम में भी प्राप्त होने से यही अनुमान अधिक संगत ठहरता है कि इन आठों दोहों को हरिप्रसादजी ने कहीं पाकर और इनको विहारीकृत समझकर आर्यगुंफ में प्रविष्ट कर दिया, क्योंकि आजमशाही क्रम आर्यगुंफ के बनने के पूर्व का है।

पैंतीसवीं टीका विद्यावारिधि स्वर्गीय पंडित ज्वालाप्रसाद जी मिश्र की

३५. भावार्थ-प्रकाशिका टीका

बनाई हुई भावार्थ-प्रकाशिका नाम की है। यह टीका संवत् १९५४ के पौष मास में १३ बुधवार को समाप्त हुई थी, जैसा कि अंत में दिए हुए इस दोहे से विदित होता है—

वेद बाण अरु अंक विधु संवत् पौष सुमास।
तेरस तिथि बुधवार को पूरन किय सुखरास॥

इस ग्रंथ में मिश्र जी ने अपने परिचयार्थ केवल ये दो दोहे दिए हैं—

बसत राम गंगा-निकट नगर मुरादाबाद।
भजन करत हरि को तहाँ बुध ज्वालापरसाद॥
तिन हित सौं टीका कियौ राधाकृष्ण मनाय।
व्रजविलास रचना कछू भाषा मैं दरसाय॥

मिश्रबंधु-विनोद में इनके विषय में यह लिखा है—

"इनका जन्म संवत् १९१९ में हुआ था। ये महाशय संस्कृत तथा हिंदी के बहुत अच्छे विद्वान् हैं, और स्वतंत्र ग्रंथ तथा अनुवाद मिलाकर कितने ही ग्रंथ बना चुके हैं। भारत-धर्म-महामंडल के ये उपदेशक भी हैं और मंडल ने इन्हें विद्यावारिधि एवं महोपदेशक की उपाधियाँ प्रदान की हैं। हिंदी में ये महाशय बहुत उत्तमतापूर्वक धारा बाँधकर व्याख्यान देते हैं और सारे भारत में घूम घूमकर सनातन धर्म पर व्याख्यान देना इनका काम है। कई सभाओं में आर्यसमाजी पंडितों से इन्होंने शास्त्रार्थ में जय पाई है। आपने शुक्ल यजुर्वेद पर 'मिश्रभाष्य' नामक एक विद्वत्तापूर्ण टीका रची है। इसके अतिरिक्त २० उत्कृष्ट संस्कृत ग्रंथों का आपने भाषानुवाद भी किया है। तुलसीकृत रामायण एवं विहारी सतसई की टीकाएँ भी पंडित जी की प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त दयानंद-तिमिर-भास्कर, जाति-निर्णय, अष्टादश पुराण, सीता-वनवास, भक्तमाल आदि कई अच्छी पुस्तकें भी इन्होंने लिखी हैं। इनकी विद्वत्ता तथा लेखनशक्ति की आज बड़ी प्रशंसा है।"

इनके और ग्रंथों के देखने का तो अवसर हमको नहीं मिला है पर तुलसीकृत रामायण की टीका सरल भाषा में बहुत अच्छी है, और सिद्धांत-कौमुदी की जो भाषा में एक बड़ी व्याख्या इन्होंने लिखी है उससे इनके संस्कृत का पूर्ण पांडित्य प्रकट होता है। बिहारी की इस टीका में इन्होंने एक छोटी सी भूमिका लिखने के पश्चात् बिहारी का जीवनचरित्र १२ पृष्ठों में लिखा है, जिसके देखने से ज्ञात होता है कि मिश्र जी का लेख विशेषतः प्रभुदयाल पाँडे जी की टीका में लिखे हुए बिहारी विषयक लेख पर निर्भर है। आपने भी 'सतसैया के दोहरे इत्यादि', 'ब्रजभाषा बरनी इत्यादि' तथा 'संवत् ग्रह ससि' दोहों को बिहारी-कृत माना है, और पांडे जी की कुछ बातें ज्यों की त्यों ले ली हैं।

इस ग्रंथ के आदि में मिश्र जी ने साहित्यपरिचय नामक एक छोटा

सा प्रबंध भी लगा दिया है। इसमें काव्यलक्षण, रस, भाव, विभावादि तथा अलंकारों का संक्षिप्त वर्णन है। हमको स्मरण होता है कि साहित्य-परिचय नामक एक छोटा-सा ग्रंथ हमने किसी प्राचीन कवि का बनाया हुआ देखा था। यदि हमारी यह धारणा ठीक है तो इस साहित्यपरिचय नामक प्रबंध में दोहे तो उसी ग्रंथ के हैं और बीच-बीचमें व्याख्याएँ मिश्र जी की, यद्यपि मिश्र जी ने यह बात लिखी नहीं है।

इस टीका की निंदास्तुति पंडित पद्मसिंह जी शर्म्मा आवश्यकता से अधिक कर चुके हैं, अतः अब इस पर कुछ और लिखना व्यर्थ है। हाँ, इतना अवश्य कहना उचित जान पड़ता है कि यदि यह टीका वास्तव में विद्या-वारिधि जी की ही लिखी हुई है तो यह एक अनाधिकारचेष्टा का फल मात्र है। निदर्शनार्थ एक दोहे की टीका नीचे लिखी जाती है—

पारयौ सोरु सुहाग कौ इनु बिनुहीं पिय-नेह।
उनदौंहीं अँखियाँ ककै कै अलसौंहीं देह॥

टीका—हे सखी इसने पिया के स्नेह,बिना ही सुहाग का शोर डाला, अर्थात् प्रीति प्रसिद्ध की, उनींदी आँखें अथवा अलसानी देह से यह बात जानी जाती है। यदि कहो कि प्रीतम के नेह बिनु सुहाग प्रसिद्ध नहीं होता तो उत्तर यह कि, यह नायका की निज सखी का वचन सौत की सखी से है कि इसकी प्रीति को किसी सौत की कुदृष्टि न लगे। पर्यायोक्ति—

पर्यायोक्ति जहाँ नई रचना सों कछु बात।
साधै इष्ट बनाय कै निज छल नहीं लखात॥

इस टीका पर श्रीयुत् पंडित पद्मसिंह जी शर्म्मा की सतसईसंहार नामक समालोचना जो लेख-माला के रूप में संवत् १९६७ की सुप्रसिद्ध सरस्वती पत्रिका के कई अंकों में प्रकाशित हुई थी और जो एकत्र करके उक्त पंडित जी के सतसई के संजीवन भाष्य के प्रथम भाग के अंत में सतसई-संहार के शीर्षक के अंतर्गत दी हुई है, द्रष्टव्य है। यद्यपि उक्त समालोचना के कुछ अंश में शर्म्मा जी महाशय ने केवल अपनी परिहासप्रियता के कारण विद्या-

वारिधि जी को अपने व्यंग्य-विशिखों का लक्ष्य बनाया है, जैसा कि "काव्यं रसात्मक वाक्यं" तथा "तददोषै शब्दार्थौं सगुण वनलंकृतिः पुनः क्वपि" इत्यादि के अशुद्ध पाठों पर, तथापि अधिकांश में उनका लेख समुचित ही है।

इस टीका में विद्यावारिधि जी ने क्रम लालचंद्रिका का ज्यों का त्यों रक्खा है। केवल अंत का दोहा न जाने क्यों छोड़ दिया है। यह टीका संवत् १९६० में श्रीवेंकटेश्वर प्रेस, बंबई, से प्रकाशित हुई।

छत्तीसवीं टीका बिहारी-सुमेर नाम की है। यह भी वस्तुतः टीका नहीं है, प्रत्युत पठान सुल्तान, जुल्फिकारखाँ तथा पंडित अंबिकादत्त व्यास प्रभृति की कुंडलियाओं की भाँति बिहारी के दोहों का कुंडलियाओं में विस्तार मात्र है। इसके रचयिता बाबा सुमेरसिंह जी साहेबजादे थे। ये महाशय पटने में सिक्खों की हरिमंदिर नामक संगत के महंत थे। पंडित अंबिकादत्त जी व्यास के बिहारी-बिहार के प्रकाशित होने के समय तक यह ग्रंथ पूरा नहीं हुआ था। अतः व्यास जी ने इसके पूरा होने में संदेह प्रकट किया है। पर २०-२२ वर्ष के अनुमान हुआ कि बाबा सुमेरसिंह जी ने यह ग्रंथ स्वयं हमको काशी में दिखलाया था और इसमें के बहुत से छंद पढ़कर भी सुनाए थे। उस समय यह ग्रंथ पूरा गया था। उक्त बाबा जी उन दिनों कुछ अस्वस्थ थे, और पंजाब जा रहे थे। उसी यात्रा में उनका देहांत पंजाब ही में हो गया। ये महाशय बड़े सज्जन और सरस-हृदय थे, और हमारे ऊपर विशेष कृपा रखते थे। एक बार हमारा इनका साथ पंजाब-यात्रा में हुआ था और हम इनके साथ कई महीने तक पटियाले में रहे थे। उसी यात्रा में हमको पटियाले में चंद्रशेखर जी के पुत्र गौरीशंकर जी वाजपेयी से हम्मीरहठ तथा रसिकविनोद नामक ग्रंथ प्राप्त हुए थे, जो कि छपकर प्रकाशित हो चुके हैं।

३६. साहेबजादे बाबा सुमेरसिंह की कुंडलियाँ

बाबा सुमेरसिंह जी यद्यपि बड़े पंडित न थे, पर कविता सरस और सुहावनी करते थे, और प्रेमी तो ऐसे थे कि कविता पढ़ते पढ़ते अथवा

किसी प्रेम के प्रसंग चलने पर गद्गद् हो जाते थे। उनकी आठ कुंडलियाँ निदशनार्थ विहार-विहार की भूमिका में लिखी हैं। उनमें से चार कुंडलियाँ नीचे लिखी जाती हैं—

मेरी भवबाधा हरहु राधा नागरि सोय।
जा तन की झाईं परे स्याम हरित दुति होय॥
स्याम हरित दुति होय होय सभ कारज पूरो।
पुरुषारथ सहि स्वारथ चार पदारथ रूरो॥
सत गुरु शरण अनन्य छूटि भय भ्रम की फेरी।
मन मोहन मित सुमेरेस गति मति मैं मेरी॥ १॥

सीस मुकुट कटि काछनी कर मुरली उर माल।
एहि बानिक मो मन बसहु सदा विहारी लाल॥
सदा विहारी लाल करहु चरनन को चेरो।
तुहि तज अनत न जाइ कतहुँ प्रियतम मन मेरो॥
मेरो तेरो मिटै मिलै तस संगत ईस।
विहरहुँ ह्वै उनमत्त धार ब्रजरज निज सीस॥ २॥

मोर मुकुट की चंद्रकनि यौं राजत नँदनंद।
मनु शशिसेखर की अकसि किय सेखर सतचंद॥
किय सेखर सतचंद छंद रुचि काम बढ़ावति।
नव नारिनि हिय नेह नवल नागर उपजावति॥
धावति धामहि धाम बाम बर विरह की खटकी।
पूछति सुधि बौराय भाय भरि मोर मुकुट की॥ ३॥

मकराकृत गोपाल के कुंडल सोहत कान।
धर्यो मनो हियवर समर ड्योढ़ी लसत निसान॥
ड्योढ़ी लसत निसान शान ताकी अति चोखी।
अबला को पिख ताहिं होत जु न रति रण रोखी॥
चकित जकित चित थकित बकति नहि करमन हकरा।
तकत इतै उत आइ तान रति जाल सुमकरा॥ ४॥

इस ग्रंथ के क्रमादि के विषय में हम कुछ विशेष नहीं कह सकते, पर इसका निर्माण-काल संवत् १९५५ तथा १९६० के बीच में अनुमान करके उसको यह स्थान देते हैं।

सैंतीसवीं टीका अथवा उर्दू शेरों में बिहारी के दोहों का अनुवाद मुंशी देवीप्रसाद जी कायस्थ उपनाम 'प्रीतम' का रचा हुआ गुलदस्तए-बिहारी नामक ग्रन्थ है। आपके पूर्वज शाहाने-अवध के मीर मुंशी थे और उनका निवासस्थान कानपुर के निकट कनपुरा नाम ग्राम में था। आपके पिता का नाम मुंशी गंगाप्रसाद जी था। आपका जन्म संवत् १९२९ में कानपुर मुहल्ला नवाबगंज में हुआ। यद्यपि आपके पिता का देहांत आपकी बाल्यावस्था ही में हो गया था पर आपकी माता तथा ज्येष्ठ भ्राता मुंशी मन्नूलाल जी ने आपकी शिक्षा-दीक्षा पूर्ण रीति से कराई। आप उर्दू, फारसी तथा अरबी के अच्छे ज्ञाता हैं। समय के हेर-फेर से आपको कानपुर से छतरपुर में जाकर रहना पड़ा जहाँ आपकी ननिहाल है। इस समय आप बिजावर राज्य के शिक्षालयों के इंसपेक्टर हैं। महाराजा साहेब बहादुर छतरपुर की सभा में भी आपका बड़ा मान है। आप बड़े सज्जन, प्रेमी तथा सत्संगी हैं, एवं अपना अधिकांश समय तथा आय महात्माओं तथा रसिकों की गोष्ठी में व्यय करते हैं। उर्दू तथा फारसी के शायर तो आप पहले ही से हैं, पर कुछ दिनों से आप लाला भगवानदीन जी महाशय के संसर्ग से हिंदी की कविता भी करने लगे हैं। आपके बनाए हुए इतने और ग्रन्थ भी हैं—(१) महात्मा बुध जी का जीवनचरित्र, (२) गो-गोहार, (३) बुंदेलखंड का एलबम, (४) श्रीकृष्णजन्मोत्सव, (५) श्री प्रह्लादचरित्र, (६) ट्रवेलर का उर्दू अनुवाद, (७) डेजर्टेड विलेज, (८) शांतिशतक, (९) श्रृंगार-शतक, (१०) स्फुट पदावली, (११) सुदामासम्मिलन, (१२) राजुल विवाह, (१३) कुल्लियात प्रीतम, और (१४) विदुर-मैत्री-सम्मिलन।

३७. गुलदस्तए बिहारी

गुलदस्तए-बिहारी में बिहारी के दोहों का उर्दू शेरों में अनुवाद है। शेरों से लक्षित होता है कि आपने दोहों के अर्थों के समझने में अच्छा प्रयत्न तथा अनुसंधान किया है। आपने उर्दू भाषा में हिंदी के शब्दों का बेखटके प्रयोग किया है, और यह बड़ी बात की है कि बिहारी ऐसे कवि के पूरे एक दोहे का अर्थ उर्दू के एक शेर में झलकाया है, यद्यपि कविता की आवश्यकता, छंद के प्रतिबंध तथा अनुप्रास के अनुरोध से किसी-किसी शेर में कुछ खींचा-तानी करनी पड़ी है।

इस अनुवाद में दोहों के क्रम तथा संख्या ज्यों के त्यों हरिप्रकाश टीका के अनुसार हैं।

यह पुस्तक संवत् १९८१ ही में साहित्य-सेवा-सदन, काशी, से प्रकाशित हुई है। इसकी एक प्रति मुंशी देवीप्रसाद जी महोदय ने कृपया हमारे पास भेजवा दी है जिसके निमित्त मैं उनका कृतज्ञ हूँ। इस अनुवाद के कुछ शेर कायस्थहितकारी नामक उर्दू पत्र में सन् १९०४ ई० में प्रकाशित हुए थे, अतः हम इसका रचना-काल संवत् १९६० के आसपास अनुमानित करके इसको यह स्थान देते हैं।

मिश्रबंधु विनोद के २५२१ अंक पर वर्तमान प्रकरण में चुनारनिवासी पंडित भानुप्रताप तिवारी की बनाई हुई एक बिहारी सतसई सटीक लिखी है, और उनके बनाए हुए इतने ग्रन्थ और भी बतलाए हैं—(१) भानुप्रताप का जीवनचरित्र, (२) भक्तमाल-दीपिका, (३) जीवनी गुरुनानक शाह, (४) कबीर साहब का जीवन, (५) रायबहादुर शालग्राम की जीवनी तथा (६) वर्तमान दृष्टांतदर्पण।

३८. भानुप्रताप तिवारी की टीका

सतसई की टीका के बनने का ठीक संवत् तो मिश्रबंधु-विनोद में नहीं दिया है पर श्री भानुप्रताप जी को वर्तमान प्रकरण में रखा है। मिश्रबंधु-विनोद की रचना संवत् १९६९ में, समाप्त हुई थी जिससे हम पंडित भानु-

प्रताप जी की टीका का रचना-काल अनुमान से संवत् १९६० के आसपास मानकर उसको यह ३८ वाँ स्थान देते हैं।

इस टीका के विषय में हमको और कुछ ज्ञात नहीं है।

उनतालीसवीं टीका साहित्याचार्य श्री पंडित पद्मसिंह जी शर्म्मा की संजीवन-भाष्य नाम की है। यह एक बहुत बृहत् टीका होने की आशा दे रही है। इसके प्रथम भाग में, जो ३६६ पृष्ठों का है, तुलनात्मक समालोचना के द्वारा, तथा बिहारी के पांडित्य और प्रतिभा इत्यादि का प्रशंसन करके केवल सतसई का सौष्ठव स्थापित किया गया है, तथा विहारी पर जो कतिपय दोषारोप लोगों ने किए हैं उनके परिहार की चेष्टा की गई है। इसी में २४५ से ३६६ पृष्ठ तक तो जो समालोचना विद्यावारिधि पंडित ज्वालाप्रसाद जी मिश्र की भावार्थ प्रकाशिका टीका पर क्रमशः सरस्वती में प्रकाशित हुई थी, उसका संग्रह है। दूसरे भाग से दोहों की टीका आरम्भ की गई है। उस भाग का अभी केवल प्रथम खंड बना और प्रकाशित हुआ है। उसमें २८४ पृष्ठ हैं, और उनमें केवल १२६ ही दोहों की टीका समाई है। शर्म्माजी ने बड़ी योग्यता, अनुसंधान तथा दृढ़ता से बिहारी के दोहों को परम उत्कृष्ट काव्य सिद्ध किया है, और बिहारी की भाषा, प्रतिभा तथा रचना-प्रणाली इत्यादि सब ही की अद्वितीय उत्तमता दिखाई है। भाषा तो शर्म्मा जी की ऐसी सजीव तथा फड़कती हुई है कि उसका अनुकरण करना यदि असंभव नहीं तो दुस्तर अवश्य है। उर्दू के लेखकों के ढंग का चित्र इसमें बड़ी सफलतापूर्वक खींचा गया है। उनकी भाषा में केवल दो बातें चिंतनीय हैं—प्रथम तो यह कि फारसी अरबी के शब्द कहीं कहीं आवश्यकता से अधिक प्रयुक्त हुए हैं और दूसरे यह कि भाषा की सजीवता कभी कभी चंचलता की सीमा तक पहुँच जाती है। शर्म्मा जी की सम्मतियाँ किस किस दोहे के विषय में क्या क्या और कैसी कैसी हैं, उनका विवरण करने के निमित्त तो एक पृथक् बृहदाकार ग्रन्थ की आवश्यकता है। यहाँ उनका कथन अतिप्रसंग हो जायगा। उनके

३९. संजीवन भाष्य टीका

निमित्त पाठकों को स्वयं संजीवन भाष्य का प्रथम भाग अवलोकन करना श्रेय है। इसका प्रथम संस्करण ज्ञानमंडल प्रेस, काशी, से संवत् १९७५ में प्रकाशित हुआ था, और द्वितीय संस्करण कुछ थोड़े से न्यूनाधिक्य के साथ संवत् १९७९ में बेताब प्रिंटिंग वर्क्स, दिल्ली, से प्रकाशित हुआ है।

इस टीका में दोहों का क्रम लालचंद्रिका के अनुसार रखा गया है। अभी यह टीका केवल १२६ ही दोहों तक पहुँची और प्रकाशित हुई है, और इतने में ही उसका आकार २८४ पृष्ठ का हो गया है। शर्म्मा जी ने पहले दोहा रखकर संक्षेप से उसके वक्ता तथा बोधव्य का कथन किया है, और फिर अपना अर्थ लिखा है, इसके पश्चात् अपनी व्याख्या लिखकर अर्थ का स्पष्टीकरण किया है और दोहे का सौष्ठव दिखाया है; अन्य कवियों के भी वैसे ही अथवा उससे मिलते हुए काव्य उद्धृत करके उनसे उस दोहे की तुलना की है; और किसी किसी टीकाकार के मत भी उस दोहे के विषय में बहुधा उद्धृत किए हैं; और अंत में दोहे के अलंकार बतलाए हैं और खंडन मंडन भी किया है। दोहों के अर्थ विशेषतः प्राचीन टीकाओं के आधार पर शर्म्मा जी ने अपनी भाषा में किए हैं। दोहों के अर्थों के विषय में हम कुछ विशेष कहना उचित नहीं समझते क्योंकि हमारे अर्थों से शर्म्मा जी के अर्थों में कहीं कहीं भेद है अतः उनके अर्थों की यथार्थता अथवा अयथार्थता दोनों ही के विषय में कुछ कहना हमारे लिए संगत नहीं है।

पंडित पद्मसिंह जी शर्म्मा नायक के नगले, जिला बिजनौर के रहनेवाले हैं। आप तगा जाति के ब्राह्मण हैं, जो दान नहीं लेते, प्रायः जिमींदारी से जीविका प्राप्त करते हैं। आपके पास भी कुछ जिमींदारी है। आप संस्कृत तथा भाषा दोनों के विद्वान् हैं और आपने ज्वालापुर महाविद्यालय से साहित्याचार्य की पदवी भी प्राप्त की है। भाषा की लेख-प्रणाली तो आपकी निराली ही है। आपको संजीवन भाष्य पर हिंदी-साहित्य-सम्मेलन से संवत् १९७९ में १२००) का मंगलाप्रसाद पारितोषक भी मिला है। इस

समय आपकी अवस्था ५० वर्ष के अनुमान होगी। आप हमारे बड़े मित्र हैं, और हम पर बड़ी कृपा रखते हैं।

चालीसवीं टीका अथवा उर्दू शेरों में बिहारी के दोहों का अनुवाद गुल्जारे-बिहारी नामक है। इसको मैंने स्वयं नहीं देखा है। पर गुल्दस्तए-बिहारी की भूमिका में इसका विवरण देखकर तथा इसका रचना-काल संवत् १९७५ तथा संवत् १९८० के बीच में अनुमानित करके मैंने उसको यह स्थान दिया है। यह अनुवाद गुल्दस्तए-बिहारी के ढंग का प्रतीत होता है। इसके रचयिता का नाम भी उक्त भूमिका में नहीं दिया है—केवल इतना ही लिखा है कि राधेश्याम प्रेस (बरेली) से प्रकाशित। "भ्रमर" नामक मासिक पत्र अभी हाल ही में मुझे देखने को मिला था। उसमें एक महाशय का उर्दू पद्यानुवाद "गुल्जारे-बिहारी" के नाम से क्रमशः निकल रहा है।

४०. गुल्जारे-बिहारी

इकतालीसवीं टीका बिहारीबोधिनी है। यह श्रीयुत लाला भगवानदीन जी (दीन) के द्वारा संवत् १९७८ में निर्मित हुई है। ये महाशय ब्रजभाषा तथा खड़ी बोली दोनों के कवि और सुलेखक हैं, तथा उर्दू भाषा में भी शायरी करते हैं। आप श्रीवास्तव कायस्थ हैं और आपके पिता का नाम बख्शी कालिकाप्रसाद था। आपका जन्म संवत् १९२२ की श्रावण शुक्ल ६ गुरुवार को मौजा बरवट परगना गाजीपुर जिला फतेहपुर (हसवा) में हुआ था, पर बहुत दिनों से आप काशी में रहते हैं और इस समय हिंदू युनिवर-सिटी में हिंदी के अध्यापक हैं। आप हम पर बड़ी कृपा रखते हैं। आपने १३ ग्रंथ मौलिक रचे हैं, एक ग्रन्थ का अनुवाद किया है, ५ ग्रन्थ संपादित किए हैं, ३ ग्रन्थों पर टीकाएँ लिखी हैं, २ ग्रन्थों पर टिप्पणी की हैं, २ ग्रंथों पर नोट लिखे हैं और २ ग्रंथ संकलित किए हैं, जिनमें से अधिकांश प्रकाशित हो चुके हैं। हमारे देखने में भी इनमें से कई एक ग्रंथ आए हैं। आपकी

४१. बिहारी-बोधिनी टीका

भाषा बड़ी स्पष्ट है और जिस विषय को आप समझाना चाहते हैं उसको बहुत अच्छे ढंग से समझा देते हैं।

यह टीका खड़ी बोली में है। इसमें प्रति दोहे के नीचे पहले कठिन शब्दों के अर्थ, फिर वक्ता, बोधव्य आदि बतलाकर भावार्थ लिखा गया है। प्रायः दोहों में जो कुछ विशेष बातें लाला जी को दिखलानी अभीष्ट थीं वे "विशेष" शीर्षक के अंतर्गत लिखी गई हैं। किसी किसी दोहे में अर्थ के स्पष्ट करने के निमित्त कुछ अवतरण भी लिखा गया है। लालाजी ने दोहों का अर्थ अपने मतानुसार बहुत स्पष्ट तथा सरल भाषा में प्रकाशित किया है। किसी किसी दोहे के अर्थ में उन्होंने अपने पूर्व के टीकाकारों से भिन्नता भी की है और कोई कोई बात सर्वथा नई भी लिखी है। अंत में लालाजी ने दोहों के अलंकार भी बतलाए हैं। यह टीका विद्यार्थियों के निमित्त बिहारी-सतसई पढ़ने के लिये बड़ी उपयोगी है। निदर्शनार्थ एक दोहे की टीका यहाँ लिखी जाती है—

पार्यौ सोरु सुहाग कौ इनु बिनु हीं पिय-नेह।
उनदौंहीं अँखियाँ ककै कै अलसौंहीं देह॥

टीका—शब्दार्थ—सोर = ख्याति। उनदौंही=उनीदी सी। ककै = करके।

(वचन)—सवति के विषय में सखी का वचन नायिका प्रति।

भावार्थ—इसने (तुम्हारी सवति ने) बिना नायक के नेह के ही उनींदी आँखें और आलस्ययुक्त देह बनाकर अपने सुहाग की ख्याति फैला दी है (वास्तव में नायक रात को उसके पास नहीं रहा न उससे प्रेम ही करता है जैसा तुम बाहरी चिह्नों से अनुमान करती हो)।

अलंकार—विभावना और पर्यायोक्ति।

इस टीका में दोहों का पूर्वापरक्रम हरिप्रकाश टीका के अनुसार रखा गया है। ७१० दोहों तक तो वही दोहे और वही क्रम हैं, और वहीं इति लगा दी गई है। हरिप्रकाश के अंत में जो दोहे हैं उनमें से केवल एक "हुक्म पाय जयसाहि इत्यादि", तो इस ग्रन्थ में रखा गया है और तीन

छोड़ दिए गए हैं, और १४ दोहे अन्य पुस्तकों से लेकर रख दिए गए हैं। उनमें से कुछ तो बिहारी के हैं और कुछ इधर उधर के, जो अन्य किसी किसी ग्रंथ में बिहारी के नाम से पाए जाते हैं। "संवत् ग्रह ससि इत्यादि" दोहा इसमें इन्हीं चौदहों दोहों में सम्मिलित है।

१४२, कुलपति मिश्र, ४३, उमेदराम तथा ४४, सूर्यमल्ल की टीकाएँ

(१) कुलपति मिश्र की टीका—इस टीका के विषय में और कुछ नहीं ज्ञात है। सुना है कि कुलपति मिश्र ने भी बिहारी-सतसई पर एक टीका की थी। कुलपति मिश्र का वृत्तांत बिहारी की जीवनी में द्रष्टव्य है।

(२) बारहट उमेदरामजी की टीका—बारहट उमेदराम जी ग्राम हरगूँतिया राज्य जयपुर, के निवासी बड़े कवि थे। बिहारी-सतसई की टीका के सहित १४ ग्रन्थ इनके जाने गए हैं। सतसई की टीका देखने में नहीं आई।

(३) महाकवि सूर्यमल्लजी की टीका—सुना है कि वंशभास्कर के कर्त्ता महाकवि सूर्यमल्ल जी ने भी सतसई के कुछ दोहों पर तिलक किया था पर उसको वे प्रकाशित नहीं कर सके।[1]

४५. धनीराम की टीका[2]

किसी धनीराम नामक कवि ने भी बिहारी-सतसई पर एक बृहत् टीका बनाई थी, जिसके आदि में बिहारी की जाति तथा जन्म-काल इत्यादि दिए हैं। यह टीका रीवाँ में किसी के पास है।

---

१. इन टीकाओं का वृत्तांत श्री हरिनारायणजी, अफसर ड्योढ़ी जयपुर से प्राप्त हुआ है। यद्यपि उन्होंने भी इन ग्रन्थों को स्वयं देखा नहीं हैं।

२. ४२, ४३, ४४, ४५ टीकाओं के नाम भी हमें ज्ञात हुए हैं। यद्यपि इनके स्थान ऊपर कही हुई कितनी ही टीकाओं के पूर्व संभावित हैं, तथापि इनके विषय में कुछ भी ज्ञात न होने के कारण इनका विवरण यहाँ किया जाता है।

इन भाषा टीकाओं के अतिरिक्त चार टीकाएँ संस्कृत में तथा एक गुजराती भाषा में भी है। यद्यपि काल-क्रमानुसार तो उनका वर्णन बीच बीच में आ जाना चाहिए था पर चारों संस्कृत टीकाओं को एकत्र रखने के अभिप्राय से उनका विवरण यहाँ किया जाता है, और गुजराती टीका को भाषांतर में समझकर उसका वर्णन अंत में दिया जाता है।

४६. संस्कृत गद्य टीका

छियालीसवीं टीका एक संस्कृत गद्य टीका है, जिसका विवरण साहित्याचार्य स्वर्गीय सुकवि पंडित अंबिकादत्त जी व्यास ने विहारी-विहार की भूमिका में यों किया है—

"इस अपूर्व टीका के रचयिता का नाम आदि से अंत तक ग्रन्थ में कहीं नहीं है। टीका बहुत प्राचीन है। मुझे छपरा-निवासी बाबू शिवशंकर सहाय द्वारा एक पुस्तक मिली है। इसी जिले के सोमहुता नामक प्रसिद्ध ग्राम के रहनेवाले कायस्थ बाबू गंगाविष्णु ने संवत् १८४४ वैशाख शुक्ल तृतीया को इस पुस्तक को लिखा था। इस ग्रंथ के रचयिता ये बाबू गंगाविष्णु तो नहीं हो सकते क्योंकि अंत में चार ही पंक्ति तो इनकी लिखी हैं और वे भी विविध अशुद्धियों से भरी हैं। जिसने ऐसी उत्तम संस्कृत टीका बनाई है वह इतना अशुद्ध लेख नहीं लिख सकता। इस कारण ग्रन्थकार कोई दूसरे ही विद्वान् थे। लल्लूलाल ने अपने ग्रन्थ में लिखा है कि "मैंने एक संस्कृत टीका देखी" सो यही संस्कृत टीका जान पड़ती है।

"यद्यपि लल्लूलाल के समय में एक हरिप्रसादकृत (संवत् १८२७ में रचित) तथा यह संस्कृत टीका (संवत् १८४४ की लिखित) ये दोनों ही ग्रन्थ विद्यमान थे, (क्योंकि संवत् १८७५ में लल्लूलाल ने निज लालचंद्रिका बनाई थी) तथापि हरिप्रसाद टीका कुछ दुर्लभ थी और यदि कथमपि वह मिली भी हो तो लल्लूलाल संस्कृत के ऐसे पंडित न थे कि उसे पढ़ कुछ भी समझ सकते और यह संस्कृत टीका अत्यंत सरल है और इसमें प्रत्येक दोहे के अलंकार, नायिका, उक्ति आदि स्पष्ट रीति से कहे हैं। इसमें सरल दोहों पर केवल अलंकारादि ही कह दिए हैं टीका कुछ भी नहीं है। इस

कारण यही विशेष संभव है कि लल्लूलाल ने इसी टीका से स्वरचना में सहायता ली हो।"

व्यास जी ने जो दोहों की सूची बिहारी-बिहार के अंत में दी है उसमें एक कोष्ठक इस ग्रन्थ के अंकों का भी रखा है। उन अंकों से इसमें दोहों के पूर्वापर क्रम का कुछ ज्ञान हो सकता है जिसका संक्षिप्त वर्णन आठवें क्रम में किया गया है।

सैंतालीसवीं टीका सतसई के दोहों का आर्या छंदों में संस्कृतानुवाद है। इसके रचयिता काशीराज श्रीचेतसिंह महाराज के प्रधान कवि पंडित हरिप्रसादजी थे। इस ग्रन्थ की रचना संवत् १८३७ में हुई थी। हमने स्वयं यह ग्रन्थ नहीं देखा है। पंडित अंबिकादत्त व्यास जी ने बिहारी-बिहार की भूमिका में इसका विवरण किया है और निम्नलिखित दो दोहे उनके अनुवाद सहित निदर्शनार्थ दिए हैं—

४७. आर्यागुंफ टीका

मेरी भवबाधा हरो राधा नागरि सोइ।
जा तन की झाईं परैं स्याम हरित दुति होइ॥ १॥

टीका

"सा राधा भवबाधां विविधामपहरतु नागरिकी।
यस्यास्तनुतनुकान्त्या कान्तः श्यामो हरिर्भवति"॥ १॥

नीकी दई अनाकनी फीकी परी गोहारि।
तजो मनो तारन विरद बारक बारनतारि॥ २॥

टीका

"दत्तमनकर्णनमिह सम्यगथाभूद्वृथा ममाह्वानम्।
मन्ये तारणविरुदस्त्यक्तो द्विरदं समुत्तार्य्य॥ २॥"

इन अनुवादों के अतिरिक्त ग्रन्थारंभ के कुछ और आर्याछंद भी व्यास जी ने उद्धृत किए हैं, उनसे केवल महाराज चैनसिंह की वंशावली विदित होती है। ग्रन्थकार ने अपने विषय में कुछ नहीं लिखा है। आर्यों की रचना बड़ी सुंदर और ललित है। हमने इस ग्रन्थ की प्राप्ति का उद्योग किया था पर वह हस्तगत न हो सका।

इसमें ग्रन्थकार ने एक नया ही क्रम रक्खा है जिसका विवरण नवें क्रम में हो चुका है।

४८. एक अन्य संस्कृत गद्य टीका

अड़तालीसवीं टीका एक अन्य गद्य संस्कृत टीका है। हमारे पास इसकी एक आद्यंत तथा बीच बीच में से खंडित प्रति है, जिससे इसके रचयिता तथा रचना-काल इत्यादि का कुछ पता नहीं चलता। टीका बड़ी सुंदर तथा बहुत ही सरल संस्कृत गद्य में है। दोहों के भावार्थ प्रकाश करने की इसमें पूर्ण चेष्टा की गई है। इसमें प्रति दोहे का एक छोटा सा अवतरण लिखकर उसके वक्ता, बोधव्य तथा नायिका-भेद बतलाए गए हैं। वास्तव में यह टीका देवकीनंदन-टीका का एक प्रकार का अनुवाद मात्र है। कहीं कहीं इसके कर्त्ता ने देवकीनंदन टीका की अपेक्षा कुछ न्यूनाधिक्य भी कर दिया है। इस टीका के निदर्शनार्थ इसमें से एक दोहे की टीका नीचे लिखी जाती है—

पार्‌यो सोर सोहाग को इन बिन हीं पिय नेह।
उन दोहीं अँखियानि कै, कै अलसोहीं देह॥

टीका

इयं नायिका रात्रौ पत्या सह प्रेमवार्तां कृत्वा सुरतस्पृहया जागरणं कृतवती। तेनालसा प्रेमगर्वयुता चेति दृष्ट्वा सपत्न्या दुःखं जातम्। तद्दुःखं दूरीकर्तुं तस्याः सखी तां वक्ति—

"उन" तथा "इन" अनया च (?) "दोहीं" उभाभ्यामपि। नेत्रयोरालस्ययुक्तं कृत्वा तथा "देह" शरीरस्यापि आलस्ययुक्तं कृत्वा प्रियस्य स्नेहं

विनैव सौभाग्यस्य कोलाहलः पातितः कृतः। प्रेमाभावेऽपि प्रेमाऽस्तीत्युक्तम्। सखी चतुरा, प्रियेण साकं विरसो माभूदित्युक्तमेतत्। अथवा "दृग" अनया उन्निद्रे नेत्रे कृत्वा देहे चालस्यं कृत्वा विनैव प्रियस्नेहं सौभाग्यस्य निनादः कृतः। अन्यत्पूर्ववत्। दुःखमपनयतु, प्रियेण साकं स्नेहोस्तु इत्येव तात्पर्यं सख्युः (?)। पतिस्नेहदर्शनार्थमागतोयं यदि पतिरेवायं तदा स्वकीयाऽन्यथा परकीया। मित्रमयमुभयोः। यया दृष्ट्वा दुःखं कृतं सैवान्यसम्भोगदुःखितेति ज्ञेयम्॥ २३१॥

इस टीका के विषय में हमारी पहले दो धारणाएँ थीं—एक तो यह कि कदाचित् यह टीका वही हो जिस संस्कृत गद्य टीका का विवरण पंडित अम्बिकादत्त जी व्यास ने किया है, और दूसरी यह कि देवकीनंदन टीका इस संस्कृत टीका के सहारे बनी है। पर इस टीका को उलट पुलटकर देखने पर हमारी ये दोनों भावनाएँ जाती रहीं, क्योंकि इसमें "तन भूषन अंजन दृगनु इत्यादि" दोहे की टीका के अंत में यह लिखा है—"अन्योप्यर्थः श्री देवकीनंदन-टीकातोऽवगंतव्यः"। इससे स्पष्ट ही प्रमाणित होता है कि यह टीका देवकीनंदन टीका के पश्चात् बनी है, और जो इस टीका तथा देवकी-नंदन टीका में साम्य है उसका कारण यह है कि यह देवकीनंदन टीका का एक प्रकार का अनुवादमात्र है जैसा कि ऊपर कहा गया है। देवकीनंदन टीका संवत् १८६१ में बनी, और व्यासजी ने जो संस्कृत गद्य टीका की प्रति देखी थी वह संवत् १८४४ की लिखी हुई थी, अतः यह टीका और व्यासजी की कथित टीका एक नहीं हो सकतीं। इसके अतिरिक्त बिहारी-बिहार के अंत में दी हुई दोहों की सूची में जो व्यास जी कथित संस्कृत गद्य टीका के दोहों के अंक दिए हैं वे इस टीका के दोहों के अंकों से नहीं मिलते।

इस टीका में क्रम देवकीनंदन टीका का रखा गया है जिसका विवरण दसवें क्रम में किया गया है।

उनचासवीं टीका शृंगार सप्तशती नाम की विहारी के दोहों का दोहों ही में संस्कृतानुवाद है। इसके रचयिता पंडित परमानंद भट्ट ने संवत् १९२५ में इसको बनाकर भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र तथा उनके मित्र रघुनाथ पंडित को समर्पित किया था। ये बातें ग्रन्थारंभ के कुछ श्लोकों तथा अंत के एक संस्कृत दोहे से विदित होती हैं। ग्रन्थारंभ में कुछ श्लोक ग्रन्थकार ने श्री भारतेंदुजी तथा उनके मित्र रघुनाथ पंडित जी के वंशवर्णन के दिए हैं, पर अपने विषय में इतना छोड़कर और कुछ नहीं लिखा है—

४९. शृंगार सप्तशती टीका

"अनुमतिमथाऽऽसाद्य प्रीत्यै तयोर्गुणशालिनो-
विबुधपरमानंदो नंदन्मुकुंदगुणानुगाम्।
मधुरसरलां दोहाच्छन्दोमयीं रसपूरिता-
मनुपमगुणां पुण्यां चक्रे कृतिं सुमनःप्रियाम्॥ १३॥
पौत्रश्चैष मुकुंदभट्टविदुषः श्रांतश्चिरं संस्कृते
पुत्रः श्रीव्रजचंद्रशर्म्मसुधियः प्रीत्या महत्या तनोत्।
दोहासप्तशतीं समर्चितगुणो बुंदेलवंश्याधिपैः
शय्यां प्राप्य विहार्य्यभिख्यकृतिनो भाषाभृतायाः कृतेः॥१४॥

इन श्लोकों से इतना ही विदित होता है कि ग्रन्थकार का नाम परमानंद, उसके पिता का नाम व्रजचंद एवं पितामह का नाम मुकुंद भट्ट था, और इन दोनों गुणशालियों (श्रीभारतेंदुजी तथा श्रीरघुनाथ पंडित) के प्रीत्यर्थ विहारी के दोहों पर संस्कृत दोहे बनाए गए। अंत का संवत् वाला दोहा यह है—

शरद्दगनवचंद्रैर्युतो (?) वैक्रमाब्दगणनेन।
चैत्रकृष्णविष्णोस्तिथौ पूर्णाकृतिः सुखेन॥

पंडित अंबिकादत्त जी व्यास ने बिहारी-विहार की भूमिका में पाद-टिप्पणी में इनके विषय में यह लिखा है—

"मैंने दस ग्यारह वर्ष के वय में इनको देखा था। मुझे ठीक स्मरण है कि दशाश्वमेध की संगत में महंत बाबा सुमेरसिंह शाहजादा साहेब के यहाँ मेरे पिता जी के साथ मैं बैठा था, साहित्य की कोई बात महंत जी ने पूछी थी, मेरे पिता जी कह रहे थे इसी समय अकस्मात् बाबू हरिश्चंद्रजी और उनके साथ पंडित परमानंद आए। पंडित परमानंद साँवले से थे। लगढग तीस वर्ष का वय था। मैली सी धोती पहिरे मैली छीट को दोहर की मिर्जई पहने बनाती कंटोप ओढ़े एक सड़ी सी दोहर शरीर पर डाले थे। बाबू साहब ने पिता जी से उनके गुण कहे। सुनके सब उनकी ओर देखने लगे। उनने अपनी हाथ की लिखी पोथी बगल से निकाली और थोड़ी बाँच सुनाई और अपनी दशा कह सुनाई कि "मुझे—(कन्या-विवाह अथवा और कोई कारण कहा ठीक स्मरण नहीं) इस समय कुछ द्रव्य की आवश्यकता है इसी लिये चिर परिश्रम में यह ग्रंथ बनाया कि किसी से व्यर्थ भिक्षा न माँगनी पड़े। अब मैं इस ग्रंथ को लिए कितने ही राजा बाबुओं के यहाँ घूम चुका। कोई तो कविता के विषय में महादेव के वाहन मिले, कहीं के सभा पंडित घुसने नहीं देते, कहीं संस्कृत के नाम से चिढ़, कोई रीझे तो भी पचा गए। कोई कोई वाह वाह की भरती कर रह गए और कोई 'अति-प्रसन्नो दमड़ी ददाति' अब बाबू साहब का आश्रय लिया है।" थोड़े ही दिनों के अनंतर बाबू साहब ने ५००) मुद्रा और उनके मित्र रघुनाथ पंडित प्रभृति ने २००) यों दोहे पीछे १) इनकी बिदाई की। जो अनेक चँवर छत्रधारी राजा बाबू न कर सके, सो वैश्य बाबू हरिश्चंद्र ने किया। हा! अब वह आसरा भी कविजन का टूट गया।"

इस ग्रंथ में बिहारी के दोहों का अनुवाद संस्कृत दोहों में करके नीचे अपने रचित दोहों की टीका संस्कृत गद्य में लिखी है। अनुवाद सामान्यतः अच्छा और सरस है। ग्रन्थकार ने एक यह विलक्षण बात की है कि अनु-वादित दोहे पहले रखकर तब बिहारी के दोहे रखे हैं, जिससे अनभिज्ञ पाठकों को यह भासित हो सकता है कि मूल दोहे संस्कृत के हैं और बिहारी के दोहे

उनका अनुवाद। निदर्शनार्थ एक दोहे के अनुवाद तथा टीका नीचे दिए जाते हैं—

संस्कृत अनुवाद

सहजालसवपुषाऽनया सालसलोचनयापि।
दध्रे प्राणसमाभिधा पत्युः प्रेम विनापि॥

मूल दोहा

पारचौं सोरु सुहाग कौ इन बिन हीं पिय नेह।
उनदौंहीं अँखियाँ ककै कै अलसौंहीं देह॥

टीका

पुनरपि स्वीयां वर्णयति। सहजालसं च तद्वपुः तेन करणभूतेनापि सालसे आलसवलिते लोचने यस्याः सा तया अनया विनापि पत्युः प्रेम प्राणसमाभिधा दध्रे धारिता। एतेनान्यनायिकासु यादृक् पतिप्रेम तादृक् मयि नास्तीति दोषानुद्घाटनात् सालसलोचनकरणाच्च पातिव्रत्यशीलसंरक्षणविनयार्जवादिधर्मा अवगतास्तेनास्याः स्वीयात्वम्। अत्र च पतिप्रेमाऽभावरूपप्रतिबंधके सत्यपि प्राणसमाभिधाधारणरूपकार्यस्योत्पन्नत्वात् तृतीया विभावना। कार्योत्पत्तिस्तृतीया स्यात् सत्यपि प्रतिबंधके इति लक्षणात्। यद्वा चमत्कारार्थमर्थान्तरमाह। स्वपतिसंभोगचिह्नितां सखीं दूतीं वा दृष्ट्वा अपरामंतरंगाम् सखीं प्रति नायिकाया उक्तिः। सहजालसवपुषापि हेतुभूतेन सालसलोचनया अनया सख्या मम पत्युः सकाशात् प्रेम विनापि प्राणसमाभिधा दध्रे। सालसलोचनयेत्यनेन रात्रिजागरः सूचितः। सहजालसवपुषेत्यनेन गाढतरालिंगनांगोपमर्दः सूचितः। सर्वासु सखीषु इयं पत्युः प्राणसमेतिभावः। मम प्राणसमाभिधा अनया गृहीतेति कोपोक्तिर्व्यज्यते। प्रियसंभोगचिह्नेन दूतीं वान्यां विलोक्य या उपालभेत स्वयंकोपात् सान्यसंभोगदुःखितेति तल्लक्षणात्। यद्वा सपत्नीं संभोगचिह्नितां दृष्ट्वा सखीं प्रति सालसलोचनत्वादि तत्तद्रतिचिह्नवर्णनादेतस्याश्च प्राणसमाभिधात्ववर्णनाच्च स्वस्यातिदुःखितत्वं वर्णितमिति सपत्नीसंभोगदुःखितेति वा॥ १६॥

इस टीका में दोहों का पूर्वापर क्रम लालचंद्रिका के अतिरिक्त आजमशाही क्रम की अन्य किसी प्रति के अनुसार रखा गया है। इसमें ६९९ दोहों के पश्चात् दो दोहे अर्थात् "जद्यपि है सोभा इत्यादि तथा नंद नंद गोविन्द इत्यादि", हरिप्रकाश टीका से लेकर रखे हैं। ६९७ दोहे तो इसमें आजमशाही क्रम की किसी प्रति से लिए गए हैं और एक दोहा अर्थात् "ताहि देखि इत्यादि", किसी अन्य पुस्तक से है। बीच बीच में से २१ दोहे आजमशाही क्रम के इसमें छोड़ दिए गए हैं।

पचासवीं टीका गुजराती भाषा में भावार्थ-प्रकाशिका नाम की है। इसको संवत् १९६९ में गुजराती भाषा के सुप्रसिद्ध लेखक तथा कवि श्रीयुत सवितानारायण गणपतिनारायण जी ने रचा है।

५०. भावार्थ-प्रकाशिका गुजराती टीका

इस ग्रन्थ के नाम से एकाएक यह भासित होता है कि कदाचित् यह विद्यावारिधि स्वर्गीय पंडित ज्वालाप्रसाद जी मिश्र की भावार्थ-प्रकाशिका का गुजराती अनुवाद होगी। पर वास्तव में यह बात नहीं है, यह एक स्वतंत्र टीका है। इसको स्वयं ग्रन्थकार ने अपने श्रम तथा पांडित्य से अनेक टीकाओं को देखकर संपादित किया है। पंडित ज्वालाप्रसाद जी की टीका तो ज्ञात होता है कि इन टीकाकार महाशय ने कदाचित् भली भाँति देखी भी नहीं क्योंकि अपनी भूमिका के ग्यारहवें पृष्ठ में उसका नाम भ्रम से भावार्थदीपिका कहते हैं। प्रतीत होता है कि नाम में यही भ्रम होने के कारण ही इन्होंने अपनी टीका का नाम भावार्थ-प्रकाशिका रखने में कुछ हिचक नहीं की।

इस ग्रंथकार ने सतसई के दोहों के समझने तथा समझाने में हार्दिक प्रयत्न किया है और जो अभिप्राय वह स्वयं समझा है, उसको सरल गुजराती भाषा में बहुत अच्छी रीति पर, वक्ता बोधव्य का कथन करके, समझाया है। प्रत्येक दोहे के अलंकार भी टीका में अच्छे ढंग से बतलाए और समझाए गए हैं। भूमिका में भी ग्रंथकार ने बड़ा श्रम करके अपनी योग्यता का परिचय दिया है, यद्यपि उसका एक बड़ा अंश बिहारी-बिहार

की भूमिका के आधार पर निर्भर है। गुजराती भाषा जाननेवाले बिहारी के पाठकों के निमित्त यह ग्रंथ बड़ा उपयोगी है।

इस टीकाकार का जन्म संवत् १८९६ में हुआ था। इनके बनाए हुए इतने ग्रंथ और हैं—(१) अलंकारचंद्रिका, (२) सविताकृत कविता, (३) नीतिसुधातरंगिणी तथा (४) तप्तासंवरण।

इस टीका में दोहों का क्रम कृष्ण कवि की कवित्तोंवाली टीका के अनुसार है, जिसका विवरण छठे क्रम में हो चुका है। पर बीच-बीच में से ११ दोहे इसमें छोड़ दिए हैं, और ३० दोहे अधिक रखे हैं। इन अधिक दोहों में एक वो संवत्वाला है और ६ कृष्णकवि के रचे हुए हैं। शेष २३ अधिक दोहों में से २ दोहे "एरीदेरी श्रवन इत्यादि" तथा "बधू अधर की इत्यादि" तो बिहारी-बिहार के अंत में संचित दोहों में से लिए गए हैं और २१ दोहे बिहारी-बिहार तथा अन्य ग्रन्थों से।

यह टीका गुजराती प्रिंटिंग प्रेस, बंबई से संवत् १९६९ में छपकर प्रकाशित हुई है।

ऊपर कही हुई पचास टीकाओं के विवरण की समाप्ति पर ३ और टीकाएँ हमारे हाथ आई, जिनमें से एक टीका तो पुराने ढँग की ब्रजभाषा में है, एक नए ढँग की प्रचलित भाषा में और एक फ़ारसी भाषा में। इन तीनों टीकाओं का विवरण नीचे दे दिया जाता है। ब्रजभाषा वाली टीका का स्थान यद्यपि समयानुक्रम से संजीवन भाष्य के पूर्व अर्थात् ३९ वाँ होना चाहिए क्योंकि इसका रचनाकाल वि० सं० १९६१ है, पर संजीवन भाष्य का विवरण ३९ वें स्थान पर छप चुका था और संस्कृत टीकाओं का विवरण आरंभ हो चुका था अतः उसको ५१ वाँ स्थान दिया जाता है।

इक्यावनवीं टीका ईश्वर कवि कृत 'सवैया छंद' नाम की है। ईश्वर कवि जाति के सनाढ्य थे। उनके पिता का नाम मानिकराम था। वे

५१. सवैया छंद

धवलपुर के रहनेवाले थे और वहीं के एक धनाढ्य ब्राह्मण मनोहरसिंह के कहने से यह टीका उन्होंने संवत् १९६१ में बनाई, जैसा कि ग्रन्थ के इन दोहों से विदित होता है—

लसत धवलपुर नगर महँ दुजबंसी सुखलाल।
भजनसिंघ तिनके तनय सब विधि बुद्धि-बिसाल॥
पुत्र मनोहरसिंघ तिहिं भे कवित्त-रस-लीन।
सुकवि बिहारी-दास की पढ़ि सतसई प्रवीन॥
दुज सनाढ्य दीक्षित-सुकुल गोत्र सु भारद्वाज।
रहत धवलपुर नगर महँ भागीरथि सब-साज॥
तिहिं सुत मानिकराम भे तिहिं सुत इस्वरनाम।
कह्यौ मनोहरसिंघ नै तिनसौं वचन ललाम॥
अति हित अति आदर सहित अति मन मोद बढ़ाइ।
करहु सतसई के सरस कवित सरस रस छाइ॥
संवत आतम[१] रितु[६] भगति[१] सूरज-रथ कौ चक्र[१]।
भादव सुदि नवमी दिने अर्कवार वर नक्र॥

ग्रन्थांत में ईश्वर कवि ने ये १४ दोहे लिखे हैं—

सुकबि बिहारीदास नै करी सतसई गाइ।
ताके संग मैं कृस्नकबि दीने कवित लगाइ॥
सोई लखि ईस्वर सुकवि मन मैं कियौ विचार।
तवइ मनोहरसिंघ नै अति आदर-विस्तार॥
ईश्वर कवि सौं यौं कह्यौ जो उनके मन माँह।
करे सवैया सब रचे दोहा प्रति निज राह॥
चतुर याहि समुझैं सुनैं गुनैं रसिक मतिवंत।
देखैं दूषन धर कुकवि मूरख देखि हँसंत॥
उनसठि बरस मँझार मैं करे ग्रंथ सुनि लेहु।
संवत् विक्रम तीनि तैं इकसठि लौं गुनि लेहु॥
प्रथम समर सागर[१] कियौ साम्बयुद्ध[२] सुखकंद।
फिरि अनिरुद्ध-विलास[३] हम कह्यौ सबै विधि सुद्ध॥

कोक-कलानिधि[४] जानियै प्रेम-पयोनिधि[५] फेरि।
काम-कलपतरु[६] लै वहुरि भावअब्धि[७] कौं हेरि॥
रितु-प्रबोध[८] मन वोध कहि वैद्य-सुजीवन[९] जानि।
कालज्ञान[१०] भाषा कियो अमरकोष[११] मन मानि॥
भक्ति-रत्नमाला[१२] करी ध्यान कौमुदी[१३] जानि।
नखसिख[१४] अहि-लीला[१५] ललित कीनी वुद्धि प्रमानि॥
ध्वनि-व्यंग्यारथ-चंद्रिका[१६] चित्र-कौमुदी[१७] जोग।
भारथसार[१८] वनाइयौ मेटन सकल प्रयोग॥
जमक-सतसई[१९] करि करी क्रमचंद्रिका[२०] विसेषि।
कृष्ण-चंद्रिका[२१] सरस करि कृष्ण-सुहृयमप[२२] लेषि॥
वहु-पुरान-मत पाइ किय राधा-रहस[२३] वनाइ।
वालमीकि[२४] भाषा कियौ आदिउपांत सुभाइ॥
रामचंद्रिका कौ कियौ टीका[२५] सरस वनाइ।
रसिकप्रिया[२६] कौं तैसही कह्यौ सरस मन लाइ॥
करे विहारीदास की सतसइ पर रस-भोइ।
नाम सवैया छंद[२७] किय आन छंद नहिं होइ॥

इन दोहों से ज्ञात होता है कि ईश्वर कवि अनेक विषयों के ज्ञाता और बहुरचनाप्रिय थे। संवत् १९०२ से संवत् १९६१ तक अर्थात् ५९ वर्ष के समय में उन्होंने २७ ग्रंथ रचे जिनमें कोई-कोई ग्रन्थ बहुत बड़े बड़े भी हैं जैसे भारत-सार तथा वाल्मीकि का भाषानुवाद। सतसई के दोहों पर सवैया का ग्रन्थ उनकी अंतिम रचना है। उनका रचनाकाल संवत् १९०२ से आरंभ होता है। यदि उस समय उनकी अवस्था १८ वर्ष की मानी जाय तो उनका जन्म संवत् १८८५ के आसपास का ठहरता है। संवत् १९६१ में उनकी सतसई टीका वनी। यदि उसके पश्चात् उनका ८—९ वर्ष तक जीवत रहना अनुमानित किया जाय तो संवत् १९७० के निकट तक उनका इस संसार में रहना अर्थात् ८५ वर्ष की आयु प्राप्त करना ठहरता है।

उनका और कोई ग्रन्थ हमारे देखने में नहीं आया है, अतः उनकी कविताशक्ति का अनुमान केवल इसी टीका के सहारे करना पड़ता है। इस टीका में दो एक दोहों पर तो टीकाकार ने कुछ संक्षिप्त सी टिप्पणी भी लिख दी है पर शेष दोहों पर केवल एक एक सवैया लिखकर संतोष कर लिया है। सवैया सामान्यतः अच्छे हैं पर कृष्ण कवि के सवैयों तथा कवित्तों को नहीं पाते। यह ग्रन्थ कृष्ण कवि के ग्रन्थ को देखकर उसी के जोड़ पर बनाया गया है। इसमें दोहों की संख्या तथा क्रम भी उसी ग्रन्थ के अनुसार ही रखे गए हैं। दोहों की संख्या में दो चार का न्यूनाधिक्य पाया जाता है और क्रम में भी कुछ दोहे आगे पीछे कर दिए गए हैं। इसके क्रम तथा संख्या के विषय में कुछ विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती।

इसके सवैयों के निदर्शनार्थ बिहारी का एक दोहा और उस पर लगाया हुआ सवैया नीचे दिया जाता है—

पार्‍यौ सोरु सुहाग कौ इनु बिनुहीं पिय-नेह।
उनदौंहीं अँखिया ककै कै अलसौंही देह॥

सवैया

देखि कै आवत बाल बधू बतरानी सबै करि आप सनेह है।
ईश्वर देखौ करै मिस कैसे हरै मन मारुत यों नभ मेह है॥
पीतम ही बिन पार्‍यो सुहाग कौ थानै अरी अबही करि नेह है।
कीनी उनींदी भली अँखियाँ अरु सौंहैं करी अलसौंही सी देह है॥

इस टीका से दोहों के अर्थों के स्पष्टीकरण में कुछ सहायता नहीं मिलती। इसमें केवल टीकाकार ने अपनी समझ के अनुसार दोहों के भावों का सवैयों में विस्तार किया है। पर उससे अर्थबोध में कुछ विशेष सहायता नहीं मिलती, प्रत्युत कहीं कहीं तो और भी उलझन बढ़ जाती है।

बावनवीं टीका श्रीरामवृक्षजी शर्मा बेनीपुरी की की हुई है। इस टीका का प्रथम संस्करण संवत् १९८२ की रामनवमी पर हिंदी-पुस्तक-भंडार, लहरिया सराय से प्रकाशित हुआ है। इसमें रचयिता ने दोहों के अर्थ सुगम प्रचलित भाषा में बड़े अच्छे ढंग से दे दिए हैं और कठिन शब्दों के अर्थ भी नीचे जता दिए हैं। विद्यार्थियों को सतसई में प्रवेश करा देने के निमित्त यह टीका बहुत अच्छी है। इसमें अलंकार इत्यादि का झगड़ा नहीं उठाया गया है। अर्थ के स्पष्टीकरण मात्र की चेष्टा की गई है। निदर्शनार्थ एक दोहे की टीका नीचे दी जाती है—

५२. श्री रामवृक्ष शर्मा बेनीपुरी की टीका

पार्‌यौ सोरु सुहाग कौ इन विनहीं पिय-नेह।
उनिदौंहीं अँखियाँ ककै कै अलसौंहीं देह॥

ऊँघी हुई आँखें या अलसाई हुई देह बना बनाकर इस स्त्री ने बिना प्रियतम के प्रेम के ही अपने सुहाग की ख्याति फैला दी है (यद्यपि प्रियतम इसपर अनुरक्त नहीं तो भी इसकी उपर्युक्त चेष्टा देखकर लोग समझते हैं कि यह सदा नायक के साथ जगी हुई रहती है।)

सोर पार्‌यौ = ख्याति फैला दी। सुहाग = सौभाग्य। उनिदौंहीं = उनींदी, ऊँघी हुई। ककै = करके। कै = या। अलसौंहीं = अलसाई हुई।

यह टीकाकार महाशय बिहार प्रांत के बेनीपुर नामक स्थान के रहनेवाले हैं। हिंदी भाषा के ये बड़े प्रेमी और सुलेखक हैं। कई हिंदी पत्र-पत्रिकाओं के संपादकीय विभाग में काम कर चुके हैं। इनकी अवस्था अभी ३० वर्ष के अनुमान होगी। जाति के ये भूमिहार ब्राह्मण हैं। इनके स्वर्गीय पिता का नाम पंडित फूलवंतसिंहजी शर्मा था। उन्हीं को यह टीका समर्पित की गई है।

श्री रामलोचन-शरणजी बिहारी के अनुरोध से यह टीका रची गई है और उन्हीं के द्वारा संपादित भी हुई है। इन महाशय के विषय में विशेष

लिखने की आवश्यकता नहीं है। इतना ही कह देना अलम् है कि आप हिंदी-पुस्तक-भंडार, लहरिया सराय के अध्यक्ष हैं।

५३. जोशी आनंदीलाल की फ़ारसी टीका

तिरपनवीं टीका श्री जोशी आनंदीलालजी शर्म्मा की रची हुई फ़ारसी भाषा में है। इस टीका का निर्माणकाल इसके अंत में सन् १२१४ हिजरी बताया गया है जो सन् १८९३ होता है। श्री आनंदीलालजी के पूर्वज ६ पीढ़ी से अलवर की राज्यसभा के सभासद रहते आए और उर्दू फ़ारसी की शायरी करते थे। ये महाशय भी उक्त सभा में उसी काम पर रहे। यह टीका उन्होंने अलवर के श्री महाराज जयसिंह सवाई के समयमें बनाई और इसका नाम सफ़रंगे सतसई रखा।

इस टीका में जोशीजी ने दोहों का फ़ारसी भाषा में अपनी समझ के अनुसार अनुवाद मात्र करने की चेष्टा की है। इससे बिहारी के दोहों के भावों के स्पष्टीकरण में विशेष सहायता नहीं मिल सकती; पर तो भी अनुवाद बहुत समझ बूझकर किया गया है। निदर्शनार्थ एक दोहे का अनुवाद नीचे दिया जाता है—

मेरी भव बाधा हरौ राधा नागरि सोइ।
जा तन की झाँई परें स्यामु हरित दुति होइ॥

تمام تصديقات دنياوي مرا دور كنيد—اي رادها هوشمند
آنكه از افتادن عكس تن او كه مثل زعفرانست رنگ سياه كانهه
سر سبز ميشود يعني از ملاقات او كانهه خوشوقت مي شود

(तमामे तस्दीक़ाते दुनियावी मरा दूर कुनेद—ऐ राधा होशमंद आँकि अज उफ़तादने अक्से तन ऊ कि मिस्ले जाफ़रानस्त, रंगे सियाहे कान्ह सरसब्ज़ मीशवद याने अज़ मुलाक़ाते ऊ कान्ह खुशवक्त मीशवद)

(मेरे सब सांसारिक दुःखों को दूर करो ए वही चतुर राधा—जिसके तन (जो केसरिया रंग का है) की छाया पड़ने से कान्ह जो श्याम रंग के हैं हरे-भरे हो जाते हैं अर्थात् जिसके भेट होने से कान्ह प्रसन्न हो जाते हैं)

इस पुस्तक में ६४० दोहे रखे गए हैं और दोहों का पूर्वापर क्रम इसमें विहारी के निज क्रम के अनुसार है। इसके क्रम तथा संख्या के विषय में बिहारी की निज क्रम की पुस्तकों के विवरण के अंतर्गत लिखा जा चुका है।

चौवनवीं टीका विहारी-रत्नाकर नाम की स्वयं इस दीन लेखक की की हुई है। इसके विषय में कुछ विशेष वक्तव्य नहीं है। इसमें दोहों के पूर्वापर क्रम तथा संख्या अनेक प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर वही रखे गए हैं जो स्वयं विहारी के समझे गए। दोहों के पाठ भी इसमें प्राचीन प्रतियों के सहारे यथासंभव शुद्ध किए गए हैं। इस संस्करण में अलंकारादि का बखेड़ा नहीं उठाया गया है। केवल दोहों के यथार्थ भावों के स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है। इसमें टीकाकार कहाँ तक सफल हुआ है यह विज्ञ पाठकों की अनुमति पर निर्भर है।

५४. 'विहारी रत्नाकर' टीका

विहारी सतसई के ऊपर कहे हुए टीकाकारों, अनुवादकों तथा कुंडलिकादि में दोहों का विस्तार करनेवालों के अतिरिक्त और भी कई महाशयों ने इस पर टीका अथवा कुंडलियादि रचने की चेष्टा की, पर उनके ग्रन्थ पूरे न हो पाए। उनमें से दो महाशयों अर्थात् स्वर्गवासी भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र और श्री पंडा जोखूरामजी के नाम तथा उनकी रचना के कुछ आदर्श विहारी-विहार की भूमिका में दिए हैं।

श्रीभारतेंदुजी के विषय में कुछ विशेष कहने की आवश्यकता नहीं है। उनसे हिंदी साहित्य के प्रेमी भली भाँति परिचित हैं। अतः बिहारी के दोहों पर उनकी पाँच कुंडलियाँ नीचे लिखी जाती हैं—

मेरी भवबाधा हरो राधा नागरि सोय।
जा तन की झाँईं परें स्याम हरित दुति होय॥
स्याम हरित दुति होय परे जा तन की झाँईं।
पाँय पलोटत लाल लखत साँवरे कन्हाई॥

श्रीहरिचंद वियोग पीतपट मिलि दुति हेरी।
नित हरि जा रँग रँगे हरौ बाधा सोइ मेरी॥ १॥

सीस मुकुट कटि काछनी कर मुरली उर माल।
एहि बानिक मो मन बसौ सदा बिहारी लाल॥
सदा बिहारीलाल बसो बाँके उर मेरे।
कानन कुंडल लटकि निकट अलकावलि घेरे॥
श्रीहरिचंद त्रिभंग ललित मूरति नटवर सी।
टरौ न उर तें नेकु आज कुंजनि जो दरसी॥ २॥

मोहन मूरति स्याम की अति अद्भुत गति जोइ।
बसत सुचित अंतर तऊ प्रतिबिंबित जग होइ॥
प्रतिबिंबित जग होइ कृष्णमय ही सब सूझै।
इक संयोग वियोग भेद कछु प्रकट न बूझै॥
श्रीहरिचंद्र न रहत फेर बाकी कछु जोहन।
होत नैन मन एक जगत दरसत जब मोहन॥ ३॥

तजि तीरथ हरि राधिका तनदुति करि अनुराग।
जिहि ब्रज केलि निकुंज मग पग पग होत प्रयाग॥
पग पग होत प्रयाग सरस्वति पग की छाया।
नख की आभा गंग छाँह सम दिन कर जाया॥
छनछबि लखि हरिचंद कलप कोटिन नवसम लजि।
भजु मकरध्वज मनमोहन मोहन तीरथ तजि॥ ४॥

सघन कुंज छाया सुखद सीतल मंद समीर।
मन ह्वै जात अजौं वहै वा जमुना के तीर॥
वा जमुना के तीर सोई धुनि अँखियनि आवै।
कान बेन धुनि आन कोऊ औचक जिमि नावै॥

सुधि भूलत हरिचंद लखत अजहू बृंदावन।
अ बन चाहत अबहिं निकसि मनु स्याम सरस घन ॥ ५ ॥

आपकी कुंडलियों का संग्रह सतसई श्रृंगार नाम से भाषासार नामक पुस्तक में खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर में छपा है।

श्रीजोखूराम जी पंडा के विषय में पंडित अंबिकादत्तजी व्यास ने यह लिखा है—

"सुना है कि इनने भी थोड़ी सी कुंडलियाएँ बनाई थीं। ये काशीवासी थे। बड़े हनुमान जी के पंडे थे। कुछ फारसी जानते थे। यूनानी दवा भी करते थे। इनका कवित्त पढ़ना बड़ा हल्ले धूम का था। बाबू हरिश्चंद्र की कवि-सभा के सभ्यों में एक ये भी थे। विद्या बहुत गहिरी न थी पर डील-डौल बड़ा था। संवत् १९३८ में ये लगभग ४५ वर्ष के थे। इनका नाम मेरी समझ में पहले पहल श्रीराधाचरण गोस्वामी ने निज भारतेंदु में कुंडलिया-कारों में लिखा और कदाचित् यही देखके श्री ग्रियर्सन साहब और पंडित प्रभुदयाल ने निज ग्रन्थों में लिखा। इसका तत्त्व यों है। एक बेर काशी में भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र जी के यहाँ मैं, बाबू रामकृष्ण वर्म्मा, द्विज कवि मन्नालाल और द्विज बेनी कवि प्रभृति बैठे थे और पठान की कुंडलिया की प्रशंसा की बात चली। एक कोने से जोखूरामजी बोल उठे "क्या बड़ी बात है, हुकुम हो तो मैं इससे उत्तम कुंडलिया बना लाऊँ।" बाबू हरिश्चंद्र ने कहा "अच्छा लाइए, अच्छी होंगी तो फी कुंडलिया एक रुपया मैं दूँगा।" अनंतर उनने पाँच सात कुंडलियाँ बनाईं और लाए परंतु वे कुंडलियाएँ न तो बाबू साहब ही को अच्छी लगीं और न जिने जिने उनने दिखलाईं सरदार, द्विज मन्नालाल प्रभृति को ही अच्छी लगीं। बस किस्सा तमाम।"

श्री जोखूराम जी को स्वयं हमने देखा है। ये संवत् १९६५ के आस पास तक जीवित थे। उस समय उनकी अवस्था ७५ वर्ष के अनुमान रही होगी। ये सरदार कवि के शिष्य थे और भाषा साहित्य का अच्छा ज्ञान

रखते थे।' भाषा ग्रन्थों का संग्रह भी इनके पास अच्छा था। ये कविता में अपना नाम नागर रखते थे।

जहाँ तक क्रमों तथा टीका इत्यादि का पता हमको मिल सका उनका कुछ विवरण हमने ऊपर कर दिया। आशा है कि यदि विशेष अनुसन्धान किया जाय तो सतसई के और भी कितने ही क्रम, टीकाएँ तथा अनुवाद इत्यादि प्राप्त हों।

सातवाँ प्रकरण

बिहारी की जीवनी

यद्यपि सतसई के भिन्न भिन्न क्रम लगाने तथा उस पर टीका टिप्पणियाँ करने में अनेक विद्वानों तथा कवियों ने श्रम किया, तथापि पुराने लोगों में से किसी ने उनके जाति, कुल, जीवनी इत्यादि के विषय में निश्चित तथा यथेष्ट रूप से कुछ नहीं लिखा। बिहारी सतसई की जिन क्रमपद्धतियों तथा टीकाओं का पता लगा है, उनमें से कई एक संभवतः, बिहारी के जीवित काल ही की होंगी। यदि उनके रचयिता चाहते तो बिहारी का पूर्ण वृत्तांत लिख सकते थे, पर उन्होंने ऐसा नहीं किया। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि उस समय के विद्वान् तथा काव्यप्रेमी काव्य के गुण-दोषों ही पर विशेष ध्यान देते थे, और वह राजा भोज का रचित है अथवा गाँगू तेली का, इस बात का विचार नहीं करते थे। अतः इस समय के टीकाकारों, अथवा बिहारी पर कुछ लिखनेवालों को, उनकी जीवनी के निमित्त भिन्न भिन्न टीकाओं इत्यादि में प्राप्य बिहारी-विषयक स्फुट वाक्यों, संक्षिप्त जीवनियों, किंवदंतियों, एवं आख्यायिकाओं, इत्यादि को एकत्र करके, अनुमान से एक ढाँचा खड़ा करना पड़ता है। हम भी, उक्त सामग्री पर अपनी बुद्धि के अनुसार अनुमानों को अवलंबित करके, उनकी जीवनी लिखते हैं।

जीवन-वृत्त संबंधी विभिन्न अनुमान, प्रमाण

बिहारी के सबसे प्रथम टीकाकार, कृष्णलाल कवि,[1] ने जिनका बिहारी

१—ये कृष्णलाल उन कृष्णदत्त कवि से सर्वथा भिन्न हैं, जिनकी सतसई पर कवित्तोंवाली टीका है।

का पुत्र होना भी अनुमान किया जाता है, अपनी टीका में, जो कि हमारे अनुमान से संवत् १७१९ में समाप्त हुई, 'प्रगट भए द्विजराज कुल' इत्यादि दोहे की टीका में यह लिखा है—

"केसो जो मेरो पिता, और केसोराय जों श्रीकृष्णजू",

इस वाक्य से विहारी के पिता का नाम 'केशव' होना विदित होता है। यही बात उक्त दोहे की अनवरचंद्रिका-टीका के इस वाक्य से भी निकलती है—"केशव केशवराइ विहारी के बाप को नाम है।" रसचंद्रिका, हरि-प्रकाश तथा लालचंद्रिका टीकाओं से भी विहारी के बाप का नाम केशव होना सिद्ध होता है। इन ग्रंथों तथा विहारी के उक्त दोहे से यह भी सिद्ध होता है कि केशव ब्राह्मण थे, और अपनी इच्छा से आकर ब्रज में बसे थे।

प्रेम पुरोहित के लगाए हुए क्रम के आदि में यह दोहा मिलता है—

"विप्र विहारी-नाम हुअ सोती-ख्याति प्रवीन।
तिन कवि साढ़ेसात सै दोहा उत्तम कीन॥"

इस दोहे से विहारी का सोती (श्रोत्रिय) ब्राह्मण होना विदित होता है।

कुलपति मिश्र ने अपने 'संग्रामसार' नामक ग्रंथ में यह दोहा लिखा है—

"कविवर मातामह सुमिरि केसौ केसौ-राइ।
कहौं कथा भारत्थ की भाषाछंद बनाइ॥"

इससे कुलपति मिश्र के मातामह का नाम केशव होना ज्ञात होता है। कुल-पति मिश्र के विषय में सुनने में आता है कि वे विहारी के भांजे थे, और यह बात, उनके केशव के दौहित्र होने से, प्रमाणित भी होती है। अपने वंश के आदि-पुरुष के विषय में कुलपति मिश्र ने यह लिखा है—

"माथुर वंस प्रसिद्ध मिश्रकुल अभयराज भय।
सब-विद्या-परवीन वेद-अध्ययन-तपोमय॥"

जिससे उनका माथुर मिश्र होना प्रकट होता है। अतः विहारी माथुर वंश के सोती (श्रोत्रिय) ब्राह्मण ठहरते हैं।

विहारी को किसी ने विहारीदास और किसी ने विहारीलाल लिखा है। पर विहारी के प्रथम तथा द्वितीय टीकाकारों ने उनको विहारीदास हो कहा है; और कोविद कवि ने भी, जिन्होंने सबसे पहले सतसई के दोहों का क्रम लगाया, उनका नाम विहारीदास ही लिखा है। पुरानी टीकाओं में से लाल-चन्द्रिका में विहारी का नाम 'विहारीलाल' भी मिलता है। कदाचित् उसीको देखकर प्रभुदयाल जी पाँड़े ने भी अपनी टीका में विहारीलाल लिखा है, और तब से अन्य लेखक प्रायः ऐसा ही करते आए हैं। यह भी संभव है कि पहले उनका नाम विहारीलाल रहा हो, और पीछे से वैराग्य होनेपर विहारीदास हो गया हो, जैसा कि विहारी के ४६ वें दोहे से लक्षित भी होता है। हमारी समझ में विहारीदास नाम विशेष प्रामाणिक है। विहारी का आमेर में मिर्जा राजा जयशाह के समय में रहना उन्हीं के दोहों से सिद्ध होता है। 'यौं दल काढ़े बलख तैं' इत्यादि दोहे में जिस घटना का कथन किया गया है, वह संवत् १७०४ की है। उक्त दोहा सतसई का ७११ वाँ है, जिससे अनुमान होता है कि सतसई की समाप्ति संवत् १७०४-५ के आसपास हुई होगी, और उक्त घटना के उस समय नवीन होने के कारण, जयसिंह की प्रशंसा में कवि ने उसका उल्लेख किया होगा। यदि उस घटना को हुए बहुत दिन व्यतीत हो चुके होते, तो वह लोगों के चित्त से उतर गई होती, और उस समय की कोई नई घटना का कवि ने उल्लेख किया होता।

विहारी की एक चित्र, जो 'विहारी-रत्नाकर' के साथ प्रकाशित किया गया है, और जयपुर से प्राप्त हुआ है, संवत् १६९२ का खींचा प्रतीत होता है। अतः सतसई की रचना के विषय में "नहिं पराग नहिं मधुर मधु" इत्यादि दोहे की जो आख्यायिका है, उसके अनुसार सतसई-रचना का आरम्भ उक्त संवत् में स्थिर होता है।

उक्त चित्र से विहारी की अवस्था ४० वर्ष के अनुमान जान पड़ती है, अतः उनका जन्म-संवत् १६५२ के आसपास का माना जा सकता है।

जनवरी सन् १९१९ की नागरीप्रचारिणी पत्रिका में हमारे मित्र श्रीयुत् बाबू श्यामसुंदरदास जी बी० ए० ने बिहारी बिहार नामक एक दोहाबद्ध निबध अपनी टिप्पणी के साथ प्रकाशित किया था; वह पाठकों के अवलोकनार्थ ज्यों का त्यों नीचे दिया जाता है—

"बिहारी का आत्म-परिचय"

''कुछ वर्षों की बात है कि शाहपुरा (राजपूताना) के एक कामदार इंदौर गए थे। ये अपने साथ एक प्रति बिहारी सतसई की लेते गये थे। उसके साथ एक 'बिहारी बिहार' नाम का ग्रन्थ लगा हुआ था। उसके पढ़ने के लिए पंडित हरप्रसादजी चतुर्वेदी, जो उस समय इंदौर में तहसीलदार थे, बुलाए गए थे। चतुर्वेदीजी ने 'बिहारी-बिहार' की नकल कर ली थी। उसकी एक प्रतिलिपि मुझे पंडित बनारसीदास जी चतुर्वेदी की कृपा से थोड़े दिन हुए प्राप्त हुई। इसमें सतसई के रचयिता बिहारीलाल का जो कुछ वृत्तान्त दिया है वह विचित्र है। पर घटनाएँ सब स्वाभाविक हैं। मैं इस कविता को नीचे देता हूँ।

बिहारी-बिहार

राधा माधव रटत हैं प्रिय राधा के दास।
राधा भव बाधा हरौ राधा तिनके पास॥ १॥
काहू पुन्यनि पाइयतु पूत सपूत सुजान।
बिना भक्ति भगवान की कूकर काग समान॥ २॥
पुत्र जु ताही कौं कहत जो पितु आयसु पाल।
अनुचित उचित बिचार तजि बचन करै प्रतिपाल॥ ३॥
नृप जजाति अरु परसुधर राम सत्य बागीस।
पितु-आज्ञा सिर पर धरी लही परम आसीस॥ ४॥
यहै जानि हमहूँ करी तात मात की सेव।
मम पितुमह बसुदेव जू पिता जु केशवदेव॥ ५॥

बसत मधुपुरी मधुपुरी केसव देव सुदेव।
नाम छःघरा गाइयतु चौबे माथुर देव ॥ ६ ॥
वेद जु पढ़ियतु सीखियतु ऋग पुनि परम पुनीत।
तीनि मानियत प्रवर मम शख असुलायन प्रीत ॥ ७ ॥
नाम विहारी जानियतु मम सुत कृष्णा जान।
रवितनया पूजिय सुभग लहियत शुभ बरदान ॥ ८ ॥
तीरथवासी वृत्ति है आकाशी कहि जाय।
मगन रहत संतोष सौं यह धन परम कहाय ॥ ९ ॥
संवत जुग शर रस सहित भूमि रीति गिन लीन्ह।
कातिक सुदि बुध अष्टमी जन्म हमहिं विधि दीन्ह ॥१०॥
श्रवण नछत्रहि पाइयतु मीन लग्न परमान।
भैया बंधन सुख बढ़ौ पितर अधिक हरखान ॥११॥
एक समय मम पितु सहित गए वृंदावन धाम।
रुद्र वर्ष की आयु में दरसन लहे सुठाम ॥१२॥
टट्टी नाम बखानियतु जमुना मैया पास।
आश्रम दिखियो जाय के श्री स्वामी हरिदास ॥१३॥
नागरिदास जु राजियत कहियत जिनहिं महंत।
नाम सरिस महिमा लही पूजहिं सत अनंत ॥१४॥
हम कीन्हों परनाम उन दइ असीस हरखाय।
तब तातहिं पूछी कुशल यह सुत किहि कहि जाय ॥१५॥
दास दास हैं आपु को कहि दीन्ही सब बात।
दिय परसाद प्रसन्न ह्वै आनँद उर न समात ॥१६॥
या गादी के दास हैं विप्र मथुरिया जान।
चौबे इहिं गादी भए संत महंत सुजान ॥१७॥
उन पितु सों गाथा कही पठइय सुत मम पास।
संत गुनीजन रहत ह्याँ सब विधि परम सुपास ॥१८॥

आयसु उनकी सिर धरी रहे तहाँ हम जाय।
विद्या काव्य अनेक बिधि पढ़ी परम सचु पाय ॥१९॥
स्वामी की आसीस सों भए सब पूरन काम।
गान ताल सब सीखियौ जपत रहे हरि नाम ॥२०॥
निज भाषा अरु संस्कृत पढ़ि लीन्हीं बहु भाँति।
सुखी भए माता पिता सखा मित्र अरु जाति ॥२१॥
एक समय सरताज जू शाहजहाँ सुलतान।
आए इहि अस्थान में कीन्हीं बहु सनमान ॥२२॥
राग रागिनी सुनि लिये पंच शब्द परकार।
तब कविता की कहि दई स्वामी गुन आगार ॥२३॥
हम उनकी कविता करी भए प्रसन्न बड़ भाव।
चलत कही हम सों तवहि अर्गल-पुर में आव ॥२४॥
मध्य आगरें जमुन-तट दुर्ग अगम आगार।
बसे तहाँ बहुकाल पुनि करि कविता बिवहार ॥२५॥
पढ़ी पारसी शाह की गजल गीत अरु सेर।
गान सुनत सो रात को दिवस गए बहुतेर ॥२६॥
पुत्र जु जन्मो शाह के बजी बधाई देस।
दीप दीप में बड़ हरख रावत राव नरेस ॥२७॥
ताहि समय बावन नृपति भारत के तहँ आव।
शाहंशाह हमें कही कविता सबहिं सुनाव ॥२८॥
तब रचि पचि कविता करी शाह सराही ताहि।
रहे भूप दरबार में मन मैं सब हरषाहि ॥२९॥
शाहजहाँ की साहिबी लाल बिहारी मान।
धन मणि भूषण को गनै पायौ बहु सन्मान ॥३०॥
भारत के बावन नृपति रहे आगरे माहिं।
सनद दिवाई सबनु सों साहिब आपु सिहाहिं ॥३१॥

वर्षासन सबने करे यथाशक्ति शुभ काम।
नाथ अमेर भुवाल जू मिर्जा राजा नाम ॥३२॥
जयसिंह जू जयशाह जू शाह दियौ उपनाम।
तेजपुंज कहियत सुभट प्रथम लीक भट दाम ॥३३॥
वर्षासन के लेन कों साल साल हम जाहिं।
एक समय आमेर में गए रहे नृप पाहिं ॥३४॥
मास दोय लग तहँ रहे काहु न पूछी वात।
राजा के चाकरन सों लगी न एकौ घात ॥ ३५ ॥
भूपति इक रानी वरी शुठि सुंदर शुभ वाम।
रही नवोढ़ा आयु की भूपति पीड़ित काम ॥ ३६ ॥
फँसे तासु के फंद में अलि गति ज्यों मड़रात।
राज काज सब विसरि गो वात न कछु कहि जात ॥ ३७ ॥
तव हम इक रचना रची पासवानं गुणवान।
दोहा लिखि धरचौ सेज पर भूप कही इहि आन ॥ ३८ ॥
रंग महल में लै गए रावत जहँ जयशाह।
अदव कायदा करि सकल वोले नृप यह काह ॥ ३९ ॥
कविता करौ कवीश जू हम प्रसन्न जिय जान।
रची सतसई विविध विधि व्रजभापहिं दै मान ॥ ४० ॥
औरौं रस यामें धरे सरिस अधिक शृंगार।
भूपति की जो भावना समय सोच व्यौहार ॥ ४१ ॥
दोहा एक हि एक पर मिली मोहर सुख पाय।
आशा तबही वढ़ि गई तृष्णहु भई सहाय ॥ ४२ ॥
चारि पाख के माँझ में कविता को रचि दीन्ह।
हुकुम पाइ जयशाह कौ नगर पयानो कीन्ह ॥ ४३ ॥
डोरी लागी प्रेम की वृंदावन के माहिं।
आए स्वामी थान में सुखयुत जनम सिराहिं ॥ ४४ ॥

क़विता अन्यहु नृपन की करी विविध विस्तार।
इहि विधि मान न पाइयौ जो जयसिंह दरबार ॥ ४५ ॥
क़विता सों मन हटि गयौ लग्यौ कान्ह सों ध्यान।
लाल विहारी ह्वै गए दास विहारी मान ॥ ४६ ॥
भजन समय को सुभग लखि कृष्ण भजे कल्यान।
विहारी विहारी सेइयो स्वामी स्वामी जान ॥ ४७ ॥
संवत् छिति अंचक जलधि शशि मधुमास वखान।
शुक्ल पक्ष की सप्तमी सोमवार शुभ जान ॥ ४८ ॥
कविता मानव करि चुके विबुध काव्य सों काम।
विहारी विहारी के भए जपौ विहारी नाम ॥ ४९ ॥"

इस निबंध में जो घटनाएँ लिखी हैं वे स्वाभाविक तो अवश्य प्रतीत होती हैं, जैसा कि वावू श्यामसुंदरदासजीने लिखा है, तथापि उनमें से कई एक के यथार्थ होने में पूर्ण संशय है। प्रथम तो उक्त निबंध इस प्रकार लिखा गया है मानो वह स्वयं विहारी ही का रचित है। पर उसकी भापा ऐसी अप्रौढ़ तथा छंद ऐसे अनगढ़ हैं कि वह विहारी-रचित कदापि नहीं हो सकता। दूसरे यह कि, उसमें विहारी का जन्म वैक्रमीय संवत् १६५२ अथवा १६५४ की कार्तिक शुक्ल अष्टमी बुधवार का बतलाया गया है, और संसारत्याग संवत् १७२१ के चैत्र मास की शुक्ल सप्तमी, सोमवार, का। पर गणित से संवत् १६५२ की कार्तिक शुक्ल अष्टमी गुरुवार को पड़ती है, संवत् १६५४ को उक्त अष्टमी शनिवार को, और संवत् १७२१ की चैत्र शुक्ल सप्तमी बुधवार को, जिनसे वह निबंध किसी विशेष जानकार का भी लिखा नहीं प्रतीत होता। दूसरे उसकी कई एक घटनाएँ यदि असंभव नहीं तो दुर्घट अवश्य हैं, जैसे चार पक्ष में सतसई का रचा जाना तथा ११ वर्ष की अवस्था से विहारी का वृन्दावन में रहना, इत्यादि।

अनुमान यह होता है कि यह निबंध किसी ऐसे मनुष्य का लिखा हुआ है, जिसने विहारी के विषय की कुछ बातें सुनी सुनाई थीं; जिनमें उसने

अपनी कल्पनाएँ मिलाकर एक निबंध तैयार कर लिया। इस निबंध की अधिकांश बातें सच्ची जान पड़ती हैं, क्योंकि उनका प्रमाण अन्य ग्रन्थों अथवा किंवदंतियों से भी मिलता है, जैसे—विहारी के कुल, जाति, पिता, पुत्र इत्यादि का कथन, उनका वृन्दावन जाना, उनका श्री स्वामी हरिदास जी के संप्रदाय का अनुयायी होना, उनका अंतिम अवस्था में विरक्त होकर वृन्दावन में रहना, उनके जन्म तथा संसार-त्याग के वर्ष, इत्यादि।

देवकीनंदन की वर्णार्थप्रकाशिका टीका में ये दोहे लिखे हैं—

अथ सतसई-कारन वर्नन

विप्र विहारी सुद्ध भो ब्रजवासी सु कुलीन।
ता तिय ती कविता-निपुन सतसैया तिहिं कीन॥ १॥
जाहिर जग जैसाहि नृप धीर वीर कछवाह।
दच्छ दच्छिना देत तो नित प्रति पर्व अथाह॥ २॥
कविहु विहारी विप्र तहँ जाइ दच्छिना पाइ।
नित निबहत संतोष सौं निज घर सुख सौं आइ॥ ३॥
तिहिं नृप अति सुंदर सुनी अपर महीप-कुमारि।
ब्याहि ताहि ल्यायौ महल बस भो रूप निहारि॥ ४॥
राजकुमारि न सो रहै मुगधा लायक भोग।
तऊ महीपति वस भयौ भूलि सकल संजोग॥ ५॥
गए विहारी विप्र तहँ लही दच्छिना नाहिं।
दुखित लौटि आए घरैं कथा कही तिय पाहिं॥ ६॥
बोध कियौ तिय पिय सुनौ दुख न करौ मन माँह।
दिय दोहा लिखि यौं कह्यो जाहु जहाँ नरनाह॥ ७॥
दोहा नृप जैसाहि कौं दीजौ तहाँ पठाइ।
जहँ तिय-वस हैं महल मैं ऐहौ आनँद पाइ॥ ८॥
लहि तिय कौ उपदेस इमि चले विहारी विप्र।
तिय-वस नृप जिहिं महल तिहिं ड्योढ़ी आए छिप्र॥ ९॥

दिय दोहा दासिहिं कह्यौ दीजै नृप कौं जाइ।
सो तिहिं दिय नृप कौं कही द्विज की दसा बनाइ॥ १० ॥

बिहारी-तियकृत दोहा

"नहिं परागु नहिं मधुर मधु नहिं बिकासु इहिं काल।
अली कली ही सौं बँध्यौ आगैं कौन हवाल॥" ११ ॥
बाँचत नृप दोहा बिहँसि रानी-रूप निहारि।
उठि आए कढ़ि द्वार द्विज दई असीस बिचारि॥ १२ ॥
किय प्रनाम नृप कहि कुसल सुकवि कही भइ आज।
रीझि कह्यौ दोहा कियौ तुम यह, कह महराज॥ १३ ॥
दै मोहरैं भरि अंजुली नृप यह आयसु दीन।
प्रति दोहा दैहौं मोहर, करु इमि और प्रबीन॥ १४ ॥
लै आयसु नृप कौ चल्यौ आसिख दै द्विजराज।
आयौ निज घर मोद सौं तिय सौं कह्यौ सु काज॥ १५ ॥
दोहा चौदह सै किए तिहिं तिय परम प्रबीन।
लै आए द्विज राज पैं दै आसिष ते दीन॥ १६ ॥
बाँचि मुदित नृप मोहरैं चौदह सै तिहिं दीन।
तिनमैं राखे सात सै चुनि सतसैया कीन॥ १७ ॥
बहुत लिखाईं पुस्तकैं दईं प्रवीननि काज।
एक बिहारी कौं दई गाँव-सहित महराज॥ १८ ॥
अमलि गाँव आए सु घर मुदित बिहारी-लाल।
दै मोहरैं सु कथा कही आनंदित भइ बाल॥ १९ ॥
पुस्तक लै तिय कहिय पिय छत्रसाल पहँ जाउ।
हैं बुँदेल नृप सुकवि सँग रहत बहुत कविराउ॥ २० ॥
तहँ प्रसन्नता होइ तौ बोध होइ पिय मोर।
तौ ठहरै सब जगत मैं यह सतसई सुठोर॥ २१ ॥

लई विहारी सतसई छत्रसाल पहँ जाइ।
करि जाहिर कह सुद्ध इहिं कीजै कृपा बढ़ाइ ॥ २२ ॥
छत्रसाल नृप ताहि लै सँग सब सुकवि बिसाल।
प्राननाथ पहँ जाइ कै दई सतसई हाल ॥ २३ ॥
प्राननाथ निरगुन-भगत कह प्रसन्नता-हीन।
जग माँ वितरति फाग सी व्रीड़ा व्यंजक कीन ॥ २४ ॥
लई विहारी सतसई सो सुनि भए उदास।
विदा न माँगी भूप सौं आए अपने वास ॥ २५ ॥
सकल कथा तिय सौं कही सुनि प्रबोध तिहिं कीन।
जाहु कंत इहिं फेरि लै उतहीं कह्यौ प्रबीन ॥ २६ ॥
कहियौ नृप छतसाल सौं ये हैं जग-पितु-मात।
जुगलकिसोर इहाँ लसैं पन्ना मैं अवदात ॥ २७ ॥
प्राननाथ-कृत काव्य अरु या सतसैया लेहु।
आगैं जुगुलकिसोर के विनती करि धरि देहु ॥ २८ ॥
निसि न रहै कोऊ लखौ प्रात खोलि पट दोइ।
जापैं दसकत होहिं हित नीकी नीकी सोइ ॥ २९ ॥
लै तिय कौ उपदेस फिरि जाइ विहारीलाल।
नृप सौं कहि सोई कियौ घरनी-सीख बिसाल ॥ ३० ॥
सतसैया ही मैं भए दसकत प्रिया-विहार।
प्राननाथ प्रिय किय (?) लखत भूप सहित कवि यार (?) ॥३१॥
सुकवि विहारी कहि सबनि नै अति कियौ बखान।
आए निज निज थल सबै पाइ उचित सनमान ॥ ३२ ॥
बिप्र विहारी मुदित अति नृप सौं भए विदा न।
आए घर कहि सब कथा तिय कौ कियौ बखान ॥ ३३ ॥
बहुत खोजायौ ना मिल्यौ घर गौ कवि यह जानि।
अति प्रसन्न छतसाल भो अति संतोषी मानि ॥ ३४ ॥

संपति अति भूषन सुपट हय पालकी करिंद्र।
पाँच गाँव के लिखि दिए दान पत्र नृप-इंद्र ॥ ३५ ॥
छत्र साल पत्री लिखी सुकवि बिहारीलाल।
ये लै आयौ करि कृपा मोपै परम दयाल ॥ ३६ ॥
गए लोग लै जहँ बसैं विप्र बिहारी वेस।
दिय पत्री अरु या कह्यौ पठयौ हमैं नरेस ॥ ३७ ॥
बाँचि बिहारी पत्रिका दिय निज तिय कौं जाइ।
बाँचि न लिय कछु नृपति कौं दोहा लिख्यौ बनाइ ॥ ३८ ॥

बिहारी-तियकृत जवाब दोहा—

"तौ अनेक औगुन-भरी चाहै याहि बलाइ।
जौ पति संपति-हूँ-बिना जदुपति राखे जाइ ॥" ३९ ॥
प्राननाथ पत्री लिखी हुती बुलैबे काज।
बाँचि तिन्हैं दोहा लिख्यौ साजि गरब-हर साज ॥ ४० ॥

बिहारी तियकृत जवाब दोहा

"दूरि भजत प्रभु पीठि दै गुन बिस्तारन-काल।
प्रगटत निरगुन निकट ही चंग-रंग गोपाल ॥" ४१ ॥
दोउ दोहा सब-बस्तु-युत छत्रसाल के लोग।
आइ दिए दोहा दुवौ बस्तु कह्यौ कवि जोग ॥ ४२ ॥
दोऊ दोहा बाँचि कै प्राननाथ छतसाल।
बस्तु फिरी कायल भए कवि-गुन कहे बिसाल ॥ ४३ ॥
कथा सुनी जैसाहि सब सुकवि-बिहारी-काज।
ग्राम बहुत दै सब दियौ राजसिरी कौ साज ॥ ४४ ॥
करी बिहारी की तिया पतिव्रता सुप्रबीन।
करी बिहारी सतसई जग जाहिर यह कीन ॥ ४५ ॥
राधा हरि जु कृपा करैं तौ मानैं सब कोइ।
सतिय-बिहारी-सतसई सबै बखानैं लोइ ॥ ४६ ॥

इन दोहों में दो बातें कही गई हैं—एक तो सतसई का विहारी की स्त्री का रचित होना, और दूसरी विहारी का छत्रशाल बुँदेले के यहाँ जाना और प्राणनाथजी से भेट करना। ये दोनों बातें टीकाकार ठाकुर कवि की शुद्ध कपोल कल्पना मात्र प्रतीत होती हैं। अनुमान होता है कि विहारी की स्त्री के द्वारा रचे जाने की कहानी तो उक्त टीकाकार ने दो एक प्रसिद्ध संस्कृत कवियों के विपय में कुछ ऐसी ही दंतकथाएँ सुनकर गढ़ ली, और श्री युगुलकिशोर जी के मंदिर में सतसई के रक्खे जाने तथा उस पर हस्ताक्षर होने की वात प्रसिद्ध कवि श्री जयदेव जी के गीतगोविंद की ऐसी ही किंवदंती के अनुसार वना ली। लाल कवि कृत 'छत्रप्रकाश' से स्पष्ट विदित होता है कि बुँदेलखंडवाले छत्रशाल का जन्म संवत् १७०६ में हुआ था, और उसने अपना युद्धकर्म संवत् १७२८ से आरंभ किया था, यथा—

संवत सत्रह सै लिखे आठ आगरे वीस।
लगत वरप वाईसई उमड़ि चल्यौ अवनीस॥
(छत्रप्रकाश अध्याय १२, दोहा ४)

अतः संवत् १७२८ के पूर्व तो विहारी का छत्रशाल के यहाँ जाना असंभव ही है। इसके अतिरिक्त 'बुँदेलखंड केसरी' नामक छत्रशाल के इतिहास से श्री प्राणनाथ जी के छत्रशाल से मिलने का समय संवत् १७४० के आसपास ज्ञात होता है। अतः श्री युगुलकिशोर जी के मंदिरवाली सतसई की घटना का संवत् १७४० के पश्चात् होना संभव हो सकता है। पर यदि विहारी का जन्म संवत् १६५२ अथवा ५४ माना जाय तो उनकी अवस्था छत्रशाल से मिलते समय अनुमानतः ९० वर्ष की ठहरती है। इस अवस्था तक विहारी का जीवित रहना तो यद्यपि असंभव नहीं है तथापि उनका इस अवस्था में केवल सतसई की जाँच कराने के निमित्त मथुरा से दो दो वार पन्ना आना जाना, उस समय की सड़कों तथा यात्रा की अन्य कठिनाइयों पर ध्यान करके, दुस्तर अवश्य जँचता है। इसके अतिरिक्त ऊपर दिए हुए 'विहारी-विहार' नामक निवंध में उनका संसारत्याग का समय संवत् १७२१

दिया है, जिसको तिथि तथा वार का मिलान न होने के अतिरिक्त कोई अन्य कारण मिथ्या ठहराने का नहीं प्रतीत होता। तिथि और वार में मिलान न होने का कारण यह है कि, उक्त निबंध किसी ने कदाचित् बिहारी का वृत्तांत कहीं सुनकर लिखा, जैसा कि ऊपर कहा गया है, जिस वृत्तांत की मुख्य मुख्य बातें तो उसे स्मरण रहीं, पर तिथि तथा वार का ठीक ठीक स्मरण रखना बड़ा कठिन कार्य है, अतः उसके लिखने में उसे प्रमाद हो गया।

यह अनुमान होता है कि 'देवकीनंदन टीका' ही में सतसई पर श्री युगुलकिशोर जी के हस्ताक्षर होने की कहानी देखकर स्वर्गवासी साहित्याचार्य श्री पंडित अंबिकादत्त व्यास जी ने भी उसको अपने बिहारी-बिहार की भूमिका में स्थान प्रदान कर दिया, और छत्रशाल के मरने का संवत् धोखा खाकर १७१५ लिख दिया। वस्तुतः बात यह है कि उस समय थोड़े ही दिनों के अंतराल में छत्रशाल नाम के दो राजा हुए—एक तो बूँदी के हाड़ा थे, जो दारा शिकोह की लड़ाई में से संवत् १७१५ में मारे गए, और दूसरे बुँदेलखंड के बुँदेला थे, जो कि उक्त लड़ाई के समय ८-९ वर्ष के थे। इन्हीं दोनों के विषय में भूषण कवि के ये दोहे प्रसिद्ध हैं—

इक हाड़ा बूँदी-धनी मरद महेवा-वाल।
सालैं औरँगजेब के ए दोऊ छतसाल॥
ए देखे छत्ता पता वे देखे छतसाल।
ए दिल्ली की ढाल वे दिल्ली-ढाहनवाल॥

इन्हीं दोनों राजाओं के नामों की गड़बड़ से व्यास जी ने बूँदीवाले छत्रशाल की मृत्यु का समय पन्नावाले छत्रशाल की मृत्यु का समय समझ लिया।

व्यास जी ने बिहारी के किसी सगोत्र श्री मथुराप्रसाद जी चतुर्वेदी से, जो कि उस समय भागलपुर में रहते थे, कुछ बातें बिहारी के विषय की ज्ञात करके अपनी भूमिका में लिखी हैं। उनमें से ये बातें नई हैं—

विहारी धौम्यगोत्री थे, और उनके तीन प्रवरों के नाम कश्यप, अत्रि, और सारण्य थे। उनकी कुलदेवी महाविद्या थीं, और उनके पितामह का नाम राय था। उनका वंश मैनपुरी का वसनेवाला था, पर विहारी का जन्म ग्वालियर में हुआ था, और उनके पिता कुछ दिन बुँदेलखंड में रहे थे। जयशाह ने विहारी को 'वसुवा गोविंदपुरा' नामक ग्राम भी दिया था, जिसमें वे बहुत दिन तक रहे, और उनके वंशज अब तक वहाँ रहते हैं। विहारी का विवाह मथुरा में हुआ था, जिससे विहारी भी मथुरा ही में आ बसे। व्यास जी ने विहारी का मथुरा में महाराज जसवंतसिंह से मिलना भी लिखा है।

विहारी के पितामह का नाम जो व्यासजी ने राय लिखा है वह कम जँचता है, क्योंकि केवल राय नाम किसी का सुनने में नहीं आया है। इसके अतिरिक्त दोहेवाले निबंध में विहारी के पितामह का नाम स्पष्ट रूप से 'वसुदेव' लिखा है। महाराज जसवंतसिंह से भेट होनेवाली आख्यायिका में कोई असंगति नहीं प्रतीत होती, प्रत्युत वह ठीक जान पड़ती है। कुलपति मिश्र जी के एक वंशज पंडित बद्रीप्रसादजी से, जो कि अभीतक वर्तमान हैं, ज्ञात हुआ कि 'गोविंदपुरा' नामक ग्राम विहारी को नहीं, प्रत्युत कुलपति मिश्र जी को, जयपुर से मिला था, जो अभी तक उनके वंशजों के पास है, और विहारी के एक वंशज, अमरकृष्ण जी से विदित हुआ है कि विहारी को जयपुर से 'काली पहाड़ी' नामक ग्राम मिला था, जो कि 'गोविंदपुरा' के निकट ही है।

लालचंद्रिका में विहारी के विषय में कोई नई बात नहीं मिलती। केवल 'नहिं पराग नहिं मधुर मधु' इत्यादि दोहेवाली आख्यायिका ही पाई जाती है। स्मरण रहे कि यह आख्यायिका कई टीकाओं इत्यादि में प्राप्त होती है, पर सबमें कुछ न कुछ भेद से लिखी है।

पुस्तकों में तो विहारी के विषय में उतनी ही बातें मिलती हैं जो ऊपर लिखी गई हैं, पर उनके अतिरिक्त कुछ स्फुट बातें भिन्न भिन्न कथाओं द्वारा तथा किंवदंतियों से ज्ञात हुई हैं, जो नीचे लिखी जाती हैं।

श्रीयुत पं० हरिनारायण जी बी० ए०, अफसर ड्यौढ़ी, जयपुर, (जो कि इतिहास के बड़े प्रेमी तथा जानकार हैं) के एक पत्र से, ये बातें ज्ञात होती हैं कि, मिर्जा राजा जयशाह का जन्म आषाढ़ कृष्ण प्रतिपदा संवत् १६६८ का था, राजगद्दी पर वे फाल्गुन शुक्ल ४ सम्वत् १६७८ को विराजे, और आश्विन कृष्ण ५ सम्वत् १७२४ को उनका देवलोक हुआ। उनके ६ रानियाँ थीं, उनमें से एक चौहानी रानी थीं जिनके गर्भ से सम्वत् १६९२ में, भादों वदी ५ को, महाराज जयसिंह जी के उत्तराधिकारी कुँवर रामसिंह जी का जन्म हुआ। महाराज जयसिंह के दूसरे बेटे कीर्तिसिंह जी थे, जो कामा के राजा हुए। रामसिंह जी ने सं० १७२४ से सं० १७४६ तक राज्य किया। ये बड़े विद्वान् तथा वीर थे। इनको कवियों तथा पंडितों से बड़ा प्रेम रहता था। बिहारीदास जी, सतसई के कर्त्ता, प्रथम इनकी माता चौहानी जी की सरकार में थे, और फिर महाराज के भी कृपापात्र हो गए थे। रामसिंह जी ने काव्य की बहुत सी बातें बिहारी जी से आमेर में सीखी थीं। उनके पास अन्य भी कई कवि थे। कुलपति मिश्र जी श्री जगन्नाथ पंडितराज जी के शिष्य थे, और उन्होंने अपने गुरु ही की भाँति ५२ ग्रन्थ रचे। वे संस्कृत के बड़े विद्वान् थे। उनके वंशज जयपुर में जागीर खाते हैं।

कुलपति मिश्र जी के एक वंशज श्री पंडित बद्रीप्रसाद जी चतुर्वेदी ने, जो कि इस समय विद्यमान हैं, एक पत्र बाँदीकुई से भेजा था, जिससे यह विदित होता है कि, बिहारी चतुर्वेदी ब्राह्मण तथा कुलपति मिश्रजी के मामा थे।

मथुरा-निवासी श्रीयुत पं० नवनीत जी चतुर्वेदी की एक चिट्ठी से, जो उन्होंने हमें लिखी थी, ज्ञात होता है कि बिहारी के वंशज बालकृष्ण जी कवि बूँदी में थे, और उनके पौत्र वहाँ विद्यमान हैं। पं० बालकृष्ण जी घरबारी चौबे थे। उनकी वंशावली यह है—
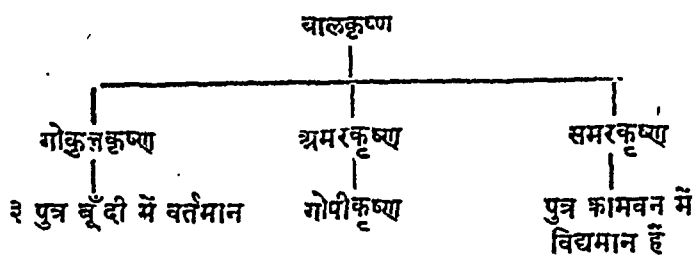
हमारे विद्याभूषण पं० रामनाथ जी ज्योतिषी से जयपुर में बिहारी के वंशज पं० अमरकृष्ण जी से भेंट हुई थी; उनसे उनको ये बातें विदित हुईं—

बिहारी घरवारी चौबे, धौम्यस गोत्र, आश्वलायन शाखा तथा त्रिप्रवर थे। उनके पिता का नाम केशवराय था, और उनकी कुलदेवी महाविद्या थीं। बिहारीजी दो भाई थे। उनको स्वयं कोई सन्तान नहीं थी, अतः उन्होंने अपने भतीजे 'निरंजन' जी को अपना पुत्र मान रक्खा था। उन्हीं से उनकी वंश-परंपरा चली है। बिहारी जी ब्रह्मपुरी में रहते थे। पं० अमरकृष्ण जी के पिता पं० बालकृष्ण जी देशाटन करते बूँदी में पहुँचे; वहाँ राजा ने उनको सन्मानपूर्वक रख लिया। बूँदी के प्रधान कवि चारण सूर्य-मल्ल जी ने 'वंशभास्कर' नामक ग्रन्थ में यों लिखा है—

कवि विप्र बिहारी वंश-जात। कवि बालकृष्ण प्रभु अन्नपात॥

आमेर राज्य से 'काली पहाड़ी' नामक ग्राम बिहारी को जीविका में मिला था, जो 'गोविंदपुरा' के पास है। पं० बालकृष्ण जी ने बिहारी के वंशजों की नामावली एक छंद में लिखी है, वह यह है—

प्रथम बिहारीदास(१) प्रकट जिन सप्तसती कृत।
तनय निरंजन(२) तासु भयो विख्यात सुद्धमत॥
तिनके गोकुलदास(३) तनय तिन खेमकरन(४) भनि।
दयाराम(५) सुत तासु भयौ तिनके मानिक-मनि(६)॥

पुनि भे गनेस(७) तिनके तनय बालकृष्ण(८) तिनके भयौ।
गुन-निपुन चतुर-जन-माल-मनि कविता-तिय-नायक कह्यौ ॥

यह वंशावली उन्होंने सोरों घाट के एक पंडा की बही में नाम देखकर बनाई है* । पं० बालकृष्ण जी के १ पुत्रों में से गोकुलकृष्ण जी दीग में, भरतपुर से ९ कोस पर, रहते हैं ।

स्वर्गवासी श्रीराधाचरण जी गोस्वामी ने २०-१-१८८६ के 'भारतेंदु' नामक मासिकपत्र में बिहारी को भाट बतलाया है। उक्त विषय में उनका यह लेख है—

"बिहारी कवि, ब्रजभाषा की ससुराल मथुरा पुरी के वासी थे। इसी से इनकी भाषा मधुर से मधुरतर है। यह जाति के राय थे, और इनके पिता का नाम केशवराय था जैसा उन्हीं के दोहे से स्पष्ट है।

"जनम लियौ मथुरा नगर सुबस बसे ब्रज आय।
मेरो हरो कलेस सब केसव केसवराय ॥"

इसमें केसव राय पद से यही बोध होता है कि उनके पिता राय थे। यदि केसव राय शब्द से मथुरा के प्रधान देवता केशवदेव जी का अभिप्राय होता तो देव शब्द होता न कि राय। यदि कोई पाठान्तर (लाल चंद्रिका का यही मत है) 'जनम लियौ द्विजकुल विषै' से बिहारी को ब्राह्मण माने तो संदेहास्पद है, क्योंकि ब्राह्मण कुल के लिये केवल द्विज शब्द अनर्ह है। 'द्विजराज' 'भूसुर' 'भूमिसुर' 'विप्र' आदि लिखते हैं"।

पर उक्त गोस्वामीजी का यह अनुमान सर्वथा असंगत है, क्योंकि प्रथम तो 'राय' शब्द ब्राह्मणों के नामों में भी आता है, जैसे, कल्याणराय इत्यादि, और प्रसिद्ध कवि श्री केशवदास जी ने भी अपनी कविता में कहीं कहीं

---

* हमने सोरों घाट पर बिहारी के वंश के पंडों का अनुसंधान किया, पर पता नहीं चला। ज्ञात हुआ कि उनके पंडों के वंश में केवल एक विधवा स्त्री शेष है जो अपना बही-खाता इत्यादि लेकर कहीं अन्यत्र चली गई है।

'केशवराय' छाप रक्खी है, और दूसरे गोस्वामी जी ने 'प्रगट भए द्विजराज-कुल सुबस बसे ब्रज आइ। मेरे हरौ कलेस सब केसव केसव राइ ॥१०१॥' का पाठ सर्वथा मनमाना लिख दिया है। बिहारी की जाति इत्यादि के विषय में जो प्रमाण ऊपर लिखे गए हैं, उनसे अब कोई संशय उनके माथुर ब्राह्मण होने में नहीं रह जाता।

हमारे विद्याभूषण पं० रामनाथ जी ने जयपुर में जो बिहारी विषयक अनुसन्धान किया उससे ऊपर लिखी हुई बातों के अतिरिक्त इतनी बातें और भिन्न भिन्न लोगों तथा प्रकारों से ज्ञात हुई हैं—

(१) महाराज जयसिंह की चौहानी रानी का नाम अनतकुँवरि था, और वे करौली के एक सरदार श्यामदास जी की बेटी थीं।

(२) सुंदर, गोपाललाल, मुकुंद, चतुरलाल, मंडन, गंग, बिहारी के समकालीन कवि थे। यह बात हमारे प्रथम अंक की सतसई की प्रति में जो कुछ दोहे इत्यादि दिये हैं उनसे भी प्रतीत होती है।

(३) बिहारी पुरानी बस्ती ब्रह्मपुरी में रहते थे, और कुलपति मिश्र गंगापौल में, जो ब्रह्मपुरी के पास ही है। ये दोनों बस्तियाँ आमेर में राजधानी के रहने के समय ही से हैं। कुलपति मिश्र जी के एक वंशज पं० प्यारेलाल जी कवि अभी तक गंगापौल में रहते हैं।

(४) वर्तमान जयपुर के पास एक बड़ा कूप है, जो अब रामबाग में पड़ गया है। इस कुएँ का पानी बहुत अच्छा है, और जयपुर की सैकड़ों स्त्रियाँ अब भी उस पर साँझ सबेरे जल भरने आती हैं। यह ब्रह्मपुरी से भी बहुत समीप है। सुना गया है कि बिहारी वहाँ प्रायः आते थे, और स्त्रियों के हाव भाव अवलोकन करके अपनी कविता बनाते थे।

(५) कुँ० रामसिंह जी के जन्म-समय में महाराज जयसिंह ने ब्राह्मणों, कवियों तथा नेगियों को बहुत दान दिया था। गंग इत्यादि कवियों ने उक्त अवसर पर कविताएँ भी बनाई थीं—

गंग—रविकुल दसरथ कौसिला जैसिंह अनत-कुमारि।
जनम्यौ गंग प्रकास लौं रामकुँवर सुखकारि॥

चतुरलाल—चतुर लाल कौ जनम लखि दीन्हौ लाल लुटाइ।
चतुरलाल पायौ विसद चतुर लाल करि-राइ॥

सुंदर—सुंदर सुंदर-अंग जनम्यौ सुत जयसाहि कैं।
राम, राम-सम-अंग सुन्दर जग-पावन-करन॥

विहारी—चलत पाइ निगुनी गुनी धन मनि मुत्तिय-माल।
भेट भएँ जयसाहि सौं भाग चाहियतु भाल॥

(६) विहारी जी जयपुर से उदास होकर जोधपुर इत्यादि भी गए थे।

(७) विहारी की स्त्री भी पंडिता थी, उसके मरने पर ये संसार से विरक्त हो गए थे।

(८) कुँवर रामसिंह जी ने विहारी से नागरी अक्षर सीखे थे।

(९) गंग और बिहारी से अधिक प्रेम था, जैसा कि इन दोहों से विदित होता है—

एक-वयस एकै नृपति एक-जाति[1] इक वास।
भए गंग अब अंत मैं विषम काल-परकास॥
सचि सिंगार मैं बूड़ि कै भए विहारी दास।
जग तैं फिरत उदास अब सुकवि विहारीदास॥
अंग-अंग फरकत जकत जैसैं गंग-तरंग।
संग विहारी के सदा मानहुँ फिरत-त्रिभंग॥

---

१ इस दोहे से गंग और बिहारी का सजातीय होना प्रमाणित होता है और उनके समवयस्क होने से ये प्रसिद्ध कवि गंग के अतिरिक्त कोई कवि प्रतीत होते हैं।

सुन्दर सुन्दर काव्य मैं कही अलौकिक बात।
चतुरलाल की चतुरता भई जगत विख्यात॥
चलौ गंग निज अंग सब धोवौ गंग-तरंग।
जगत-जंग कौ जोति अब घूसौ नंग-धड़ंग॥
भए बिहारी जमुन-जल चलौ गंग अब धाइ।
प्रीति त्रिवेनी ह्वै मिलौ अंग-अंग लपटाइ॥

(१०) बिहारी का चित्र भी चौहानी रानी ने बनवाया था।

(११) बिहारी का शरीरपात मथुरा इत्यादि किसी तीर्थ में हुआ।

(१२) बिहारी की कविता का आदर मुसलमान बादशाहों ने भी किया था।

(१३) मंडन तथा कुलपति मिश्र के विषय में यह दोहा जयपुर में प्रसिद्ध है—

मंडन मंडन कै जगत अब खंडन करि दीन।
कुलपति कुल उजियार करि भए स्याम रंग-लीन॥

(१४) 'घर घर तुरकिनि हिन्दुनी' इत्यादि दोहे पर चौहानी रानी ने बिहारी को काली पहाड़ी नामक ग्राम दिया था।

(१५) जब बिहारी के दोहे के प्रभाव से महाराज जयसिंह नवोढ़ा रानी के फंद से मुक्त होकर बाहर निकल आए तो, चौहानी रानी को बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने उनको बहुत कुछ पारितोषिक दिया, और उस घटना का ज्यों का त्यों चित्र खिंचवाकर अपने महल में लगवा लिया। उस चित्र के निम्न भाग में वाम पार्श्व पर १६ और दक्षिण पार्श्व पर ९२ के अंक हैं, ये दोनों अंक मिलाने से १६९२ होता है, अतः यह अनुमान संगत प्रतीत होता है कि यह १६९२ उक्त घटना का संवत् है।

इन बातों के अतिरिक्त सतसई के दोहों से ये बातें और प्रतीत होती हैं—

(१) बिहारी श्री स्वामी हरिदास जी के सम्प्रदाय के अनुयायी और कदाचित् श्री महात्मा नरहरिदास जी के शिष्य थे। उन्होंने अपने इस दोहे में उक्त महात्मा का स्मरण किया है—

जम-करि-मुँह-तरहरि पर्यौ इहिं धरहरि चितु लाउ।
विषय-तृषा परिहरि अजौं नरहरि[1] के गुन गाउ ॥ २१ ॥

सतसई के कई दोहों से प्रतीत होता है कि बिहारी का लड़कपन बुँदेलखंड में व्यतीत हुआ, और भाषा के प्रसिद्ध कवि श्री केशवदास जी से उनका कोई न कोई संबंध अवश्य था।

श्रीयुत पं० प्रभुदयाल जी पाँड़े, साहित्याचार्य पं० अम्बिकादत्त जी व्यास, विद्वद्वर मिश्रबंधु महाशयों, श्री लाला भगवानदीन जी एवं अन्यान्य कई विद्वानों ने सतसई में लखिबी, देखिबी, गनिबी, स्यौं, प्यौसार इत्यादि शब्दों के प्रयोग से बिहारी का लड़कपन में बुँदेलखंड में रहना अनुमानित किया है, और सामान्य कारक के बहुवचन का उकारांत प्रयोग, जैसे— इगनु, पायनु, बातनु इत्यादि भी बुँदेलखंडी ही है। यद्यपि ऐसे कतिपय

---

१ श्री नरहरि देव अथवा नरहरिदास जी उक्त सम्प्रदाय के एक बड़े प्रसिद्ध महात्मा संवत् १६८३ से संवत् १७४१ तक निधिवन की गद्दी पर रहे। उनके पिता का नाम विष्णुदास और माता का उत्तमा था। ये बुँदेलखंड में दसान नदी के किनारे गुढ़ौ ग्राम में रहते थे। उनका जन्म सं० १६४० में हुआ, और वे बाल्यावस्था ही से साधु-सन्तों की सेवा करने लगे और सिद्ध तथा महात्मा प्रसिद्ध हो गए। संवत् १६६५—६६ में सरसदेव जी, जो वृन्दावन में निधिवन के महन्त थे, देशाटन करते हुए बुँदेलखंड गए, और नरहरिदासजी को अपना शिष्य कर आए। संवत् १६७५ में नरहरिदास जी अपने गुरु के पास वृन्दावन चले आए; संवत् १६८३ में वे अपने गुरु की गद्दी पर बैठे, और सं० १७४१ तक, १०१ वर्ष की आयु तक, विद्यमान रहे।

प्रयोगों से किसी का बुँदेलखंड में रहना पूर्णतया तो प्रमाणित नहीं हो सकता क्योंकि ऐसे प्रयोग साहित्यिक ब्रजभाषा में प्रचलित हो गए हैं, और न्यूनाधिक ब्रजभाषा के प्रायः सभी कवियों ने इनका व्यवहार किया है, तथापि ऐसे ही ऐसे कई एक अनुमान मिलकर एक दूसरे को पुष्ट करने का काम अवश्य देते तथा उक्त बात को प्रमाणित करते हैं।

प्रसिद्ध कवि श्री केशवदास जी से विहारी का कोई न कोई संबंध होना तथा उनके कविप्रियादि ग्रंथों का विहारी का पढ़ना, निम्नलिखित विहारी के दोहों तथा श्री केशवदास जी के छन्दों के मिलान से, स्पष्ट लक्षित होता है—

(१) नैंकु हँसौं हीं वानि तजि लख्यौ परतु मुँहु नीठि।
चौका-चमकनि-चौंध मैं परति चौंधि सी डीठि ॥१००॥

तैसीयै जगति जोति सीस सीसफूलनि की,
चिलकत तिलक तरुनि तेरे भाल कौ।
तैसीयै दसन-दुति दमकति केसौदास,
तैसोई लसत लाल कंठ कंठमाल कौ ॥
तैसीयै चमक चारु चिवुक कपोलनि की,
तैसो चमकत नाक-मोती चल चाल कौ।
हरैं हरैं हँसि नैंकु चतुर चपल-नैनी,
चित चकचौंधै मेरे मदनगुपाल कौ ॥ १३ ॥
(रसिकप्रिया—१४ वाँ प्रकास)

(२) उर मानिक की उरवसी डटत घटतु दृग-दागु।
छलकतु वाहिर भरि मनौ तिय-हिय कौ अनुरागु ॥३३९॥

सोहत है उर मैं मनि यौं जनु। जानकी कौ अनुरागि रह्यौ मनु ॥
सोहत जन-रत राम-उर देखत तिनकौ भाग।
आइ गयौ ऊपर मनौ अंतर कौ अनुराग ॥ ५५ ॥
(रामचंद्रिका—६ठा प्रकाश)

(३) वे ठाढ़े, उमदाहु उत, जल न बुझै बड़वागि।
जाही सौं लाग्यौ हियौ, ताही कैं हिय लागि ॥ ३८१ ॥

मेरौ मुँह चूमे तेरी पूजी साध चूमिबे की,
चाटे ओस, आँसु क्यौं सिरात प्यास ढाढ़े हैं।
छोटे कर मेरे कहा छुवावति छबीली छाती,
छुवावौं जाके छुवाइवे के अभिलाष बाढ़े हैं ॥
खेलन जो आई हौ तौ खेलौ जैसे खेलियत,
'केसौराय' की सौं तैं ये कौन खेल काढ़े हैं।
फूलि फूलि भेटति है मोहिं कहा मेरी भटू,
भेटै कि न जाइ वे जु भेटिवे कौं ठाढ़े हैं ॥१०॥

(रसिकप्रिया—५वाँ प्रकाश)

(४) चिरजीवौ जोरी, जुरै क्यौं न सनेह गँभीर।
को घटि, ए वृषभानुजा, वे हलधर के वीर ॥ ६७७ ॥

अनगने औठपाय रावरे गने न जाहिं,
वेऊ आहिं तमकि करैया अति मान की।
तुम जोई सोई कहौ वेऊ जोई सोई सुनैं,
तुम जीभ पातरे वे पातरी हैं कान की ॥
कैसे 'केसौराय' काहि वरजौं मनाऊँ काहि,
आपने सयाँधौं कौन सुनत सयान की।
कोऊ बड़वानल की ह्वैहै सोई ऐहै बीच,
तुम वासुदेवे वे हैं बेटी वृषभान की ॥

(५) तिय-मुख लखि हीरा-जरी बेंदी बढ़ै विनोद।
सुत-सनेह मानौ लियौ विधु पूरन बुधु गोद ॥७०७॥

केसौदास सकल सुवास कौ निवास सखि,
किधौं अरविंद मधि बिंदु मकरंद कौ।
किधौं चंद्र-मंडल मैं सोभित असुर-गुरु,
किधौं गोद, चंद जू के खेलै सुत चंद कौ॥
बाढ़ै रूप, काम गुन दिन दूनौ होत किधौं—
चंद फूल सूँघत है आनँद के कंद कौ।
नाक-नाइकानि हूँ तें नीकौ नकमोती नाक,
मानौं मन उरझि रह्यौ है नँद-नंद कौ॥

(कविप्रिया—१५ वाँ प्रकाश)

(१) ऊपर लिखे हुए पहले दोहे का भाव केशवदास जी के 'तैसीयै जगति' इत्यादि कवित्त के चतुर्थ चरण से सर्वथा मिलता है। भाव ही नहीं, प्रत्युत कवित्त के 'चक चौंधे' तथा दोहा के 'परति चौंध' शब्द भी एक ही हैं, और 'हरैं हरैं हँसि' तथा 'नैंकु हसौंहीं बानि तजि' के अर्थों में भी साम्य है।

(२) विहारी के 'उर मानिक की उरबसी' इत्यादि दोहे का भाव, और केशवदास की रामचंद्रिका के 'सोहत जनरव राम-उर' इत्यादि दोहे का भाव ही एक नहीं है, प्रत्युत उनके बनावट तथा शब्दों में भी स्पष्ट साम्य है। 'उर' शब्द दोनों ही दोहों में आया है। विहारी की 'उरबसी' तथा केशव की 'मनि' से एक ही पदार्थ अभिप्रेत है, यद्यपि बिहारी ने उसको मानिक की कहकर, उसका रंग खोल दिया है, और केशवदास में इसकी न्यूनता रह गई है। 'डटत घटतु हग-दागु' तथा 'देखत तिनको भाग' वाक्यांशों का वाच्यार्थ भी मिलता है, यद्यपि बिहारी का 'घटतु' शब्द लाक्षणिक है, जिसका अर्थ बढ़तु हो जाता है। विहारी के 'छलकतु बाहिर भरि मनौं' तथा 'हिय को अनुराग' वाक्यांशों तथा केशव के 'आइ गयौ ऊपर मनौ' तथा 'अंतर कौ अनुरागु' वाक्यांशों में कोई भेद प्रतीत नहीं होता।

केशव के दोहे में अंतर के अनुरागु के ऊपर आ जाने का कोई कारण नहीं कहा है, पर बिहारी ने इस न्यूनता को 'छलकतु' तथा 'भरि' शब्दों से मिटा दिया है। वस्तुतः दोनों दोहे एक ही हैं; केवल भेद दोनों कवियों की निपुणता का है।

(३) 'वे ठाढ़े उमदाहु' इत्यादि दोहा 'मेरौ मुँह चूमे' इत्यादि कवित्त ही का विशेष प्रकार से एक खरादा तथा ओप दिया हुआ रूपांतर मात्र है। कवित्त का 'जु भेटिवे को ठाढ़े हैं' तथा दोहे का 'वे ठाढ़े' एक ही हैं; 'भेटे किन जाइ वे' तथा 'ताही के हिय लागि' भी एक ही हैं। 'चाटे ओस आँसु क्यौं सिरात प्यास डाढ़े हैं' तथा 'जल न बुझै बड़वागि' ये दोनों ही लोकोक्तियाँ हैं। पर 'ओस चाटे से प्यास नहीं मिटती' यह लोकोक्ति ऐसे अवसर पर लागू होती है, जब अधिक वस्तु की अपेक्षा हो पर मिले कम। ऐसे अवसर पर यह विशेष चरितार्थ नहीं होती, जब आवश्यकता अन्य प्रकार की वस्तु की हो, और मिले अन्य प्रकार की वस्तु। कवित्त में जो अवसर कहा गया है उसमें न्यूनाधिक्य का विचार प्रस्तुत नहीं है, प्रत्युत प्रकारांतर की बात है। अतः बिहारी ने कवित्त की लोकोक्ति बदलकर 'जल न बुझै बड़वागि' रखना उचित समझा, कामतृषा के बदले कामाग्नि का बुझना कहा पर वस्तुतः भाव एक ही है। 'फूलि फूलि भेटति ही मोहिं कहा' तथा 'उमदाहु उत' एक ही भाव वाचक हैं।

(४) 'अनगने औठपाय' इत्यादि कवित्त में सखी श्रीकृष्णचंद्र जी तथा श्रीराधिका जी दोनों के स्वभावों की तमतमाहट तथा दीप्ति व्यंजित करने के निमित्त एक को 'वासुदेव' अर्थात् वसुदेव (१—श्रीकृष्णचंद्र के पिता, २—अग्निदेव) के पुत्र तथा दूसरे को वृषभानु (१—श्री राधिका जी के पिता, २—वृष के सूर्य, जो कि बड़े प्रचंड होते हैं) की पुत्री कहती है। इन श्लिष्ट शब्दों से एक तो वह दोनों का बड़े बाप की संतान होना कहती है, और दूसरे अपने अपने पिता अर्थात् अग्निदेव तथा वृष के सूर्य की प्रकृतियों के अनुसार जाज्वल्यमान प्रकृतिवाले होना व्यंजित करती है। कोऊ 'बड़वा-

नल की ह्वै है सोई ऐहै बीच' कहकर वह किंचित् हँसा देने का उद्योग भी करती है। प्रतीत होता है कि विहारी ने इसी कवित्त को देखकर, पर ठीक उन्हीं शब्दों का प्रयोग करना उचित न समझकर श्री राधिका जी तथा श्री कृष्णचंद जी को सखी द्वारा 'वृषभानुजा' तथा 'हलधर के वीर' कहलाया है। विहारी का संतोष केवल दोनों को बड़े बाप की संतान तथा उग्रप्रकृति कहलाकर न हुआ। उन्होंने सखी के वाक्य द्वारा यह भी व्यंजित करना उचित समझा, कि इस प्रकार बात बात में चिढ़ना चिढ़ाना मनुष्यता नहीं, पशुत्व है। दोनों ही कविता मानमोचन के उद्योग की हैं, और दोनों ही में नायक तथा नायिका के स्वभाव उग्र दिखलाए गए हैं। केशवदास का केवल एक पाद का उत्तरार्ध श्लेषात्मक है, और उसमें दो अर्थ निकलते हैं, पर विहारी का पूरा दोहा श्लिष्ट है, और वह तीन अर्थ देता है, जिनके निमित्त उक्त दोहे की टीका 'विहारीरत्नाकर' में द्रष्टव्य है।

(५) 'तिय मुख लखि हीरा जरी' इत्यादि दोहे में, विहारी ने हीरे पर बुध ग्रह की उत्प्रेक्षा की है, जिससे उनका बुध के रंग को श्वेत मानना विदित होता है, यद्यपि अन्य कवियों ने प्रायः उसका रंग हरित माना है। अतः यह अनुमान संगत प्रतीत होता है कि विहारी ने केशव के 'केसौदास सकल सुवास कौ निवास' इत्यादि कवित्त में बुध का श्वेत वर्णन देखकर अपने दोहे में वही रंग कहा है। इतना ही नहीं किंतु कवित्त तथा दोहे में यह भी साम्य है कि दोनों में बुध के अपने पिता चंद्रमा की गोद ही में होने का वर्णन है, केवल भेद इतना ही है कि कवित्त में बेसर के मोती पर बुध की उत्प्रेक्षा की गई है, और दोहे में हीरा-जड़ी हुई बेंदी में बुध का आरोप।

ऊपर दिए हुए उदाहरणों से विहारी का केशवदास के ग्रंथों का पढ़ना तो निश्चित ही प्रतीत होता है। अब रह गया इस बात पर विचार, कि उन्होंने ये ग्रंथ बुँदेलखंड में पढ़े अथवा अन्यत्र। कविप्रिया तथा रामचंद्रिका की समाप्ति संवत् १६५८ तक हुई थी। यदि विहारी का २०—२५ वर्ष

की अवस्था में उनका पढ़ना माना जाय, तो उस समय तक उक्त ग्रन्थों को बने १५—२० वर्ष से अधिक नहीं हुए थे। उस समय न तो छापे का प्रचार था, और न यात्रा की सुविधा। इसके अतिरिक्त बुँदेलखंड में अनेक प्रकार के उपद्रव भी विद्यमान थे। ऐसी दशा में इतने थोड़े समय में किसी नवीन ग्रन्थ का लिखते लिखाते ओड़छे से ब्रजमंडल अथवा मैनपुरी तक पहुँचना, और उसके पठन पाठन का वहाँ प्रचार हो जाना, यदि असंभव नहीं तो, दुस्तर अवश्य था। बस फिर बिहारी का उक्त ग्रन्थों को बुँदेलखंड ही में पढ़ना विशेष संभव जान पड़ता है, विशेषतः ऐसी परिस्थिति में जब कि उनका लड़कपन में वहाँ रहना कहा सुना जाता है।

सब-अंग करि राखी सुघर नाइक नेह सिखाइ।
रस-जुत लेति अनंत गति पुतरी पातुर-राइ ॥ २८४ ॥

इस दोहे से बिहारी का 'प्रवीनराय' पातुरी का नृत्य देखना प्रमाणित होता है, और प्रवीनराय पातुरी का नृत्य देखना इनके लिए बिना महाराज इन्द्रजीत को सभा में गए असंभव था। उस समय राजाओं की सभा में प्रवेश पाना बिना किसी विशेष सहायता के कठिन था। अतः अनुमान होता है कि बिहारी के पिता की पहुँच प्रसिद्ध कवि केशवदास तक थी, जिनके साथ बिहारी अपनी बाल्यावस्था में महाराज इंद्रजीत की सभा में आते जाते थे।

ऊपर जो दोहाबद्ध बिहारी-विषयक निबंध उद्धृत किया गया है, उसमें यह लिखा है कि, माथुर चौबे प्रायः श्री स्वामी हरिदास जी के सम्प्रदाय के अनुयायी होते हैं, और यह बात अब भी देखने में आती है। अतः बिहारी के पिता का भी उक्त संप्रदाय का सेवक होना संगत है। उक्त प्रबन्ध में जो यह लिखा है कि, बिहारी ११ वर्ष की अवस्था में अपने पिता के साथ वृन्दावन नागरीदास जी के पास गए उसमें लेखक का कुछ प्रमाद प्रतीत होता है। अतः यदि वृन्दावन तथा नागरीदास, गुढौ ग्राम तथा नरहरिदास के स्थान पर भूल से कहे माने जायँ, तो बिहारी के विषय में

यह बात कही जा सकती है कि वे अपने पिता के साथ ११—१२ वर्ष की अवस्था में, अर्थात् संवत् १६६२—६३ में श्री नरहरिदास जी के पास गए थे, जो कि उस समय निधिवन के महंत श्री सरसदेव जी के शिष्य हो चुके थे। श्री नरहरिदास जी ने बिहारी की बुद्धि से प्रसन्न होकर उनके पिता से उन्हें वहीं रखने के लिये कहा। उनके पास अनेक पंडित कवि महात्मा रहते तथा आया जाया करते थे। बिहारी वहीं रहकर विद्याध्ययन करने लगे। श्री नरहरिदास जी बाल्यावस्था ही से महात्मा तो प्रसिद्ध हो ही चुके थे, अतः प्रतीत होता है कि ओड़छे के राजा तथा केशवदास जी भी उनके पास आते जाते थे। नरहरिदास जी के पिता से ओड़छे के राजा का व्यवहार होना 'निजमत सिद्धांत' नामक ग्रंथ से विदित भी होता है। ज्ञात होता है कि श्री नरहरिदास जी ने केशवदास जी से बिहारी को पढ़ाने का अनुरोध करके उनके साथ कर दिया, और फिर बिहारी और उनके पिता उनके साथ रहने लगे, और केशवदासजी बिहारी की बुद्धि से प्रसन्न होकर उनको अपने पुत्रवत् मानने तथा शिक्षा देने लगे।

ऊपर कही हुई बातें यद्यपि अलग अलग तो हमारे अनुमान के निमित्त आप्त कारण नहीं मानी जा सकतीं, पर सब मिल जुलकर उक्त अनुमान को प्रमाण की श्रेणी तक पहुँचा देती हैं।

सतसई-समाप्ति के समय के विषय में प्रायः यह दोहा प्रमाण माना जाता है—

'संवत् ग्रह ससि जलधि छिति छठि तिथि वासरचंद।
चैत मास पख कृष्ण में पूरन आनँद-कंद॥"

पर हमारी समझ में यह दोहा सतसई की समाप्ति का न होकर कृष्णलाल वाली गद्य-टीका की समाप्ति का है। यह दोहा लालचंद्रिका तथा एक अन्य गद्य-टीका को छोड़कर सतसई के अन्य किसी प्राचीन क्रम अथवा टीका में प्राप्त नहीं होता। लालचंद्रिका टीका में लल्लूजीलाल ने दोहों का आज़मशाही क्रम रक्खा है। पर आज़मशाही क्रम की हमारे पास कई एक

प्रतियाँ हैं, जिनमें से प्राचीनतम संवत् १७९१, अर्थात् उक्त क्रम बाँधे जाने के १० ही वर्ष के पश्चात् की लिखी हुई है; उनमें से भी किसी में इस दोहे का दर्शन प्राप्त नहीं होता। अतः यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यह दोहा लल्लूजीलाल ने स्वयं बना लिया अथवा किसी प्राचीन पुस्तक से लेकर अपनी टीका में रख दिया। स्वयं लल्लूजीलाल का बनाया तो यह दोहा नहीं है, क्योंकि इसको जिस टीका में यह मिला है, उसकी प्रति सं० १८२० की लिखी हुई है। उस समय श्री लल्लूजीलाल यदि रहे भी होंगे, तो बाल्यावस्था में। अतः यही सिद्ध होता है कि यह दोहा उन्होंने अवश्य किसी पुस्तक में देखकर अपनी टीका में रख लिया।

लालचंद्रिका में लल्लूजीलाल ने सतसई की ये सात टीकाएँ देखकर अपनी टीका बनाना लिखा है—

(१) अमरचंद्रिका, (२) अनवरचंद्रिका, (३) हरिप्रकाश टीका, कृष्ण कवि की टीका कवित्तों वाली, (५) कृष्णलाल की टीका, (६) पठान की टीका कुंडलियों वाली और (७) संस्कृत टीका।

इनमें से १, २, ३, ४ तथा ७ अंकों वाली टीकाओं में तो इस दोहे का पता है नहीं, और पठान सुलतान की कुंडलियों वाली टीका में भी इसकी विशेष सम्भावना नहीं है। अतः यही निर्धारित होता है कि यह दोहा लल्लूजीलाल को कृष्णलाल की गद्य टीका में मिला, जिसको उन्होंने विहारी का दोहा समझकर अपनी टीका में संगृहीत कर लिया। हमको एक गद्य टीका श्रीयुत पं० हनुमान जी शर्मा जयपुर-निवासी के द्वारा मिली है। उसके आद्यन्त में टीकाकार का नाम नहीं मिलता। पर उसके अंत में यह दोहा है, जिससे अनुमान होता है कि यही टीका कृष्णलाल वाली टीका है। इस टीका की भाषा भी पुराने ढंग की है, जिससे उक्त अनुमान और भी पुष्ट होता है। ज्ञात होता है कि लल्लूजीलाल को जो प्रति इस टीका की प्राप्त हुई थी, उसमें टीकाकार का नाम विद्यमान रहा होगा।

कृष्णलाल कवि की टीका का समय सं० १७१९ होना इस बात से

भी अनुमानित होता है कि 'शिवसिंह सरोज' में एक प्राचीन कृष्ण कवि का नाम पाया जाता है, और उनका यह कवित्त भी उद्धृत किया हुआ है—

काँपत अमर खलभल मचै ध्रुवलोक,
उड़गन पति अति संकनि सकात हैं।
देस के दिनेस के गनेस सब काँपत हैं,
सेस के सहस फन फैलि फैलि जात हैं॥
आसन डिगत पाकसासन सु 'कृष्ण' कवि,
हालि उठैं दुग्ग बड़े गंध्रप के ख्यात हैं।
चढ़े तैं तुरंग नवरंगसाहि बादसाह,
जिमीं आसमान थरथर थहरात हैं॥

इस कवित्त में औरंगजेब के अश्वारोहण का आतंक वर्णित है, जिससे उस समय उसकी अवस्था बहुत अधिक नहीं प्रतीत होती और इसमें जो बादशाह शब्द आया है उससे उसके बादशाह होने के पश्चात् का यह कवित्त सिद्ध होता है। औरंगज़ेब का जन्म संवत् १६७५ में हुआ था, और वह संवत् १७१५–१६ में ४० वर्ष की अवस्था में तख्त पर बैठा था। अतः यह कवित्त यदि उसकी चालीस तथा पचास वर्ष की अवस्था के बीच का समझा जाय, तो इसके बनने के समय का संवत् १७१५ से १७२५ तक का माना जा सकता है, जिससे कृष्णलाल जी की टीका का समय १७१९ संगत जँचता है।

इसके अतिरिक्त 'यौं दल काढ़े'[1] इत्यादि दोहा सतसई के अंत में पड़ा है, और जिस घटना का इसमें वर्णन है, वह सं० १७०४ के जाड़े की है। अतः यह अनुमान होता है कि सतसई की समाप्ति सं० १७०४–५ में हुई होगी, क्योंकि उस समय उक्त घटना के नई होने तथा महाराज जयसिंह जी

१—बि. र. दोहा ७११।

के बादशाह से विशेष सम्मानित होने के कारण उसकी प्रशंसा चारों ओर होती होगी, जिससे उसी की प्रशंसा बिहारी ने भी अपनी सतसई के अंत में की। यदि उस घटना को हुए अधिक दिन व्यतीत हो गए होते, तो वह लोगों के चित्त से उतर गई होती, और फिर बिहारी ने किसी ऐसी घटना की प्रशंसा की होती, जो उस समय नई होती।

इन बातों के अतिरिक्त यदि यह दोहा—

"जनम ग्वालियर जानियै खंड बुँदेले बाल।
तरुनाई आई सुघर बसि मथुरा ससुराल॥"

स्वयं बिहारी का, अथवा उनके विषय में किसी जानकार का बनाया हुआ हो तो, उससे उनके जन्म का ग्वालियर में होना, लड़कपन का बुँदेलखंड में व्यतीत होना, विवाह का मथुरा में होना, और युवावस्था का वहीं आना, निश्चित रूप से प्रमाणित होता है।

स्वर्गीय गोस्वामी श्री राधाचरण जी के एक लेख से, जो ऊपर उद्धृत किया गया है, यह प्रकट होता है कि उन्होंने इस दोहे का ब्रजभाषा के विषय में होना समझा था, क्योंकि उन्होंने लिखा है कि 'बिहारी कवि, ब्रजभाषा की ससुराल मथुरापुरी के वासी थे'। पर हमने अपनी युवावस्था में वृद्ध कवियों से ये तीन दोहे एक आख्यायिका के साथ सुने थे—यद्यपि कुछ लोगों का कहना है कि इनमें का पहला दोहा गंग कवि ने खानखानाँ को सुनाने के लिये बनाया था।

गंग गोंछ मोछैं जमुन अधरनु सरसुति-रागु।
प्रगट खानखानानु कैं कामद बदन प्रयागु॥ १॥
जनमु ग्वालियर जानियै खंड बुँदेलैं बालु।
तरुनाई आई सुघर बसि मथुरा ससुरालु॥ २॥
श्री नरहरि नरनाह कौं दीनी बाँह गहाइ।
सुगुन आगरैं आगरे रहत आइ सुखु पाइ॥ ३॥

आख्यायिका यह है कि विहारी ने 'गंग गौंछ' इत्यादि दोहा खानखाना को सुनाया, जिस पर प्रसन्न होकर खानखानाँ ने उनको अशर्फियों से चुनवा दिया। खानखानाँ के विशेष वृत्तांत पूछने पर विहारी ने अन्य दो दोहे पढ़े।

इन दोहों के समय के विषय में किसी किसी का यह कथन है कि, सतसई समाप्त करने पर जब विहारी को यथेष्ट पारितोषिक न मिला तब, वे कुछ रुष्ट होकर आगरे चले आए, और वहाँ खानखानाँ को 'गंग गौंछ' इत्यादि दोहा सुनाया और कहा कि 'प्रयाग-स्नान से सब पातक छूट जाते हैं, अतः मैं इस प्रयाग में अपने ऋण-पातक से मुक्त होने के निमित्त आया हूँ; मेरे ऊपर जयसिंह का ७०० अशर्फियों का ऋण है'। यह सुनकर खानखानाँ ने उनको अशर्फियों से चुनवा दिया। विहारी ने कहा कि 'ये कुल अशर्फियाँ जयसिंह के पास भेज दी जायँ, जिसमें कि ब्याज सहित ऋण चुक जाय।'

यह स्मरण रखना चाहिए कि नव्वाब अब्दुलरहीमखाँ खानखानाँ का देहांत संवत् १६८३ में हो गया था, और सतसई की समाप्ति संवत् १७०४ के पहले नहीं हुई थी। अतः सतसई समाप्त करने पर विहारी का उक्त खानखानाँ के पास जाना किसी प्रकार संभावित नहीं हो सकता। हाँ, यदि किसी अन्य खानखानाँ के पास गए हों, तो हो सकता है। पर हिंदी कविता के प्रेमी, गुणग्राहक तथा स्वयं परम प्रवीण कवि अब्दुलरहीम खानखाना ही थे। अतः 'गंग गौंछ' इत्यादि दोहे के निर्माण का समय विहारी के जयपुर जाने के पूर्व ही मानना समुचित प्रतीत होता है।

पहले तो तृतीय दोहे में जो 'नरहरि' तथा 'नरनाह' शब्द पड़े हैं, उनके विषय में यह संशय होता था कि उनसे कौन व्यक्ति अभिप्रेत हैं। सामान्यतः 'नरहरि' का अर्थ श्रीभगवान् तथा 'नरनाह' का अर्थ 'जयसिंह' मानकर इस दोहे का अर्थ यह समझा जाता था कि 'भगवान् ने हमारा हाथ जयसिंह को पकड़ा दिया, अर्थात् भगवान् की कृपा से हम जयसिंह तक पहुँच गए, और अब सुख से आकर आगरे में रहते हैं। इस अर्थ में जयसिंह तक पहुँचने पर विहारी का आगरे में आ रहना खटकता था। कोई कोई यह भी

कहते थे कि, 'नरहरि' तथा 'नरनाह' दोनों ही विशेष्य विशेषण रूप में एक ही व्यक्ति के निमित्त प्रयुक्त हुए हैं। उनके अनुसार इस दोहे का यह अर्थ होता है कि 'हमने श्री नरहरि नरनाह (राजा) को अपनी बाँह पकड़ा दी, अर्थात् उक्त राजा की शरण ली, और अब आगरे में सुख से रहते हैं।' यह अर्थ भी विशेष संतोषजनक नहीं था क्योंकि किसी नरहरि नामक राजा का विशेषतः आगरे में रहना उस समय के इतिहास से विदित नहीं होता।

जब नागरीप्रचारिणी पत्रिका में विहारी-विषयक दोहा-बद्ध निबंध प्रकाशित हुआ, और श्री महात्मा नरहरिदास जी का वृत्तान्त 'निजमतसिद्धांत' में देखने में आया, तब तो हमारी यह धारणा हुई कि इस दोहे में 'श्री नरहरि' पद से उक्त महात्मा श्री नरहरिदास जी अभिप्रेत हैं, और 'नरनाह' पद से शाहजहाँ, जो कि उस समय केवल युवराज थे, पर बादशाह जहाँगीर ने उनको शाहजहाँ की उपाधि से विभूषित कर दिया था। इस धारणा के अनुसार उक्त दोहे का यह अर्थ होता है—महात्मा श्री नरहरिदास जी ने नरनाह (शाहजहाँ) को हमारी बाँह पकड़ा दी; अब हम आगरे में सुख से रहते हैं।

ऊपर लिखे हुए तीनों दोहों की बनावट बिहारी के दोहों से मिलती जुलती है। पद-विन्यास का डौल एक ही है; भेद खराद तथा ओप का है, जिसका कारण न्यूनाधिक अभ्यास कहा जा सकता है। यदि ऊपर लिखे हुए तीनों दोहे स्वयं विहारी के हों तो उनसे उनके विषय में ये बातें निश्चित हो सकती हैं—

(१) विहारी का ग्वालियर में जन्म ग्रहण करना।

(२) बाल्यावस्था में उनका बुँदेलखंड में रहना, जिससे उनका वहाँ श्री नरहरिदास जी के कृपापात्र हो जाने तथा उनके द्वारा प्रसिद्ध कवि श्री केशवदास जी से परिचित होने, और पढ़ने की संभावना।

(३) उनका श्री नरहरिदास जी के साथ वृन्दावन जाना, और वहाँ उन्हीं के द्वारा शाहजहाँ का कृपापात्र होकर आगरे पहुँचना।

उनके बुँदेलखंड में बाल्यावस्था के व्यतीत करने के विषय में कुछ और किंवदंतियाँ तथा अनुमान भी ऊपर लिखे गए हैं। उनका शाहजहाँ के साथ आगरे जाना दोहावाले निबंध से भी पुष्ट होता है। बिहारी के दोहे तथा उक्त निबंध में केवल बिहारी को शाहजहाँ तक पहुँचानेवाले महात्मा के नाम में भेद है। निबंध में उनका नाम श्री नागरीदास कहा है, और बिहारी के दोहे में श्री नरहरि। उस समय ये दोनों ही महात्मा वृंदावन में विद्यमान थे, और दोनों ही श्री स्वामी हरिदास जी की परंपरा में श्री महात्मा सरस-देव जी के शिष्य थे। बस फिर संभव है कि श्री नागरीदास जी, जो कि पहले ही से श्री सरसदेव जी के शिष्य थे, यमुना जी के तीर पर टट्टियों की छावनी बनाकर अन्य कतिपय संत सज्जनों के साथ रहते हों, और नरहरिदास जी ने भी बुँदेलखंड से आकर बिहारी तथा उनके पिता के साथ वहीं डेरा किया हो। अतः उक्त निबंध लिखनेवाले को बिहारी का निवासस्थान श्री नागरीदास जी की टट्टी होने के कारण इस बात में भ्रम हो गया हो कि उक्त दोनों महात्माओं में से किसने बिहारी को शाहजहाँ से परिचित किया।

बिहारी के वृन्दावन जाने का समय संवत् १६७० तथा १६७५ के बीच में, मानना समुचित प्रतीत होता है, क्योंकि 'निजमतसिद्धांत' के अनुसार श्री नरहरिदास जी का जन्म जेठ बदी २ संवत् १६४० का था, और वे ३५ वर्ष की अवस्था में, अर्थात् संवत् १६७४ के अंत अथवा १६७५ के आरंभ में वृन्दावन गए थे[1]। अनुमान होता है कि उनके वृन्दावन पहुँचने के थोड़े ही दिनों पश्चात् बिहारी का परिचय शाहजहाँ से कराया गया, क्योंकि संवत् १६७७ के पश्चात्, नूरजहाँ की गोटियाचालियों से, बादशाह जहाँगीर तथा शाहजहाँ में मनमुटाव हो गया था, जिससे शाहजहाँ

---

१ बिहारी वृंदावन या तो नरहरिदास जी के साथ गए या उनके पूर्व ही चले गए। दोनों अनुमान संगत हैं। पर इस निबंध में कई कारणों से उनका पहिले ही चला जाना माना गया है।

संवत् १६८३ तक आगरे से बाहर ही बाहर रहा। बिहारी के आगरे पहुँचने पर, शाहजहाँ के जिस एक पुत्र होने का वृत्तांत दोहाबद्ध निबंध में लिखा है, वह पुत्र उसके चारों प्रसिद्ध पुत्रों में से तो कोई हो नहीं सकता, क्योंकि दारा तथा शुजा का जन्म सं० १६७५ के बहुत पहले ही हो चुका था, औरंगज़ेब का जन्म बंबई के पास में हुआ, और मुराद सं० १६८० में रोहितास के क़िले में उत्पन्न हुआ। यह संभव है कि शाहजहाँ के कोई और पुत्र सं० १६७५ तथा ७७ के बीच में हुआ हो, जिसका जन्मोत्सव आगरे में मनाया गया हो, जैसे कि सं० १६७६ में उम्मेदबख़्श का जन्म 'कराने' में हुआ; अथवा उसके कोई पुत्र संवत् १६८२ के पश्चात्, बादशाह होने पर, हुआ हो।

हमारे स्वर्गवासी मित्र श्रीयुत बाबू राधाकृष्णदास जी ने, सन् १८९५ ई० में, 'कविवर बिहारीलाल' नामक एक छोटा सा निबंध प्रकाशित किया था। उसमें उन्होंने बिहारी के विषय में बहुत योग्यतापूर्वक यह अनुमान प्रकट किया था कि वे भाषा के सुप्रसिद्ध कवि श्री केशवदास जी के पुत्र थे। उनके इस अनुमान से हम भी सहमत थे। पर जो बातें ऊपर लिखी गई हैं, उनसे उनके अनुमान के ठीक होने में कुछ अड़चनें पड़ती हैं। कुलपति मिश्र जी के—

> कविवर मातामह सुमिरि केसौ केसौराइ।
> कहौं कथा भारत्थ की भाषा-छंद बनाइ॥

इस दोहे से बिहारी के पिता के नाम का केशव होना तो अवश्य सिद्ध होता है, क्योंकि कुलपति मिश्र के बिहारी के भागिनेय होने का प्रमाण ऊपर लिखा जा चुका है; और इसी दोहे से यह संशय भी अवश्य उत्पन्न होता है कि कदाचित् प्रसिद्ध कवि केशवदास ही कुलपति मिश्र जी के मातामह तथा बिहारी के पिता रहे हों, क्योंकि मातामह का उल्लेख प्रायः ग्रंथकार ऐसी ही अवस्था में करते हैं, जब उनका मातामह कोई ऐसा प्रसिद्ध व्यक्ति होता है, जिसके नाम से उनकी विशेष ख्याति तथा प्रतिष्ठा संभावित होती है।

अतः कुलपति मिश्र जी के अपने को केशव का दौहित्र वतलाने से एकाएक यही धारणा होती है कि 'केसौ' से उनका अभिप्राय प्रसिद्ध कवि केशवदास ही रहा होगा। पर उसी ग्रंथ में वे अपने को स्पष्ट रूप से माथुर चौवे कहते हैं, और केशवदास जी ने अपने को सनाढ्य लिखा है। इसके अतिरिक्त, केशवदास जी ने अपने पिता का नाम काशीराम अथवा काशीदास बतलाया है, और विहारी-विहार निबंध से विहारी के पितामह का नाम वसुदेव विदित होता है। अतः कुलपति मिश्र के मातामह सुप्रसिद्ध कवि केशवदास के अतिरिक्त अन्य ही केशव ठहरते हैं। यह भी संभव है कि उनके मातामह कोई प्रसिद्ध कवि न होकर कोई सिद्ध महात्मा रहे हों। श्री नरहरिदास जी के एक शिष्य का नाम केशवदास होना 'निजमतसिद्धांत' से विदित भी होता है। फिर क्या आश्चर्य है कि विहारी के पिता तथा कुलपति मिश्र के मातामह ये ही केशव रहे हों, और वे कुछ काव्य भी करते हों। विहारी तथा उनके पिता के बुँदेलखंड में श्री महात्मा नरहरिदास जी से परिचित होने का अनुमान ऊपर लिखा भी गया है।

यहाँ इस बात पर पाठकों का ध्यान आकर्षित कर देना आवश्यक प्रतीत होता है, कि जो बातें ऊपर लिखी गई हैं उनमें विहारीदास के पितामह का नाम वसुदेव और प्रसिद्ध कवि केशवदास के पिता का नाम काशीराम होना, एवं विहारीदास का चौबे तथा उक्त केशवदास का सनाढ्य होना, इन दो वैषम्यों के अतिरिक्त, और कोई ऐसी बात नहीं दिखलाई देती, जो विहारीदास के प्रसिद्ध केशवदास के पुत्र-अनुमान में बाधा डालती हो। प्रत्युत और जितनी बातें हैं, वे उक्त अनुमान के अनुकूल ही हैं। केशवदास[1]

---

१ 'हिंदी नवरत्न' में मिश्रबंधु महाशयों ने केशवदास के जन्म का समय वि० संवत् १६०८ अनुमानित किया है और यह अनुमान असंगत भी नहीं प्रतीत होता। इसके अनुसार विहारी के जन्म के समय केशवदास की अवस्था ४४ या ४५ वर्ष की ठहरती है।

तथा बिहारीदास के समय तथा नाम, बिहारी का लड़कपन में बुँदेलखंड में रहना, केशवदास के ग्रंथों से पूर्णतया परिचित होना, प्रवीणराय पातुरी का नाच देखना, केशव के वंशजों की भाँति पूर्ण पंडित एवं उच्च श्रेणी की काव्य-प्रतिभा से संपन्न होना, इत्यादि उक्त अनुमान के परम पोषक हैं। इनके अतिरिक्त और भी कई बातें उक्त अनुमान के अनुकूल हैं। अब रह गया प्रसिद्ध केशवदास तथा बिहारीदास की जाति तथा उनके पिता एवं पितामह के नाम में भेद, ये बातें अवश्य चिंतनीय हैं।

अनुसंधान करने से ज्ञात हुआ है कि एक प्रकार के चौबे सनाढ्य चौबे भी कहलाते हैं! यदि सनाढ्यों में भी धौम्यगोत्री श्रोत्रिय घरबारी चौबे होते हों, और उनमें, जो बिहारी के वेद, शाखा, तथा प्रवर निश्चित हुए हैं, वे भी होते हों, तो फिर, बिहारी के प्रसिद्ध कवि केशवदास के पुत्र होने में, जो जाति का विरोध पड़ता है, वह मिट सकता है।

बिहारी-बिहार नामक निबंध में जो बिहारी के पितामह का नाम बसुदेव लिखा है, वह लिखना कुछ ऐसा प्रामाणिक नहीं माना जा सकता कि उसके आगे और सब बातें नगण्य समझी जायँ! जैसा कि इस निबंध में लिखा जा चुका है, उक्त निबंध किसी बिहारी-विषयक अनेक वृत्तांत जाननेवाले का लिखा तो अवश्य प्रतीत होता है, पर उसमें अनेक बातें लिखनेवाले की गढ़ी हुई भी निस्संदेह हैं; और स्वयं बिहारी का लिखा तो वह कदापि हो ही नहीं सकता। ऐसी दशा में, उक्त प्रबंध में बिहारी के पितामह का नाम बसुदेव देखकर, यह नहीं निश्चित किया जा सकता कि बिहारी के पिता सुप्रसिद्ध कवि केशवदास से भिन्न ही थे, क्योंकि उन्होंने अपने पिता का नाम स्वयं काशीराम लिखा है। यह बात भी ध्यान देने की है कि, जिस दशा में केशवदास जी के ब्रज में आ बसने का अनुमान आगे लिखा जायगा, उस दशा में वे संभवतः अपनी पूर्व ख्याति को छिपाकर रहे होंगे; उस हीन दशा में उन्होंने अपने को सर्वसाधारण में ओड़छेवाले महान् कवि जताना उचित न समझा होगा। फिर, उनको वीरसिंह देव की आज्ञा गंगा-तट पर वास करने

की थी, और वे रुक ब्रज में गए थे। अतः उनके जी में इस बात का खटका भी रहा होगा कि कहीं, उनका गंगा-तट न जाना सुनकर, वीरसिंह देव उनके लड़के को दी हुई वृत्ति बंद न कर दें। ऐसी दशा में बहुत संभव है कि, उन्होंने अपने को छिपाने के निमित्त, अपने पिता का नाम प्रकाशित न किया हो; और, किसी महाशय के आग्रह पर, कदाचित् इस साम्य से कि केशव भगवान् के पिता का नाम वसुदेव था, वसुदेव ही बतला दिया हो। इन अनुमानों से केशवदास के पिता तथा बिहारी के पितामह के नामों की भिन्नता भी, जो उनके पिता-पुत्र-संबंध के अनुमान में बड़ी बाधा डालती है, दूर हो सकती है।

केशवदास जी की यही आत्मगोपन की संभावना उन लोगों के उत्तर में भी कही जा सकती है, जो यह कहते हैं कि, यदि बिहारी सुप्रसिद्ध कवि केशवदास के पुत्र होते तो, यह बात परंपरा से किंवदंतियों में विख्यात होती, और बिहारी अथवा कुलपति मिश्र ने कहीं न कहीं इसका स्पष्ट उल्लेख किया होता। यह बात न तो वस्तुतः आख्यायिकाओं में विख्यात है और न बिहारी अथवा कुलपति मिश्र ही ने अपने पिता अथवा मातामह का ओड़छे वाले केशवदास होना खोलकर कहा है; पर यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो संकेत से उक्त दोनों ही कवियों ने उनका सुप्रसिद्ध कवि केशवदास होना कह दिया है। बिहारी का अपने पिता का नाम संकीर्तन मात्र कर देना, उनके पिता का कोई परम प्रसिद्ध केशव होना व्यंजित करता है, और कुलपति मिश्र का उनको कविवर कहना तो स्पष्ट ही उनका ओड़छे वाले सुप्रसिद्ध कवि केशवदास होना जताता है; क्योंकि, जहाँ तक ज्ञात हुआ है, उस समय केशव-नामधारी और कोई कवि प्रसिद्ध नहीं था।

अब यहाँ केशवदासजी के विषय में कुछ और ऐसी बातें लिखी जाती हैं जो उनके तथा बिहारी के पिता-पुत्र-संबंध की संभावना की पोषक हैं।

केशवदासजी ने अपना रसिकप्रिया नामक ग्रंथ संवत् १६४८ में इंद्रजीत के अनुरोध से रचा था। उस समय तक मधुकरशाह (इंद्रजीत के पिता)

वर्तमान थे। उनके आठ पुत्र थे। उनमें सबसे बड़े रामशाह (दूलहराम) थे। संवत् १६४९ में, मधुकरशाह के मरने पर, रामशाह ओड़छे के राजा हुए। उस समय उनकी अवस्था उतरती हुई थी। उनसे इन्द्रजीतसिंह, अपने एक छोटे सहोदर भाई से बड़ा प्रेम था, अतः उनकी ओर से राजकाज सब वही करते थे। इन्द्रजीतसिंह कार्यकुशल एवं वीर होने के अतिरिक्त, साहित्यसंगीत के बड़े व्यसनी तथा विलासप्रिय भी थे। उनके यहाँ कवियों, गायकों तथा नर्तकों का बड़ा जमघट रहता था। उनका समाज वस्तुतः इन्द्र का अखाड़ा ही था। कई एक रूप-गुण-संपन्न वेश्याएँ उनकी सभा में उपस्थित थीं। उन सब में प्रवीणराय पातुरी बड़ी सुंदर तथा प्रवीण थी। नृत्य संगीत में परम कुशल होने के अतिरिक्त वह कविता भी बहुत अच्छी करती थी। केशवदास जी ने कविप्रिया नामक ग्रंथ उसी के निमित्त बनाया। केशवदास जी का इंद्रजीत-सिंह बहुत सम्मान करते थे। वे उनकी सभा के मुख्य कवि और उनके दीवान भी थे।

केशवदास जी ने रामचंद्रिका ग्रंथ संवत् १६५८ के मध्य में समाप्त किया, और फिर उसी संवत् के अंत में कविप्रिया ग्रन्थ पूरा कर दिया। उस समय तक इंद्रजीतसिंह के रागरंग के अखाड़े एवं केशवदास जी की प्रतिष्ठा तथा सुखजीवन में कुछ भंग नहीं पड़ा था, यद्यपि, रामशाह के सातवें भाई वीरसिंह की युद्धप्रियता, उद्दंडता तथा दिल्ली-अधिकार की तिरस्कृति के कारण, ओड़छे राज्य पर अनेक अंडसें पड़ रही थीं। संवत् १६६२ में, अकबर के मरने के पश्चात्, जहाँगीर ने, वीरसिंह को दिल्ली बुलाकर, बुँदेलखंड भर के राज्य का परवाना लिख दिया, और उनकी सहायता के लिये कुछ अपने सरदार एवं सेना भी भेज दी। उस समय तक रामशाह ओड़छे के राजा थे।

जब वीरसिंह दलबल सहित बुँदेलखंड पहुँचे, और रामशाह को सब वृत्तांत विदित हुआ, तो उन्होंने उनसे एरिछ में भेंट की, और चाहा कि कोई ऐसा उपाय निकल आवे जिससे युद्ध का अवसर न आने पावे। पहिले तो

कुछ अच्छा निवटेरा होने लगा, पर फिर बात ही बात में बात बिगड़ गई। रामशाह लौट गए और वीरसिंह ने बढ़कर बरेठी में डेरा जमाया। उस समय केशवदास जी संधि-विग्रह-रूप से रामशाह के भेजे वीरसिंह के पास गए। बात सब बन गई थी, पर प्रेम नामक एक व्यक्ति की कुटिलता, एवं रामशाह की कल्याणदेई रानी के हठ के कारण मेल न होने पाया और लड़ाई ठन गई। इस लड़ाई में वीरसिंह जीते, और रामशाह ने, अब्दुल्लाहख़ाँ के कहने से, पादशाह से मिलने के निमित्त दिल्ली को पयान किया। इंद्रजीतसिंह इस लड़ाई में बहुत घायल हो गए थे।

केशवदास जी ने इन घटनाओं का वर्णन वीरसिंह देव-चरित्र नामक एक ग्रंथ में किया है। इस ग्रंथ की समाप्ति संवत् १६६४ के आरंभ ही में हुई, अतः इस लड़ाई की घटना संवत् १६६३ की समझनी चाहिए। वीरसिंह देव-चरित्र में वीरसिंह के विजय के पश्चात् का कुछ वृत्तांत नहीं दिया है। उससे यह नहीं ज्ञात होता कि फिर रामशाह तथा इंद्रजीत की क्या व्यवस्था हुई, और केशवदास पर क्या बीती।

अनुमान यह होता है कि लड़ाई के पश्चात् केशवदास जी यद्यपि रहे तो ओड़छे ही में, पर उन पर राजा तथा उनके कर्मचारियों की दृष्टि क्रूर पड़ने लगी। उनकी वृत्ति इत्यादि का अपहरण हो गया और वे सामान्य प्रजा की भाँति कुछ दिनों तक अपना जीवन व्यतीत करते रहे। ये बातें विज्ञानगीता के कतिपय दोहों से लक्षित होती हैं, जिनका विवरण आगे किया जायगा।

केशवदास जी के पंडित, व्यवहार-कुशल तथा सभा-चतुर होने में तो कोई संदेह ही नहीं, और उधर वीरसिंह देव भी परम ब्रह्मण्य, गुणग्राहक तथा उदार-चरित थे ही, बस फिर शनैः शनैः कुछ मेल मिलाप हो गया, और यद्यपि केशवदास जी की पहली सी प्रतिष्ठा तो न हुई, पर वे राज-सभा में आने जाने लगे। संवत् १६६७ में उन्होंने अपना विज्ञानगीता नामक ग्रंथ, जो कदाचित् वे पहले ही से रच रहे थे, समाप्त करके वीरसिंह देव को

समर्पित किया। उक्त ग्रंथ के अंत के तीन दोहों से केशवदास के विषय में कई बातें ज्ञात होती हैं। वे दोहे ये हैं—

सुनि सुनि केसवदास सौं रीझि कह्यौ नृपनाथ।
माँगि मनोरथ चित्त के कीजै सबै सनाथ॥ १॥
वृत्ति दई पुरुषानि की देउ बालकनि आसु।
मोहिं आपनौ जानि कै गंगा तट द्यौ बासु॥ २॥
वृत्ति दई पदवी दई दूरि करौ दुख त्रास।
जाइ करौ सकलत्र श्री गंगा-तट बस बास॥ ३॥

इन दोहों से विदित होता है, कि केशवदास जी को जो गाँव इत्यादि मिले थे, वे छिन गए थे, और उनकी प्रार्थना पर फिर उनकी संतान को पूर्व पदवी सहित दिए गए। यह भी निश्चित होता है कि उनको एक से अधिक संतान थी, क्योंकि दूसरे दोहे में बालकनि पद बहुवचन है। अतः बिहारी के जो एक भाई और एक बहिन बताए जाते हैं, वह बात भी केशवदास के उनके पिता होने के विरुद्ध नहीं है। केशवदास जी ने ओड़छा तो संवत् १६६७ के कुछ दिनों पश्चात् अवश्य छोड़ दिया, पर ज्ञात होता है कि, यदि वे वस्तुतः बिहारी के पिता थे तो, वे अपने ज्येष्ठ पुत्र को तो ओड़छे की वृत्ति पर छोड़ गए और अपने कनिष्ठ पुत्र तथा कन्या को, जो सब संतानों में छोटी थी, साथ लेकर गंगा-तट पर वास करने के निमित्त चले गए। अनुमान होता है कि सोरों घाट को उन्होंने अपने निवास के लिए सोचा था, अतः उसके पथ में ब्रज पड़ने के कारण, वहाँ ठहर गए। चित्त में उपराम तो था ही, बस फिर महात्मा नरहरिदास जी के गुरु महात्मा सरसदास जी से परिचित होने के कारण, उनके पास अधिक आने जाने लगे, और कदाचित् उनके शिष्य श्री नागरीदास जी के स्थान ही में ठहर गए हों तो कुछ आश्चर्य नहीं। कुलपति मिश्र ने जो यह दोहा 'संग्राम-सार' में लिखा है।

कविवर मातामह सुमिरि केसौ केसौराइ।
कहौं कथा भारत्थ की भाषा-छंद बनाइ॥

उससे उनके मातामह तथा बिहारी के पिता का कोई प्रसिद्ध 'कविवर' होना सिद्ध होता है। पर, जहाँ तक ज्ञात है, उस समय ओड़छे वाले केशवदास जी को छोड़कर, और कोई ऐसा केशव नामक प्रसिद्ध कवि नहीं था, जो कुलपति जी का मातामह होता, और जिसकी वंदना कुलपति जी ऐसा पंडित और कवि ऐसी श्रद्धा से करता। अतः कुलपति जी के दोहे से भी केशव से प्रसिद्ध कवि केशवदास जी ही का लक्ष करना अधिक संगत प्रतीत होता है।

देवकीनंदन वाली टीका में जो लिखा है, कि बिहारी की स्त्री बड़ी कवि थी और सतसई उसी ने बनाई थी, उससे इतनी बात तो अवश्य आकर्षित होती है कि वह काव्य करती थी। 'मिश्रबंधु-विनोद' में, जो एक स्त्री कवि केशव पुत्रवधू के नाम से बतलाई गई है, और जिसकी कविता का संग्रहसार में पाया जाना कहा गया है, क्या आश्चर्य है जो वह विदुषी बिहारी की स्त्री ही रही हो। यदि यह बात प्रमाणित हो सके तो यह भी बिहारी के सुप्रसिद्ध कवि केशवदास ही के पुत्र होने का पोषण करती है; क्योंकि केशव का कोई विशेष परिचय न देकर, केवल केशव-पुत्रवधू ही कह देना, इस बात का परिचायक है कि उक्त केशव कोई सुप्रसिद्ध व्यक्ति थे।[1]

---

१ ऊपर जो बातें लिखी गई हैं, उनसे सुप्रसिद्ध कवि केशवदास जी ही को बिहारी का पिता मानना संगत प्रतीत होता है। पर इस समय विद्वन्मंडली की धारणा इसके विरुद्ध है। अतः जब तक इस बात के और कुछ पुष्ट प्रमाण हाथ न आ लें, तब तक हम भी बिहारी के पिता को अन्य ही केशव मानकर यह जीवनी लिखते हैं। यदि हमारे विद्वान् पाठकगण, इस विषय में अथवा बिहारी की जीवनी की अन्य बातों पर, अपने विचार तथा अनुसंधान हमारे पास भेजने का अनुग्रह करेंगे, तो इसमें, यथेष्ट न्यूनाधिक्य कर, सहर्ष उचित सुधार कर दिया जायगा।

ऊपर जो बातें पुष्टापुष्ट प्रमाणों तथा अनुमानों के अवलंब से निर्धारित की गई हैं, उनके आधार पर अब बिहारी की एक सुशृंखल जीवनी लिखकर पाठकों को भेंट की जाती है—

जीवनी

बिहारी धौम्यगोत्री सोती (श्रोत्रिय) घरबारी माथुर चौबे थे। उनका वेद ऋक्, शाखा आश्वलायन, प्रवर तीन, अर्थात् कश्यप, अत्रि और सारथ्य, तथा उनकी कुलदेवी महाविद्या थीं। उनके पिता का नाम 'केशवदेव' अथवा 'केशवराय' था, और पितामह का नाम वसुदेव। बिहारी के पिता का निवास-स्थान कोई कोई मैनपुरी में मानते हैं, पर हमारी समझ में उसका ग्वालियर के आस-पास के किसी ग्राम में मानना विशेष संगत प्रतीत होता है।

बिहारी का जन्म संवत् १६५२ में ग्वालियर में हुआ था। उनके एक भाई तथा एक बहन और भी थे। अनुमान यह होता है कि भाई उनसे बड़े थे, और बहन छोटी। जान पड़ता है कि उनकी बहन के जन्म लेने के थोड़े ही दिनों पश्चात् उनकी माँ का देहांत हो गया, जिससे उदासीन हो उनके पिता ग्वालियर छोड़कर संवत् १६५९—६० में ओड़छे चले आए। वहाँ उस समय रामशाह राजा थे। उन्होंने राजकाज का सब भार अपने छोटे भाई इंद्रजीत को दे रक्खा था। ये इंद्रजीत साहित्य तथा संगीत-विद्या के बड़े जानकार, प्रेमी तथा आश्रयदाता थे। सुप्रसिद्ध कवि केशवदास तथा प्रवीणराय पातुरी, जो कि नृत्य, गान तथा साहित्य में बड़ी निपुण थी, इन्हीं की सभा को सुशोभित करते थे। ये महाशय कछौवा-कमल नामक गढ़ में रहते थे। बिहारी के बुँदेलखंड आने के कुछ दिनों पश्चात् तक उनका राग-रंग का समाज जीता-जागता रहा, क्योंकि, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, बिहारी ने लड़कपन में प्रसिद्ध कवि केशवदास जी से अवश्य कुछ पढ़ा था, और प्रवीणराय पातुरी का नाच भी देखा था।

उसी समय, वहाँ से थोड़ी दूर पर दसान नदी के किनारे, गुढ़ौ गाँव में, एक सुप्रसिद्ध महात्मा, श्री नरहरिदास जी, रहते थे। वे अपने घर से

अलग, उक्त नदी के तट पर, एक कुटिया में भगवद्भजन किया करते थे, और श्री स्वामी हरिदास जी के संप्रदाय के वैष्णव थे। चौबे लोग प्रायः स्वामी हरिदास जी ही की गद्दी के शिष्य होते हैं, अतः बिहारी के पिता स्वाभाविक ही श्री नरहरिदास जी के पास आने जाने लगे। इस समय बिहारी की अवस्था प्रायः ७-८ वर्ष की रही होगी। अनुमान होता है कि बिहारी के पिता संस्कृत के पंडित थे, और भाषा में भी कुछ कविता करते थे। उस समय तक वे बिहारी को स्वयं ही पढ़ाते थे, और अवस्था तथा समय के अनुसार बिहारी को कुछ संस्कृत के रूपों का सामान्य ज्ञान हो गया था, और उनकी प्रतिभा पर भाषा-काव्य की भी कुछ योग्यता झलकने लगी थी। बिहारी भी अपने पिता के साथ श्री नरहरिदास जी के पास आया जाया करते थे। उसी के थोड़े दिनों पश्चात्, अर्थात् संवत् १६६५ में, श्री स्वामी हरिदास जी की निधिवन की गद्दी के महंत, श्री सरसदेव जी ने बुँदेलखंड पधार कर श्री नरहरिदास जी को विधिवत् अपना शिष्य बनाया। उसके पश्चात् बिहारी के पिता अपनी संतान-सहित श्री नरहरिदास जी के शिष्य हो गए। उस समय बिहारी की अवस्था १२-१३ वर्ष की थी। बिहारीदास नाम श्री नरहरिदास जी ही का रक्खा हुआ प्रतीत होता है, क्योंकि उनके संप्रदाय के सेव्य ठाकुर का नाम 'बिहारी जी' है, और उक्त संप्रदाय के शिष्यों का नाम प्रायः दासांत होता है।

एक दिन बिहारी की किसी बात से प्रसन्न होकर श्री नरहरिदास जी ने उनको कुछ प्रसाद इत्यादि दिया, और उनके पिता से कहा कि इस स्थान में अनेक पंडित महात्मा रहते तथा आया जाया करते हैं, अतः यदि यह लड़का यहीं रहा करे तो इसकी शिक्षा बहुत अच्छे प्रकार से हो जाय। बस फिर तब से बिहारी वहीं रहने, अथवा नित्य प्रति आने जाने, एवं शिक्षा पाने लगे। श्री नरहरिदास जी एक बड़े महात्मा तो प्रसिद्ध थे ही; उनके पास इंद्रजीत तथा केशवदास जी भी कभी कभी आते जाते रहते थे। किसी दिन उन्होंने केशवदास जी को बिहारी का परिचय देकर कहा कि यह लड़का बड़ा

होनहार है, यदि आप इसको अपने पास रखकर कुछ पढ़ाने की कृपा कर दें तो बड़ा उपकार हो, और यह कदाचित् बड़ा कवि हो जाय। केशवदास जी ने भी बिहारी की बुद्धि अच्छी देखकर इस बात को सहर्ष स्वीकृत कर लिया, और उनको जी खोलकर पढ़ाने लगे। अपने रसिकप्रियादि ग्रंथों के अतिरिक्त उन्होंने तीन चार वर्षों में बिहारी को भाषा, संस्कृत तथा प्राकृत के अनेक काव्य साहित्य तथा अन्यान्य उपयोगी ग्रंथ पढ़ा तथा गुना दिए, जिनका प्रभाव बिहारी के अनेक दोहों पर पड़ा है।'

ऊपर जो कई एक उदाहरण उद्धृत किए गए हैं, उनसे बिहारी का केशवदास जी के ग्रंथों का अध्ययन करना सिद्ध होता है।

केशवदास जी के साथ बिहारी इंद्रजीत की सभा में भी आया जाया करते थे, जिससे उनको प्रवीणराय पातुरी के नाच देखने का संयोग कभी कभी मिल जाता था। उसकी नृत्य-निपुणता का प्रभाव बिहारी के सौंदर्य-ग्राही हृदय पर स्थिर रूप से अंकित हो गया था, जो सतसई के निम्नलिखित दो दोहों से स्पष्ट झलकता है—

सब-अँग करि राखी सुघर नाइक नेह सिखाइ।
रसजुत लेति अनंत गति पुतरी पातुर-राइ ॥२८४॥
ज्यौं ज्यौं पटु झटकति, हठति, हँसति नचावति नैन।
त्यौं त्यौं निपट उदारहूँ फगुवा देत बनै न ॥३५३॥

बिहारी को केशवदास जी से पढ़ने का अवसर थोड़े ही दिनों तक मिला। संवत् १६६४ के पूर्व ही इंद्रजीत का रंग-अखाड़ा सर्वथा भंग और अस्तव्यस्त हो गया, और केशवदास को छोड़कर उसके सब लोग नष्ट भ्रष्ट हो गए। कदाचित् इसी घटना को लोगों ने प्रेत-यज्ञ कहकर विख्यात किया है। संभव है, उसके पश्चात् बिहारी केशवदास से पढ़ते रहे हों। पश्चात् बिहारी के पिता ने ओड़छे में रहना व्यर्थ तथा अनुचित समझा, क्योंकि एक तो वहाँ के रहने के निमित्त अब कोई विशेष कारण अथवा वृत्ति न रह गई थी, और दूसरे कदाचित् उस प्रांत में अनेक विप्लव भी हो रहे थे। इसके अतिरिक्त

उनको अपनी कन्या के विवाह की चिंता ने भी घेरा होगा, क्योंकि उस समय उसकी अवस्था अनुमान से १२-१४ वर्ष की हो गई होगी।

बस फिर संवत् १६७० के आसपास, नरहरिदास जी से आज्ञा लेकर, केशवदेव जी ने बिहारी इत्यादि के साथ ब्रज की ओर प्रस्थान किया। वृन्दावन में उस समय श्री नरहरिदास जी के दीक्षागुरु श्री सरसदेवजी निधिवन की गद्दी पर थे। केशवदेव जी तथा बिहारी का परिचय उनसे गुढ़ौ ग्राम में हो चुका था, अतः वृन्दावन पहुँचकर केशवदेव उनके पास उपस्थित हुए। श्री सरसदेव जी के एक और शिष्य श्री नागरीदास जी थे। वे टटियों की कुटिया बनाकर कुछ और वैरागियों के साथ यमुना जी के तट पर रहते थे। केशवदेव जी ने कदाचित् इन्हीं के स्थान में डेरा किया। श्री स्वामी हरिदास जी के संप्रदाय के महंत सदा से संगीत तथा काव्य के पूर्ण ज्ञाता और रसिक होते आते थे। अकबर के, गान सुनने के निमित्त, वेश बदल कर, श्री स्वामी हरिदास जी के पास जाने की आख्यायिका प्रसिद्ध ही है, और श्री सरसदेवजी के गुरु, श्री बिहारिनिदास जी, के लाखों पद अद्यावधि उनके संप्रदाय के स्थानों में विद्यमान हैं। अतः अनुमान होता है कि नागरीदास जी भी साहित्य, संगीत के ज्ञाता तथा प्रेमी रहे होंगे। जो कुछ हो, उस स्थान में अनेक पंडितों, कवियों, महात्माओं तथा संगीत-निपुणों का समागम अवश्य होता था, जैसा कि दोहाबद्ध निबंध से विदित होता है। उस स्थान में रहकर भी बिहारी ने कुछ दिनों श्रमपूर्वक विद्याध्ययन तथा काव्याभ्यास किया, और संगीतविद्या में भी निपुणता प्राप्त की। इधर उनके पिता अपनी संतान के विवाह का यत्न करते रहे। श्री सरसदेवजी का महत्व ब्रजमंडल में विख्यात था। उस प्रांत के छोटे बड़े सभी लोग उनको न्यूनाधिक मानते जानते, और उन पर श्रद्धा रखते थे, विशेषतः माथुर वंश के लोग, जो कि उनके संप्रदाय के सेवक ही होते थे। हरिकृष्ण मिश्र नामक एक प्रतिष्ठित माथुर ब्राह्मण आगरे में रहते थे। वे भी श्री सरसदेव जी के पास आया जाया करते थे; और कदाचित् उनके शिष्य भी रहे हों। उनके परशुराम

मिश्र नामक एक युवा तथा विद्वान् पुत्र थे। श्री सरसदेव जी की अनुमति से विहारी की बहन का विवाह उक्त परशुराम मिश्र जी से हो गया, और विहारी का विवाह मथुरा में किसी चौबे के यहाँ हुआ। मथुरा-निवासी श्री पंडित नवनीत जी चतुर्वेदी से ज्ञात हुआ है कि विहारी की ससुराल के वंशजों का घर, थोड़े दिन हुए तब तक, मथुरा में था, पर अब खँडहर हो गया है। विहारी के भाई का विवाह कब और कहाँ हुआ, इसका कुछ पता नहीं चलता; पर अनुमान यह होता है कि कदाचित् उनका विवाह मैनपुरी में हुआ होगा, क्योंकि साहित्याचार्य श्री पंडित अंबिकादत्तजी व्यास ने 'विहारी विहार' की भूमिका में लिखा है कि विहारी के कुल के कुछ लोग मैनपुरी में रहते हैं। फिर क्या आश्चर्य है कि वे लोग उनके भाई ही के वंशज हों, क्योंकि विहारी के निज वंशज बूँदी, काली पहाड़ी तथा कामवन में हैं। विवाह होने के पश्चात् ज्ञात होता है कि विहारी अपनी ससुराल में रहने लगे, और उनके पिता वृन्दावन ही में रहे। पर पठनपाठन के निमित्त विहारी भी प्राय वृन्दावन आया जाया तथा रहा करते थे।

सं० १६७५ में श्री नरहरिदास जी भी बुँदेलखंड से वृन्दावन चले आए, और उन्होंने भी कदाचित् श्री नागरीदास जी ही के स्थान में डेरा किया। उनका माहात्म्य तो पहले ही से प्रसिद्ध था, अब वृन्दावन आने पर उसकी और भी ख्याति हुई, और उनके पास उस प्रांत के बड़े बड़े लोग आने लगे। उस समय शाहजहाँ यद्यपि युवराज था, तथापि उसके बाप जहाँगीर बादशाह ने, उसके कार्य-कौशल तथा वीरता के कारण, उसको सुल्तान शाहजहाँ की उपाधि दे दी थी। सं० १६७५ तथा ७७ के बीच में किसी समय वह वृन्दावन गया था। उस समय उसने निधिवन में श्री सरसदेव जी के, एवं श्री नागरीदास जी की टट्टियों में, श्री नागरीदास जी तथा श्री नरहरिदास जी के दर्शनों की प्रतिष्ठा भी प्राप्त की थी[1]। श्री नरहरिदास जी ने विहारी

---

१ उस समय तक मुसलमान बादशाह हिंदुओं के संत महंतों के पास

की प्रशंसा शाहजहाँ से की, और उनका गाना तथा काव्य भी उसको सुनवाया। विहारी ने शाहजहाँ की प्रशंसा की भी कुछ कविता पढ़ी। शाहजहाँ ने प्रसन्न होकर उनको आगरे आने की आज्ञा दी, और फिर विहारी आगरे जाकर रहने लगे।

आगरे में रहकर विहारी ने कुछ फ़ारसी (उर्दू) भी पढ़ी, और उस भाषा की कविता का भी कुछ अभ्यास कर लिया। अब विहारी की उन्नति के दिन आए। उस समय आगरे में राजधानी होने के कारण वह लक्ष्मी का आगार बना हुआ था। उसमें बड़े बड़े सामंतों, सेनानियों, शाहज़ादों, सेठ-साहूकारों इत्यादि का रात-दिन मेला लगा रहता था, जिससे आकर्षित होकर अनेक गुणीजनों, कवियों, पंडितों, गवैयों इत्यादि का भी जमघट जमा रहता था। साहित्य संगीत का प्रेम विहारी की जन्मघूँटी ही में पड़ा था, अतः वे धनाढ्यों की कविता-गोष्ठियों तथा संगीत-सभाओं में आने जाने तथा सुख से जीवन व्यतीत करने लगे। शाहजहाँ के कृपापात्र होने के कारण उनकी पहुँच छोटे बड़े सभी सरदारों के यहाँ विना प्रयास ही हो गई। एक दिन उन्होंने नव्वाब अब्दुलरहीम खानखानाँ की सभा में जाकर यह दोहा सुनाया—

गंग गौंछ मोछैं जमुन अधरनु सरसुति-रागु।
प्रकट खानखानान कैं कामद बदन प्रयागु॥

खानखानाँ की काव्यमर्मज्ञता तथा दानवीरता तो विख्यात ही है। उन्होंने इस दोहे पर प्रसन्न होकर विहारी का बड़ा आदर-सत्कार किया, और

बड़ी श्रद्धा से जाते तथा उनकी बातों एवं आशीर्वादों से लाभ उठाने की अभिलाषा रखते थे। 'तुज़ुके जहाँगीरी' में जहाँगीर बादशाह का संवत् १६७५ में वृन्दावन जाना और चिद्रूप नामक महात्मा का दर्शन करना लिखा है। क्या आश्चर्य है कि उसी यात्रा में शाहजहाँ भी साथ रहा हो, और वह श्री नागरीदास जी की टट्टी में भी गया हो।

बहुत कुछ पारितोषिक भी दिया। उनके विशेष परिचय पूछने पर बिहारी ने ये दो दोहे और पढ़े:—

जनम ग्वालियर जानिए खंड बुँदेलैं बाल।
तरुनाई आई सुघर बसि मथुरा ससुराल॥ १॥
श्री नरहरि नरनाह कौं दीनी बाँह गहाइ।
सुगुन-आगरैं आगरैं रहत आइ सुख पाइ॥ २॥

संवत् १६७७ के आसपास शाहजहाँ के कोई पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका आगरे में बड़ा उत्सव मनाया गया, और भारतवर्ष के अनेक राजा महराजा वहाँ इकट्ठे हुए। शाहजहाँ ने उस समय उन लोगों से बिहारी की बड़ी प्रशंसा की और उनकी कविता भी उनको सुनवाई। उस समय वहाँ छोटे बड़े ५२ राजा उपस्थित हुए थे। सभों ने, बिहारी के गुण पर रीझकर तथा उन पर शाहजहाँ की कृपा देखकर, बहुत कुछ दान सम्मान से उनका सत्कार किया, और, शाहजहाँ के इंगित से, सभों ने यथायोग्य उनका वर्षाशन, अर्थात् प्रतिवर्ष भोजन के निमित्त कुछ दान, भी नियत कर दिया।

इस घटना के कुछ दिनों पश्चात्, संवत् १६७८ के आसपास, जहाँगीर बादशाह के हृदय पर नूरजहाँ बेगम का अधिक अधिकार हो जाने के कारण, उक्त बेगम की कुटिल नीति के प्रभाव से, बाप बेटे में कुछ ऐसा मनोमालिन्य हो गया, जिसके कारण शाहजहाँ को अपने बादशाह होने, अर्थात् संवत् १६८४, तक आगरे से दूर ही दूर रहना पड़ा। इस अंतराल में बिहारी कभी आगरे, और कभी मथुरा या वृन्दावन में रहते थे, और, अपना नियत वर्षाशन लेने के निमित्त, साल में १०, १५ राजाओं के यहाँ भी जाया करते थे।

इस बात का कोई प्रमाण नहीं प्राप्त होता, कि शाहजहाँ के बादशाह होने पर, बिहारी फिर उसके दरबार में आते जाते थे या नहीं। पर अनुमान यही कहता है, कि वे अवश्य कभी कभी आगरे आते जाते तथा दरबार में उपस्थित होते होंगे, क्योंकि शाहजहाँ के दरबार में कवियों तथा पंडितों का

अच्छा आदर होता था। महाकविराज सुंदर ने उसी दरबार में प्रतिष्ठा पाई थी, और श्री पंडितराज जगन्नाथ जी त्रिशूली के उक्त दरबार में परम आदर प्राप्त करने का वृत्तांत विख्यात ही है। फिर कोई कारण नहीं जान पड़ता कि उक्त बादशाह के पूर्वपरिचित बिहारी उसकी कृपा से वंचित रहे हों। इसके अतिरिक्त, बिहारी के भांजे, कुलपति मिश्र, ने 'संग्रामसार' नामक ग्रंथ में अपने को उक्त पंडितराज जी का शिष्य होना लिखा है। अतः यह अनुमान असंगत नहीं प्रतीत होता, कि कुलपति मिश्र जी के पिता, श्री परशुराम मिश्र जी, का परिचय पंडितराज से बिहारी ही के द्वारा हुआ हो, और उक्त परिचय ही के कारण श्री पंडितराज जी ने कुलपति मिश्र जी को पढ़ाना स्वीकृत किया हो, क्योंकि पंडितराज जी की जैसी प्रतिष्ठा तथा स्फूर्ति सुनी जाती है, उससे बिना किसी विशेष परिचायक के द्वारा किसी का उन तक पहुँचकर कृपापात्र बनना बड़ा कठिन काम था।

खेद का विषय है, कि सतसई के अतिरिक्त और कोई कविता बिहारी की प्राप्त नहीं होती। यदि २० वर्ष की अवस्था से उनका कविता करना माना जाय तो, सतसई आरंभ करने के पूर्व १८-२० वर्ष तक बिहारी ने क्या कविता की, इसका कुछ पता नहीं चलता। यदि इस अंतराल की उनकी कविता हाथ आती, तो आशा थी कि, उससे उस समय का उनका कुछ जीवन-वृत्तांत विदित होता, पर, ऊपर कहे हुए खानखानाँ-संबंधी तीन दोहों के अतिरिक्त, और कोई कृति उनकी सुनने में नहीं आती। अनुमान होता है, कि यद्यपि बिहारी में काव्य प्रतिभा तथा स्वाभाविक कवि के अन्यान्य गुण तो पूर्णतया विद्यमान थे, जैसा कि उनके दोहों से लक्षित होता है, तथापि उनकी रुचि कविता बनाने की अपेक्षा सुंदर सुंदर प्राचीन काव्यों के आस्वादन तथा विद्योपार्जन पर अधिक थी। यह बात भी उनकी रचना ही से भली भाँति प्रमाणित होती है।

बिहारी का संस्कृत व्याकरण से पूर्णतया अभिज्ञ होना, तथा व्याकरण के अनुसरण करने का लड़कपन ही से स्वभाव पड़ जाना, उनका अपनी भाषा

के निमित्त एक परम सुशृंखल, प्रयोग-साम्य-संपन्न तथा व्याकरण-नियमबद्ध ढाँचा बनाकर तदनुसार कविता करने में सफलीभूत होने से लक्षित होता है, और अनेकानेक प्रकार के छोटे बड़े समासों को बहुत सफलतापूर्वक प्रयुक्त करने से भी सिद्ध होता है। उनके उक्त ढाँचे का 'वाक्य-सौष्ठव' स्पष्ट है, और उनके समासों का प्रयोगौचित्य उनके दस बीस दोहों के पढ़ने से ज्ञात हो सकता है, क्योंकि सतसई के अधिकांश दोहों में समासों का प्रयोग बड़ी सुंदरता से हुआ है। समास-सौष्ठव के निमित्त १०४, १२७, १५२, १५३, १७३, १७०, ४०३ और ५२७ अंकों के दोहे विशेषतः द्रष्टव्य हैं।

बिहारी को संस्कृत कोष का गंभीर ज्ञान होना उनके अनेक संस्कृत शब्दों को ऐसे रूपों तथा अर्थों में प्रयुक्त करने से प्रतीत होता है, जिनमें भाषा के सामान्य कवियों ने उनको प्रयुक्त नहीं किया है, जैसे—

मन (१८,१५०), बारी (१९), बेसरि (२०), करबर (कर्वर५०), सुधादीधिति (९२), अनूप (१०२), संक्रोनु (संक्रमण २७४), आघु (अर्घ्य ३१६,३७६), कर्पूरमनि (कर्पूरमणि ३६२), घृपादित (घृपादित्य ३६७), ग्रास (४६४), नंदित (४६९), बारद (वार्द ४७८), कुसुम (५१२), आभार (५२१), परिपारि (६२०), पर (६४८) इत्यादि।

इन शब्दों में कितने शब्द तो ऐसे हैं, जिनका प्रयोग संस्कृत के भी किसी ही किसी कवि ने इन अर्थों में किया है, जैसे—मन (मनस् १८), बारद (वार्द ४७८), परिपारि (परिपालि ६२०)।

संस्कृत के अच्छे अच्छे काव्यों में बिहारी का पूर्ण प्रवेश होना, उनके अनेक संस्कृत कठिन ग्रन्थों के श्लोकों को दोहे में बहुत सफलतापूर्वक उद्धृत करने से प्रमाणित होता है। इन दोहों से केवल बिहारी का संस्कृत पांडित्य ही नहीं, प्रत्युत उनकी काव्यप्रतिभा का वैलक्षण्य तथा उत्कर्ष भी लक्षित होता है। जिन भावों को उन्होंने लिया है, उनको वैसा ही नहीं रहने दिया है, प्रत्युत उनमें कुछ न कुछ विशेष रंग-ढंग तथा काव्य-चमत्कार से नया प्राण फूँक दिया है। इस बात के कतिपय उदाहरण नीचे लिखे जाते हैं—

बिहारी के पहले तथा २३८ वें दोहों से प्रतीत होता है, कि उनके हृदय में, उनके बनाते समय, माघ के—

प्रफुल्लतापिच्छनिभैरभीपुभिः शुभैश्च सप्तच्छदपांशुपांडुभिः।
परस्परेणच्छुरितामलच्छवी तदैकवर्णाविव तौ बभूवतुः॥

इस श्लोक का भाव घूम रहा था, जिसको उन्होंने, अपनी प्रतिभा से एक नया रंग देकर, उक्त दोहों में सुसज्जित कर दिया। इतना ही नहीं, प्रत्युत श्लोक की उक्ति को एक नए तथा परम चमत्कृत भाव से विभूषित कर दिया। माघ ने श्री कृष्णचंद्र जी तथा श्री नारद जी के श्याम तथा गौर वर्णों की आभाओं के, एक की दूसरी पर, पड़ने के कारण दोनों के शरीरों का एक रंग, अर्थात् हरित, हो जाना मात्र कहा है, पर दोनों के एक वर्ण हो जाने से कोई विशेष ध्वनि उक्त श्लोक से नहीं निकलती। बिहारी ने भी प्रथम दोहे में श्री राधिका जी की पीत आभा से श्री कृष्णचंद्र जी का हरित हो जाना कहा है। पर दोहे में 'हरित' शब्द ने, एक नया प्राण पिरो कर उसके भाव को श्लोक के भाव से कहीं अधिक चमत्कृत कर दिया है। 'हरित' शब्द से जो हरे भरे, अर्थात् प्रसन्न, हो जाने का व्यंग्यार्थ दोहे में झलकता है, वह बिहारी की निज प्रतिभा का प्रतिबिंब है। इसके अतिरिक्त, 'हरित' शब्द के 'हृत' अर्थ ने भी दोहे के चमत्कार को चौगुना कर दिया है। इसी प्रकार २३८ वें दोहे में श्री कृष्णचंद्र तथा श्री राधिका जी के, परस्पर आभा से, एकवर्ण हो जाने के वर्णन के साथ उनके एकत्र रहने तथा एक-वय एवं एक-मन के कथन ने दोहे के भाव को बहुत अधिक उच्च कर दिया है।

श्री गोवर्धनाचार्य जी की 'आर्यासप्तशती' की कई एक आर्याओं के भी भाव बिहारी के दोहों में दिखाई देते हैं। उन भावों में भी बिहारी ने अपनी प्रतिभा का चटकीला रंग चढ़ा दिया है। उदाहरणार्थ दो दो आर्याओं तथा दोहों के भावों का कथन नीचे किया जाता है।

स्वारथु, सुकृतु न, श्रमु वृथा, देखि, विहंग, विचारि।
बाज, पराएँ पानि परि, तूँ पच्छीनु न मारि॥३००॥

इस दोहे में—

आयासः परहिंसा वैतंसिकसारमेय तव सारः।
त्वामपसार्य विभाज्यः कुरंग एषोऽद्य नेत्रान्यैः॥ १०० ॥

इस आर्या का भाव दिखाई दे रहा है, पर, 'कुत्ते' के स्थान पर 'बिहंग' कहकर, बिहारी ने अपने दोहे का चमत्कार बढ़ा दिया है, क्योंकि यद्यपि 'सारमेय' शब्द भी साभिप्राय है, और कुत्ते की कुलीनता व्यंजित करता है, तथापि उसकी गति तथा पहुँच परिमित, भूमंडल ही तक है, और विहंग (विहायसा गच्छतीति विहंगः) की स्वच्छंद गति अपरिमित आकाश तक है; एवं 'विहंग की दृष्टि' भी बड़ी दूरदर्शिनी होती है। इस दूरदर्शिता के साथ 'देखि' शब्द का प्रयोग बड़ा ही समुचित हुआ है। इन बातों के अतिरिक्त 'पराएँ' तथा 'पच्छी' (पक्षी) शब्दों ने दोहे के भाव को बहुत ही उत्कृष्ट कर दिया है।

मोर-चंद्रिका स्याम-सिर चढ़ि कत करति गुमानु।
लखिबी पाइनु पर लुठति, सुनियतु राधा-मानु॥ ६७६ ॥

इस दोहे में श्री गोवर्धनाचार्य जी की—

मधुमथनमौलिमाले सखि तुलयसि तुलसि किं मुधा राधाम्।
यत्तव पदमदसीयं सुरभयितुं सौरभोद्भेदः॥
शंकरशिरसि निवेशितपदेति मा गर्वमुद्वहेन्दुकले।
फलमेतस्य भविष्यति तव चण्डीचरणरेणुमृजा॥

इन दोनों आर्याओं के भाव बिहारी ने आकर्षित कर लिए हैं, पर 'सिर चढ़ि' तथा 'पाइनि पर लुठति' लोकोक्तियों ने दोहे में जो चमत्कार उत्पन्न कर दिया है, वह आर्याओं से विशेष सरस तथा बिहारी के बाँटे की बात है।

'अमरुकशतक' के भी कई एक पद्यों का भाव बिहारी ने बड़ी सफलता से ग्रहण किया है। उनमें से निदर्शनार्थ एक दोहा लिखा जाता है।

मैं मिसहा सोयौ समुझि, मुहुँ चूम्यौ ढिग जाइ।
हँस्यौ, खिसानी, गलु गह्यौ, रही गरैं लपटाइ॥ ६४२ ॥

बिहारी के इस दोहे में 'अमरुकशतक' के—

> शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किंचिच्छनै-
> र्निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम् ।
> विस्रब्धं परिचुंब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं ।
> लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुंबिता ॥ ८२ ॥

इस श्लोक का भाव पूर्णतया झलक रहा है। इन दोनों पद्यों के भावों का एक हो जाना 'काकतालीयन्याय' किसी प्रकार भी नहीं कहा जा सकता। पर बिहारी ने अपने दोहे में अभीष्ट भाव के उपयुक्त आवश्यक बातें मात्र रक्खी हैं, और श्लोक के प्रथम चरण का भाव एवं अन्य कतिपय अनावश्यक शब्द सर्वथा छोड़ दिए हैं, जिससे दोहे में लाघव तथा सुघराई श्लोक की अपेक्षा अधिक आ गई है। 'मिसहा' के शब्द ने तो दोहे में बड़ा ही चमत्कार तथा जीवन का संचार कर दिया है।

बिहारी का—

> प्रगट भए द्विजराजकुल सुबस बसे ब्रज आइ ।
> मेरे हरौ कलेस सब केसव केसवराइ ॥ १०१ ॥

यह दोहा भी जान पड़ता है कि श्री गोवर्धनाचार्यजी की—

> यं गणयंति गुरोरनु यस्यास्ते धर्मकर्म संकुचितम् ।
> कविमहमुशनसमिव तं तातं नीलांबरं वंदे ॥

इस आर्या के अनुकरण पर बनाया गया है। उधर श्री गोवर्धनाचार्य जी ने आर्या में अपने पिता की वंदना की है, और इधर बिहारी ने अपने पिता से क्लेशनिवारण की प्रार्थना। रूपकालंकार की प्रधानता दोनों ही छंदों में है। गोवर्धनाचार्य जी ने, अपने पिता के नाम (नीलांबर) में अंबर (आकाश) शब्द पाकर, उनकी तुलना शुक्र से की है, और बिहारी ने अपने पिता का नाम 'केशव' होनेके कारण उनकी तुलना केशव भगवान से।

एक बात यहाँ ध्यान देने की है कि श्री गोवर्धनाचार्य जी ने अपने पिता की तुलना जो शुक्राचार्य से की है, उससे उनके पिता का एक महान्

कवि होना प्रतीत होता है। पर बिहारी ने जो अपने पिता की तुलना केशव भगवान् से की है, उससे उनका कोई बड़े कवि अथवा सिद्ध महात्मा होना व्यंजित होता है।

संस्कृत कोष तथा साहित्य के अतिरिक्त, बिहारी के कितने ही दोहों से उनका ज्योतिष तथा वैद्यक शास्त्रों में भी प्रवेश प्रतीत होता है। ज्योतिष के संबंध में उनके ४२, १०९, ६९०, ७०७ अंकों के दोहे द्रष्टव्य हैं, और वैद्यक के संबंध में १२०, ४७२ अंकों के दोहे।

संस्कृत के यथेष्ट विषयों के पंडित होने के अतिरिक्त, बिहारी के कितने ही दोहों से प्रतीत होता है कि, वे प्राकृत तथा अपभ्रंश के व्याकरणों तथा काव्यों के भी अच्छे ज्ञाता थे। उक्त भाषाओं के व्याकरणों का ज्ञान, गैन (गगन, गअन, गयन, गैन), कैम (कदंब कदम, कअम, कयम, कइम, कैम), नै (नदी, नई, नइ, नै), निय (निज, निअ, निय) इत्यादि शब्दों के प्रयोग से लक्षित होता है, क्योंकि ये रूप साहित्यक व्रजभाषा में सामान्यतः देखने में नहीं आते; पर प्राकृत तथा अपभ्रंश के व्याकरणों से सिद्ध होते हैं तथा ये अथवा इनके कोई पूर्व रूप उक्त भाषाओं में वर्ते भी जाते हैं। बिहारी का प्राकृत काव्यों का ज्ञान, उनके 'गाथासप्तशती' की कितनी ही गाथाओं के भावों को, अपनी प्रतिभा का विशेष चमत्कार देकर, दोहों में निबद्ध करने से सिद्ध होता है। निदर्शनार्थ समानभाव के दो दो दोहे तथा गाथाएँ यहाँ दी जाती हैं—

तीज-परब सौतिनु सजे भूषन बसन सरीर।
सबै मरगजे-मुँह करी इहीं मरगजैं चीर॥

यह दोहा—

हलफलहाणपसाहिआणं छणवासरे सवत्तीणम्।
अज्जाए मज्जणाणाअरेण कहिअं व सोहग्गम्॥

(उत्साहतरलत्वप्रसाधितानां क्षणवासरे सपत्नीनाम्।
आर्यया मज्जनानादरेण कथितमिव सौभाग्यम् ॥)

इस गाथा को देखकर अवश्य बनाया गया, पर बिहारी ने दोहे में 'मरगजे-मुँह करी' कहकर उसको गाथा से अत्यंत उत्कृष्ट कर दिया है। इसके अति-रिक्त जिस सुंदरता से अनेक अलंकार इस दोहे को चमत्कृति प्रदान कर रहे हैं, वह शोभा गाथा में नहीं दिखाई देती।

वाम बाँह, फरकति; मिलैं जौ हरि जीवनमूरि।
तौ तोहीं सौं भेटिहौं राखि दाहिनी दूरि ॥ ५७२ ॥

इस दोहे का भाव, गाथासप्तशती की—

फुरिए वामच्छि तुए जइ एहिइ सो पिओ ज्ज ता सुइरम्।
संमीलिअ दाहिणअं तुइ अवि एहं पलोइस्सम् ॥
(स्फुरिते वामाक्षि त्वयि यद्येष्यति स प्रियोऽद्य सत्सुचिरम्।
संमील्य दक्षिणं त्वयैवैतं प्रेक्षिष्ये—)

इस गाथा से लिया हुआ ज्ञात होता है। गाथा की उक्ति में वस्तुतः बड़ा अनूठापन है। पर प्रियतम के आगमन के समय एक आँख बन्द करके उसको देखना कुछ अस्वाभाविक, तथा अनुचित सा भी, अवश्य है। अतः गाथा का भाव तो बिहारी ने लिया, पर बाईं आँख के स्थान पर बाईं बाँह का फड़कना कहकर, और उसी को पुरस्कृत करने की प्रतिज्ञा कराकर, अपने दोहे को उक्त अस्वाभाविकता तथा अनौचित्य से बचा लिया, क्योंकि यदि बाईं बाहँ से भेटने में भी कुछ अनौचित्य हो तो भी, मिलनोत्सुकता में, इस बात पर ध्यान जाना कठिन है, कि नायिका ने पहले किस बाँह से भेंटा।[1]

---

१ खेद का विषय है कि कुछ दिनों से देव तथा बिहारी के पक्षपातियों की कुछ ऐसी दलबंदी हो गई है, कि एक पक्ष के लेखक बिहारी को, और दूसरे पक्ष के देव को, बिना विशेष विचार किए ही, भला बुरा कहा करते हैं

बिहारी ने ७०० दोहे बनाकर अपने ग्रन्थ का नाम सतसई रक्खा, उस से भी उनका गाथा तथा आर्या-सप्तशतियों का पढ़ना, तथा उन्हीं की जाड़ पर अपनी सतसई बनाना, अनुमानित होता है।

बिहारी के और भी अनेक दोहों के समानार्थक श्लोक इत्यादि, आर्या-सप्तशती, अमरुकशतक, गाथासप्तशती इत्यादि से उद्धृत करके, विद्वद्वर साहित्याचार्य श्री पं० पद्मसिंह जी शर्मा ने, अपने संजीवन भाष्य में, बड़ी योग्यतापूर्वक तुलनात्मक समालोचना की है। पाठक महाशयों को यह विषय विशेषतः उक्त ग्रन्थ में द्रष्टव्य है।

ऊपर जो बिहारी के कतिपय दोहों के समानार्थक संस्कृत श्लोक लिखे गए हैं तथा बिहारी के प्रयुक्त कुछ शब्दों तथा समासों पर टिप्पणियाँ की गई हैं, उनसे जैसा कि इसके पूर्व कहा गया है, बिहारी का भिन्न भिन्न विषयों का पांडित्य प्रमाणित होता है, और यह अनुमान होता है कि उनको कविता करने की अपेक्षा विद्योपार्जन का व्यसन अधिक था; कविता वे आवश्यकतानुसार कभी कभी किया करते थे। पर तो भी, सतसई के अतिरिक्त उनकी और स्फुट कविताओं अथवा किसी ग्रन्थ का प्राप्त न होना आश्चर्यजनक अवश्य है। यदि और कुछ नहीं तो, समय समय पर उन्होंने शाहजहाँ तथा आगरे के सरदारों इत्यादि के सुनाने को कुछ कविताएँ अवश्य ही बनाई होंगी, जैसा कि उनकी खानखानाँ वाली आख्यायिका के तीन दोहों से प्रमा-

---

जिससे इन दोनों ही कवियों की कविता पर धब्बा लगता है। स्मरण होता है कि कुछ दिन हुए किसी पत्रिका के किसी लेख में, बिहारी के इस दोहे की समालोचना करके, गाथा के भाव से दोहे के भाव को निकृष्ट ठहराया गया था। इसका उत्तर एक इसी प्रश्न से हो जाता है, कि प्रियतम के शुभ आगमन के समय कानी बनकर सामने खड़ा होना अच्छा है, अथवा उसको बाहें बाहें से भेटना। यह स्मरण रखना चाहिए कि, किसी शुभ कार्य के समय कानी स्त्री का सामने आना बड़ा असगुन माना जाता है।

णित होता है। यदि उन स्फुट कविताओं का भी कोई संग्रह होता, तो आशा है कि न्यून से न्यून सतसई के बराबर का उनका एक ग्रन्थ और भी होता। पर, 'बिहारी-रत्नाकर' में स्वीकृत दोहों तथा कतिपय अन्य दोहों के अतिरिक्त, जो सतसई के भिन्न भिन्न क्रमों तथा टीकाओं में बिहारी के नाम से दृष्टिगोचर होते हैं, उनकी और कोई रचना प्राप्त नहीं होती। अतः यह अनुमान युक्ति-युक्त जान पड़ता है कि वे समय समय पर कुछ स्फुट कविता तो अवश्य करते रहे, पर उनके हृदय में एकसुश्रृंखल तथा प्रयोगसाम्य साहित्यिक ब्रज-भाषा का ढाँचा स्थिर करने की उत्कंठा बनी रहती थी। यह कार्य बड़ा कठिन तथा समयसाध्य था, जिसको वे, अपने संतोष के योग्य, कदाचित् अपने आमेर जाकर टिकने के कुछ ही पूर्व, कर पाए। उक्त कार्य में इतना समय लग जाना कोई आश्चर्य नहीं था। श्री पाणिनि जी ऐसे महर्षि के भी जीवन का बड़ा भाग ऐसे ही कार्य में लग गया था, यद्यपि उनकी सहायता के निमित्त उनके पूर्व के अनेक संस्कृत व्याकरण उपस्थित थे। बिहारी के लिये तो, जहाँ तक ज्ञात होता है, कोई ऐसा सहायक साधक भी नहीं था। वे भाषा का यथेष्ट ढाँचा बनाने में कहाँ तक कृतकार्य हुए, इसका अनुमान पाठकगण, जो कुछ उनके दोहों की भाषा के विषय में लिखा गया है, उससे कर सकते हैं। ज्ञात होता है कि जब उनके हृदय में उक्त ढाँचा बनकर तैयार हो गया, तो अपनी पूर्व रचनाओं की भाषा को उन्होंने उससे न्यूनाधिक विचलित पाकर, उनको दबा रक्खा, और विख्यात न होने दिया। कारण जो हो, इस समय तक सतसई के अतिरिक्त बिहारी का और कोई ग्रंथ उपलब्ध नहीं हुआ है। हाँ, एक 'दूहा संग्रह' नामक १५-१६ सौ दोहों के ग्रंथ का जोधपुर में होना सुना जाता है, और यह भी ज्ञात हुआ है कि उसमें से कुछ दोहे बिहारी की सतसई के हैं। इससे यह अनुमान हो सकता है कि आश्चर्य नहीं, जो उक्त ग्रंथ सर्वथा बिहारी ही के दोहों का संग्रह हो, क्योंकि देवकीनंदन टीका में भी बिहारी की स्त्री का १४०० दोहा बनाना माना गया है। हमको स्वयं उक्त ग्रन्थ देखने का सौभाग्य नहीं हो सका।

संवत् १६७७-७८ से संवत् १६९१ तक बिहारी मथुरा, वृन्दावन तथा आगरे में, यथारुचि और यथावसर, रहकर अपनी विद्या की उन्नति करते रहे। इस अंतराल में वे प्रति वर्ष उन राजाओं में से, जिन्होंने उनका वर्षाशन नियत कर दिया था, दस बीस के यहाँ जाकर धनोपार्जन कर लाया करते थे। जोधपुर तथा बूँदी इत्यादि में जो उनका जाना सुना जाता है, वह भी संगत प्रतीत होता है, क्योंकि संभवतः वहाँ के राजा भी उक्त ५२ राजाओं में रहे होंगे। इन यात्राओं में बिहारी को ४—६ बेर आमेर जाने का अवसर भी मिला होगा।

एक बेर संवत् १६९१ के अंत, अथवा संवत् १६९२ के आरंभ, में बिहारी अपना वर्षाशन लेने आमेर गए। उस समय वहाँ के महाराज, जयसिंह, कोई नवीन रानी ब्याह लाए थे, और उसके सौंदर्य तथा वयःसंधि की छटा पर ऐसे मुग्ध हो रहे थे कि रात दिन उसी के महल में पड़े रहते थे, और राजकाज सर्वथा भूल गए थे। सुनने में तो यहाँ तक आया है, कि उन्होंने यह आज्ञा फेर दी थी कि, जो कोई किसी राज-काज की चर्चा से हमारे रंग में भंग डालेगा, उसका अंग भंग कर डाला जायगा। फिर भला किसका साहस था कि उनको कुछ चितावनी देता। उनके मंत्री, कर्मचारी, तथा सभासद बहुत चिंतित थे, पर कर कुछ नहीं सकते थे। उनकी मुख्य महारानी अनतकुमारी नाम्नी, जो करौली के एक सरदार दयामदास चौहान की पुत्री थीं और चौहानी रानी कहलाती थीं, उस समय गर्भवती थीं। उनको भी महाराज के इस प्रकार नवीन रानी के फंदे में फँसने का बड़ा दुःख था, क्योंकि एक तो सौतिया डाह और दूसरे राजकाज की हानि।

बिहारी ने वहाँ पहुँचकर बहुत उद्योग किया कि उनका समाचार राजा तक पहुँचे, पर किसी का साहस राजा से उनके आगमन के वृत्तांत के जनाने का न पड़ा। अतः महीनों तक वहाँ बिहारी टिके रहे। आमेर गढ़ के पास ही ब्रह्मपुरी नाम की ब्राह्मणों की एक बस्ती थी, जो कि अब भी उसी नाम से जयपुर के पास ही विद्यमान है। उस समय उसमें आमेर राज्य के

आश्रित कई एक कवि रहा करते थे; बिहारी ने भी अपना डेरा वहीं पर जमाया, कि कदाचित् राजा चेत कर बाहर निकल आवे, तो इतनी दूर का आना निष्फल न जाय।

बिहारी का आगमन सुनकर, महाराज के शुभचिंतक मंत्रियों, कर्मचारियों तथा चौहानी रानी जी ने, जो कि बड़ी चतुर थीं, विचारा कि यह बादशाह का दरबारी कवि है, और स्वयं बादशाह का कृपापात्र तथा स्तुत है, अतः यदि यह कोई चितावनी महाराज को देने का साहस करे तो कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि रुष्ट होने पर भी महाराज इसको कदाचित् दंड देना उचित न समझेंगे। इस विचार से राज्य के मुख्य मंत्रियों तथा कर्मचारियों ने, आमेर गढ़ की विनायक पौरि के सामने के दालान में, एक बैठक की, और एक लाल ढाल वाला मिरदहा भेजकर, परामर्श के निमित्त, बिहारी को वहाँ बुलवा भेजा। उनके वहाँ पहुँचने पर, मुख्य मंत्री जी ने बड़े सन्मान से आगे बढ़कर उनका स्वागत किया, और उक्त गोष्ठी में आसन देकर, सब वृत्तांत सुनाने के पश्चात् कहा—यदि आप महाराज को कोई चितावनी देने का साहस करें तो बड़ा काम हो, क्योंकि राजकाज में बड़ी हानि पहुँच रही है। महाराज के बाहर निकलने से चौहानी रानी जी भी आपसे बहुत प्रसन्न होंगी।

बिहारी जी कवि तो थे ही, जिन बातों पर उन लोगों ने महीनों में विचार किया था, वे उनके हृदय में क्षणमात्र में घूम गईं। अतः उन्होंने आगा पीछा सोचकर कहा, कि यदि आप लोग मेरा एक दोहा तथा मेरे आने का समाचार राजा तक पहुँचवाने का साहस करें तो मैं चितावनी देने को तैयार हूँ। मुझे पूर्ण आशा है कि राजा मेरा दोहा पढ़कर अवश्य बाहर निकल आवेगा, और यह तो मैं दृढ़तापूर्वक कह सकता हूँ कि इसमें आप लोगों की कोई हानि कदापि न होगी। इस पर उन लोगों ने बिहारी का दोहा राजा के पास पहुँचवाना स्वीकृत किया। बस फिर बिहारी ने—

"नहिं परागु नहिं मधुरु मधु नहिं बिकासु इहिं काल।
अली, कली ही सौं बँध्यौ आगैं कौन हवाल" ॥ ३८॥

यह दोहा लिखकर एक वर्षधर (ख़्वाजेसरा) को दिया, और उसने उसको ड्योढ़ी पर ले जाकर किसी परिचारिका के हाथ राजा के पास पहुँचवा दिया।

इधर तो ये लोग दोहा भेजकर बड़ी उत्सुकता से परिणाम की प्रतीक्षा करने लगे, उधर जब राजा के पास दोहा तथा बिहारी के आने का संवाद पहुँचा, तो दोहे के सरस अन्योक्तिगर्भित उपदेश की छींट से उसकी आँखें खुल गईं; और फिर शाहजहाँ के ध्यान के धक्के तथा राजकाज की चिंता से उसका प्रेमोन्माद एकाएक उतर गया। अब तो उसने यह सोचा, कि यदि बिहारी यहाँ से मेरी यह दशा देखकर निरादरपूर्वक लौट जायँगे तो मेरे लिये अच्छा न होगा। अभी राज्य को ख़ालसा से छूटे थोड़े ही दिन हुए हैं। मेरी इस स्त्रैणता का वृत्तांत बादशाह के कानों तक पहुँचने पर, सो भी एक कवि के मुख से, न जाने क्या आपत्ति आवे। दोहे के 'आगैं कौन हवाल' पद के गूढ़ार्थ का भी उस पर यथेष्ट प्रभाव पड़ा, और उसने यह सोचा कि बिहारी को तुष्ट कर लेने ही में कुशल है। बस वह उक्त कागज तथा पसर भर स्वर्ण मुद्राएँ लिए हुए रंगमहल से बाहर निकल आया, और बिहारी को बुलाकर, उनकी बड़ी प्रशंसा कर और स्वर्ण मुद्राएँ दे, कहने लगा कि हम आपसे बहुत प्रसन्न हुए।

एक तो बिहारी की कविता मनोहारिणी होती ही थी, दूसरे जयसिंह बड़ा दूरदर्शी, नीतिकुशल तथा अवसरज्ञ था, जैसा कि उस समय के इतिहासों से विदित होता है। अतः उसने यह सोचकर कि, यदि बिहारी कुछ दिनों यहाँ अटक रहे तो अच्छा है, यह भी कहा कि आपका दोहा बड़ा उत्तम है; आप ऐसे ही और दोहे बनाएँ; प्रति दोहा मैं एक मोहर आपको भेंट करूँगा।

जब राजा के बाहर निकल आने का समाचार चौहानी रानी ने सुना, तो वे बड़ी प्रसन्न हुईं और बिहारी को अपनी ड्योढ़ी पर बुलवाकर बहुत कुछ पारितोषिक तथा काली पहाड़ी ग्राम प्रदान किया, और कहा कि, आप हमारी ड्योढ़ी के कवि होकर आमेर में निवास करें। उन्होंने उक्त घटना-संबंधी बिहारी का एक चित्र भी बनवाया, जो कि अभी तक जयपुर के एक महल में विद्यमान है। उस चित्र से उक्त घटना का समाचार सं० १६९२ का प्रतीत होता है, जैसा कि ऊपर कहा गया है। उधर तो राजा ने उनसे और दोहे बनाने का अनुरोध किया था, और इधर रानी ने उनका यथेष्ट सम्मान करके वहाँ रहने का आग्रह किया। इसके अतिरिक्त आमेर के मंत्रियों तथा कर्मचारियों में भी बिहारी का विशेष आदर सत्कार होने लगा, और उनको जो ग्राम मिला, उसकी देखभाल के निमित्त भी कुछ दिनों सन्निकट रहना अभीष्ट था। अतः बिहारी आमेर में कुछ दिनों ठहरना निश्चित कर ब्रह्मपुरी में रहने लगे, क्योंकि उस समय आमेर में कई एक कवि—सुंदर, चतुरलाल, मंडन, गंग, गोपाललाल, मुकुंद इत्यादि—थे, और वे कदाचित् ब्रह्मपुरी ही में रहते थे।

उक्त घटना के दो ही तीन महीने पश्चात्, चौहानी रानी के गर्भ से महाराज जयसिंह के उत्तराधिकारी, कुमार रामसिंह जी, उत्पन्न हुए। उस अवसर पर अनेक कवियों ने महाराज जयसिंहजी की प्रशंसा में कविताएँ कीं। बिहारी ने भी यह दोहा पढ़ा—

> चलत पाइ निगुनी गुनी धनु मनि-मुत्तिय-माल।
> भेंट होत जयसाहि सौं भागु चाहियतु भाल ॥ १५६ ॥

फिर उक्त अवसर के उपलक्ष्य में, महीने दो महीने के पश्चात्, कोई बड़ा दरबार 'दर्पण-मंदिर' में हुआ। उसमें बिहारी ने महाराज जयसिंह की शोभा का वर्णन इस दोहे में, किया—

प्रतिबिंबित जयसाहि-दुति-दीपति दरपन-धाम।
सब जगु जीतन कौं कर्‌यौ काय-व्यूहु मनु काम ॥ १६७ ॥

इसी बीच में ज्ञात होता है कि किसी 'लाखन' नामक व्यक्ति की सेना को जयसिंह ने मार भगाया था, जिस पर विहारी ने यह दोहा बनाया था—

रहति न रन, जयसाहि-मुखु लखि लाखनु की फौज।
जाँचि निराखरऊँ चलै लै लाखनु की मौज ॥ ८० ॥

इसी प्रकार विहारी समय समय पर दोहे बनाते, और पुरस्कृत होते रहे। समयानुकूल दोहों के अतिरिक्त, वे और भी ५-५, ७-७ दोहे बनाकर दरबार में ले जाते, और मोहरें लाकर सुख से जीवन व्यतीत करने लगे।

इस प्रकार विहारी का जीवन आठ दस वर्ष तक बड़े सुख से अन्य कवियों के संग संग व्यतीत हुआ। जान पड़ता है, सं० १७०० के कुछ पूर्व ही कुमार रामसिंह जी का विद्यारंभ हुआ। चौहानी रानी के पूज्य विहारी हो ही रहे थे, अतः उन्हीं के द्वारा यह शुभ कार्य कराया गया। उस समय विहारी को बहुत कुछ दान दक्षिणा मिली। संभव है कि 'काली पहाड़ी' नामक ग्राम पहले न मिलकर इसी अवसर पर मिला हो। उसके वर्ष दो वर्ष पश्चात् कुमार रामसिंह जी के पढ़ने के निमित्त विहारी ने एक दोहों का संग्रह बना दिया। उस समय तक सतसई पूरी नहीं हुई थी। अतः उन्होंने उक्त संग्रह में ४९१ दोहे तो अपने रखे, और थोड़े थोड़े अन्य कवियों के। यह वही संग्रह था, जिसकी अनुलिपि हमारी प्रथम अंकवाली पुस्तक है।

अनुमान होता है कि इस अंतराल में विहारी ने अपनी स्त्री को भी आमेर में बुलवा लिया था। विहारी के वंशजों से ज्ञात हुआ है कि विहारी को स्वयं अपनी संतान कोई नहीं थी, अतः उन्होंने अपने भाई के एक 'निरंजन' नामक पुत्र को अपना लिया था। उक्त पुत्र भी कदाचित् विहारी के पास ही रहता था। विहारी के एक वंशज श्री पं० अमरकृष्णजी के पत्र से तो उक्त पुत्र का नाम निरंजन होना प्रमाणित होता है, पर जो कि

किंवदंतियाँ सुनी जाती हैं उनमें विहारी के पुत्र का नाम 'कृष्णलाल' कहा जाता है। संभव है कि उक्त पुत्र का नाम 'निरंजनकृष्ण' रहा हो, जिससे उसको कोई 'निरंजन' और कोई 'कृष्ण' कहता रहा हो। यह अनुमान इस बात से भी पुष्ट होता है कि विहारी के कई एक वंशजों के नामों के अंत में 'कृष्ण' शब्द आया है, जैसे—बालकृष्ण, गोकुलकृष्ण, अमरकृष्ण इत्यादि।

ज्ञात होता है कि बिहारी कभी कभी अपने प्राप्त ग्राम 'काली पहाड़ी' भी जाया आया करते थे, क्योंकि एक तो कुछ प्रबंध करना होता था, और दूसरे वह उनकी जन्मभूमि के सन्निकट था। इन्हीं यात्राओं में कदाचित् ग्राम-वधूटियों के भाव देखकर उन्होंने समय समय पर उनका वर्णन भी अपने दोहों में कर दिया है, जैसे—९३, २४८, ७०८ इत्यादि अंकों के दोहों में। यह भी प्रतीत होता है, कि ग्वालियर इत्यादि में उनकी कविता का सन्मान अधिक नहीं होता था। यह बात उनकी कई एक अन्योक्तियों से लक्षित होती है।[1]

विहारी का गाथासप्तशती तथा आर्यासप्तशती का ज्ञाता होना तो ऊपर कहा ही जा चुका है। कुछ दोहों के बनने के पश्चात् या तो उन्होंने स्वयं ही उक्त सतसइयों के जोड़ पर एक सतसई बनाना निश्चित किया, अथवा महाराज जयसिंह जी के कहने से। जो कुछ हो, सतसई-निर्माण पर उनका लक्ष्य होना इस दोहे से विदित होता है—

हुकुम पाइ जयसाहि कौ हरिराधिका-प्रसाद।
करी बिहारी सतसई भरी अनेक सवाद॥ ७१३॥

संवत् १७०४ के जाड़ों में, ज्ञात होता है कि; उन्होंने अपनी संकलित सतसई पूरी कर दी। उसी साल महाराज जयसिंह औरंगजेब के साथ बलख़ की चढ़ाई पर गए थे, और वहाँ से बड़ी चतुरता तथा वीरता से बादशाही सेना को पठानों तथा बर्फ से बचा लाए थे, जैसा कि 'यौं दल काढ़े०

---

१ देखिए बिहारी रत्नाकर दोहे अंक ४:८, ६२४।

७११' इस दोहे की टीका में कहा गया है। उक्त कार्य के निमित्त उनको आगरे आने पर बड़ा सन्मान प्राप्त हुआ था। आमेर लौटने पर, उनके ऐसी कठिन चढ़ाई पर से सकुशल लौट आने तथा बादशाही दरबार में विशेष रूप से सम्मानित होने के उपलक्ष्य में, बड़ा उत्सव मनाया गया, और कोई दरबार भी किया गया। 'बिहारी-सतसई' के 'हुकुम पाइ०' दोहे को मिलाकर ७१० दोहे तैयार हो चुके थे, अतः उन्होंने उक्त घटना की प्रशंसा के—

सामाँ सेन, सयान की सबै साहि कैं साथ।
बाहु-बली जयसाहि जू, फतै तिहारैं हाथ॥ ७१०॥

यौं दल काढ़ बलक तैं, तैं जयसिंह भुवाल।
उदर अघासुर कैं परैं ज्यौं हरि गाइ, गुवाल॥ ७११॥

घर घर तुरकिनि हिंदुनी देति असीस सराहि।
पतिनु राखि चादर, चुरी तैं राखी, जयसाहि॥ ७१२॥

ये तीन दोहे बनाकर, और उनको 'हुकुम पाइ० ७१३' इत्यादि दोहे के पूर्व रखकर, कदाचित् उक्त दरबार ही में अपनी सतसई, ग्रन्थ रूप से, महाराज को भेंट कर दी।

अनुमान से जान पड़ता है, कि, इस घटना के कुछ पूर्व ही, बिहारी की स्त्री का देहांत हो गया था, जिससे उनका चित्त संसार से कुछ विरक्त सा हो रहा था। एक तो वे आरंभ ही से वृन्दावन के भक्त थे, और दूसरे उस समय की चित्त-वृत्ति ने उनका हृदय वृन्दावन की ओर और भी आकर्षित किया। अतः वे महाराज से विदा होकर आमेर से चले आए।

यदि निरंजन जी तथा कृष्णलाल कवि के एक ही होने का अनुमान युक्त माना जाय, तो एक कृष्ण कवि के विषय में जो बिहारी के पुत्र होने की किंवदंतियाँ प्रायः सुनी जाती हैं, वे ठीक ठहरती हैं। पर यह स्मरण रखना चाहिए कि, इस नाम से धोखा खाकर, जो प्रायः लोगों ने, सतसई की कवित्तोंवाली टीका के कर्ता कृष्णदत्त को बिहारी का पुत्र मान लिया है, यह

सर्वथा भ्रम है। बिहारी के पुत्र यदि कोई कृष्ण कवि हो सकते हैं, तो वे ही सकते हैं, जिनकी सतसई पर गद्य टीका है। निरंजन जी तथा कृष्णलाल जी दोनों व्यक्तियों के एक ही होने के अनुमान के अवलंब पर, हम कुछ और बातें भी यहाँ लिखना अनुपयुक्त नहीं समझते।

जान पड़ता है, कि आमेर से चलते समय बिहारी ने अपने पोष्य पुत्र को जयसिंह तथा रामसिंह जी के पास छोड़ दिया था, जो कि कुछ दिनों के पश्चात् उन लोगों के द्वारा बादशाही दरबार तक भी पहुँच गए, जैसा कि इनके औरंगजेब की प्रशंसा के कवित्त बनाने से प्रतीत होता है। बिहारी के जीवनकाल ही में उन्होंने कदाचित् कुमार रामसिंह जी के अनुरोध से बिहारी सतसई की एक गद्य टीका भी रची। इसकी समाप्ति का समय इस दोहे से –

> संवत ग्रह ससि जलधि छिति छठि तिथि बासर चंद।
> चैत मास पख कृष्न में पूरन आनँदकंद॥

संवत् १७१९ की चैत्र कृष्ण ६ सोमवार ठहरता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि मासों के सामान्य-मान-प्रचार के अनुसार इस दोहे में दी तिथि तथा वार का मिलान नहीं होता, पर अमांतमास के मान से मिलान हो जाता है। अमांतमास मान की गणना से सामान्य चैत्र कृष्ण वैशाख कृष्ण होता है। यह दोहा सतसई की समाप्ति का न होकर उक्त टीका की समाप्ति का है, यह हम अन्यत्र कह चुके हैं।

किसी किसी का यह भी कथन है कि बिहारी आमेर से बिदा होने पर जोधपुर, बूँदी इत्यादि राज्यों में भी गए थे, और बहुत संभव है कि उन्होंने वर्षाशन के उगाहने के निमित्त ऐसा किया हो। पर, जो हो, यह निश्चित प्रतीत होता है कि वे आमेर छोड़कर, चाहे सीधे चाहे और राज्यों में घूमते फिरते, अपने गुरु श्री नरहरि जी के पास वृन्दावन गए, और अपना शेष जीवन वहीं शांतिपूर्वक भगवद्भजन में व्यतीत करके, संवत् १७२१ में परमधाम को सिधारे।

श्री वृन्दावन धाम में निवास करते समय मथुरा में उनसे जोधपुराधीश, महाराज श्री जसवंतसिंह जी, से भी भेंट हुई थी, जिसका विवरण साहित्याचार्य स्वर्गीय श्री पं० अंबिकादत्त जी व्यास ने यों दिया है—"बिहारी कवि भ्रमण करते हुए श्री मथुरा में आए। दैवात् इस समय वहाँ जोधपुर के महाराज श्री जसवंतसिंह बहादुर भी आए थे। (जसवंतसिंह ने सं० १६९५ से सं० १७३६ तक राज्य किया था।) महाराज ने बहुत दिनों से उनकी प्रशंसा सुनी थी, और बिहारी ने भी 'भाषाभूषणकार' जसवंतसिंह की चिरकाल से कीर्ति सुनी थी। दोनों को परस्पर मिलने की उत्कंठा थी। यहाँ भेंट होने से दोनों को बड़ा आनंद हुआ। महाराज ने कहा "थारी कविता में लूनों लाग गयो।" अर्थात् तुम्हारी कविता में कीड़े पड़ गए, घुन लग गए, जीव पड़ गए, इत्यादि। बिहारी कुछ न समझे घर चले आए। बिहारी की बेटी* बड़ी बुद्धिमती थी। उसने उदास पिता को देख विचारपूर्वक कहा कि 'इसका यह तात्पर्य विदित होता है कि आपकी कविता सजीव है।' दूसरे दिन बिहारी ने यह अर्थ महाराज को सुनाया, तो वे प्रसन्न हुए और कहा कि मैंने इसी तात्पर्य से कहा था।"

किसी किसी का यह भी अनुमान है कि जसवंतसिंह जी का भाषाभूषण नामक ग्रंथ बिहारी ही का रचित है। यद्यपि 'भाषाभूषण' के दोहे बड़े ही उच्चकोटि के, तथा रचनालाघव के आदर्श, कहे जा सकते हैं, एवं उनकी भाषा भी बहुत ही सुधरी हुई है, तथापि जो टकसाल बिहारी ने अपनी भाषा के लिये स्थापित की थी, उससे प्रायः उसकी भाषा बाहर हो जाती है। इससे यदि वह बिहारी-रचित हो भी तो सतसई के पश्चात् का तो हो नहीं सकता; पर हाँ, यदि सतसई के पूर्व का हो तो ईश्वर ही जाने।

खेद का विषय है कि जिस प्रकार बिहारी की सतसई के पूर्व की कोई रचना नहीं मिलती, उसी प्रकार उसके पश्चात् की भी कोई कृति देखने में

---

* बिहारी के किसी बेटी का होना और किसी भी ग्रंथ से प्रकट नहीं होता।

नहीं आती। ज्ञात होता है कि वृंदावननिवास करने पर विहारी सर्वथा भगवद्भजन तथा महात्माओं के सत्संग में लगे रहते थे। कविता का व्यसन उन्होंने सर्वथा छोड़ दिया था। हमने स्वयं वृन्दावन जाकर श्री मौनीदास जी की टट्टी इत्यादि स्थानों में खोज की, पर उनकी किसी कविता का कहीं कुछ पता नहीं मिला। इधर उधर से कुछ बातें एकत्रित करके, उन पर अनुमान को अवलंबित कर यह जीवनी सुश्रृङ्खल रूप में लिखने का यत्न किया गया है। इसमें अनेक त्रुटियों तथा अशुद्धियों की संभावना है।